

तीर्थकर

लेखक—

धर्मदिवाकर सुमेरुचन्द्र दिवाकर

न्यायतीर्थ, शास्त्री, डी. ए., एल-एल. डी.

सिवनी (म. प्र.)

[चारिन्द्र-चक्रवर्ती, जैनशासन, तात्त्विकचिन्तन, निष्ठारिणभूमि
सम्बोधशिखर, Religion & Peace, जैन शासन का मर्म,
अध्यात्मशाद की मर्यादा, लैद्वातिक चर्चा आदि के लेखक,
भगवान् व उपादक, मूलपूर्व सम्पादक “जैनगजट”]

मंगल-स्मरण

स्थृतयं च वंदे चउवीसजिणे च सद्बदा वंदे ।
पंचगुरुण् वंदे चारण-चरणं सथा वन्दे ॥

“मैं सर्वदा सम्यग्दर्शन, सम्यकज्ञान, सम्यक्चारित्र रूप रक्षय की वंदना करता हूँ। मैं चौबीस तीर्थकरों को सदा प्रणाम करता हूँ। मैं अरहत, सिङ्ग, आचार्य, उपाध्याय तथा सर्वसाधु रूप पंच गुरुओं की सदा वंदना करता हूँ। मैं चारण ऋद्धि मुनीश्वरों के चरणों को सदा प्रणाम करता हूँ।”

+ + +

सयलभुवणेककणाहो लिथयरो लोमुदीव कुंदना ।
धत्रलेहिं चामरेहिं चउसट्टिहि नीज्जमाणो सो ॥

जो सम्पूर्ण विश्व के अद्वितीय अधिष्ठित हैं तथा जिन पर चंद्रिका अथवा कुंद पुष्प सहश धवल चौसठ चामर ढुराए जाते हैं, वे तीर्थकर भगवान हैं।

+ + +

धर्मतीर्थकरेभ्योस्तु स्याद्वादिभ्यो नमोनमः ।
ऋग्भादि-महाकीरन्तेभ्यः स्वात्मोपलब्धये ॥

अनेकांत वाणी द्वारा तत्त्व-प्रतिपादक, धर्मतीर्थ के प्रणेता ऋषभदेव आदि महाकीर पर्यन्त चौबीस तीर्थकरों को आत्म स्वरूप की प्राप्ति के हेतु मेरा बारम्बार नमस्कार हो।

+ + +

लोकसुज्जोयये धर्म-तिथ्यकरे जिणे वंदे ।

मैं लोक के प्रकाशक, धर्म तीर्थकर जिन भगवान को प्रणाम करता हूँ।

+ + +

ॐ हीं श्रीमते अहंते धर्मसाम्राज्यनायकाय नमः ।

अनुक्रम

तीर्थकर

१-१७

तीर्थ का स्वरूप, तीर्थकर शब्द का प्रयोग,
स्वधन रूप सोलह भावनाएँ, तीर्थकर प्रवृत्ति के बंधक,
भिन्न दृष्टि, सम्यादर्शन तथा दर्शनविगुण भावना में
भेद, वंच कल्पालक वाली तीर्थकर, तीर्थकर भक्ति।

जन्म-कल्पाणक

१८-३३

जन्मपुरी का सौन्दर्य, रजवृष्टि, सुषाङ्गनाओं
द्वारा माता की सेवा, अयोध्या का सैमान्य, स्थम-
दर्शन, देवियों का कार्य, गम्भीर प्रभु का वर्णन।

जन्म-कल्पाणक

३४-५८

पुण्य वाहावरण, ऐरावह, मेह पर पहुँचना, भेद
वर्णन, पांडुक शिला, जन्माभिषेक, अलुलवज्ज, आभिषेक
की लोकोत्तरता, गन्धोदक की पूज्यता, भगवान के
आलंकार, प्रभु का जन्मपुरी में आश्रम, माता-पिता
का आनन्द, माता-पिता की पूजा का भाव, पिता भेद
पर क्यों नहीं सये, जन्मपुरी में उत्सव, भगवान के जीवन
की लोकोत्तरता, तीर्थकरों में समानता का कारण,
अतिशय, श्वेत रक्त, शुभ लक्षण, अर्पूर्व आश्यात्मिक
प्रभाव, तीर्थकर के चिन्ह, कुमार अवस्था, प्रभु की
विशेषता, इन्द्र का ननोगत, प्रभु का तारुण्य, वंच वाल-
यति तीर्थकर, भरत जन्म, बाहुदली, आदिनाथ प्रभु
का शिरो-प्रेम, जिन संदिग्ध का निर्माण, वर्ण-व्यवस्था,
राष्ट्राभिषेक, शासन पद्धति, इन्द्र की चिन्ता।

तप-कल्पाणक

८९-१४५

काल लव्यि, सिंह का भाव, लौकांतिकों द्वारा
वैराम्य समर्थन, दीक्षा कल्पाणक का आभिषेक, दीक्षा-
पालकी, तपोवन, दीक्षाविधि, केशलोच, महामैन वत,

(८)

निश्चय हाटि, वहिदीषि, जीवन द्वारा उपदेश, आध्या-
त्मिक साधना में निमग्नता, आत्मज्ञान, मनः पर्यं-
शान, बीतराग दृढ़ि, स्वात्मलभी-जीवन, मोक्ष पथ,
दीर्घ तपस्या, चालुतय का साधनपना, ऋषियों की प्राप्ति,
कायवल्लेश की सीमा, अंतराय का उदय, हस्तिनापुरी
में आगमन, श्रेवास राजा का स्वप्न, इन्द्रुरस का दान,
दान-तीर्थीकर, पारखा का काल, निमित्त कारण,
वया दुध रुद्रोष है, दान का पल, सत्पात्र दान,
अनुमोदना का फल, अधर्म से पतन, सत्पुरुषों की
गिरा ते पाप, चेतावनी, निदनीय प्रवृत्ति, शरीर निश्रह
द्वारा आनंदिति, भगवान की दृढ़ि, प्रभु का भोह रे
चुर, अंतर्युद, चौरामोह गुणस्थान, विचारणीय विषय,
धार्तिदात्रय का व्य, मार्मिक समीक्षा, जैनविचार,
केवलज्ञान का समय, अहंतपद।

शान्त-कल्याणक

१४६-२३६

सभवशरण, मानस्तंभ रूप विजय स्तम्भ,
द्वादश समा, श्री मंडप, पीठिका, गंधकुटी, सिंहासन,
मंडल रचना, इन्द्र द्वारा सुन्दरि, समवशरण का
प्रभाव, वाणिकाओं का अमलार, त्वृप, भव्यकृष्ट,
लम्बवशरण की सीढ़ियाँ, जन्म के आतिशय, दया का
प्रमाव, चतुरानन्दने का रहस्य, देवकृत आतिशय,
कमल रचना, विहार की मुद्रा, धर्मचक्र, ग्रातिहार्य,
पुष्पधर्षी, दुर्दुभिनाद, चमर, छत्र, दिव्यध्वनि,
शृशोक तथ, सिंहासन, प्रभमंडल, सार्वीष नामाची-
भाषा, लोकोत्तर वास्ते, अनद्वारात्मक ध्वनि, दिव्य-
ध्वनि का काल, तीर्थीकर के गुण, निविकार-मुद्रा,
अहंत की प्रसिद्धि, अरिहंत का वाच्यार्थ, अरिहंत
एवं अरहंत, रमोकार गंव का प्राचीन उल्लेख,
चाहदत्त की कथा, रत्नब्रयरूप त्रिशूल,
उत्तम का अर्थ, प्रशस्त राश, जिनभक्ति, नव-
लाभिधवाँ, मोगोपमोग का रहस्य, अनन्त शक्ति का
हेतु, गणधर के विना भी दिव्यध्वनि, भरत वक्रवर्ती

द्वारा त्रिशहस्र, दूनमसेन यण्ठर, ब्राह्मी पर्वं अत-
कीर्ति, प्रियव्रताः अनंतवीर्य का सर्वं प्रथम मोक्ष, भरत
का अपूर्वं भास्म, द्वाषशांग शुत की रक्षना, दृष्टिवाद
का अंग प्रथमानुयोग, आत्मप्रवादं पूर्वं, विद्यानुवाद
का प्रमेय, दिव्यच्छन्नि, समवशरणं का वित्तार, समव-
शरणं के बिहार के स्थान, उमवशरणं में प्रसु का
आशन, विद्यि स्वप्न दर्शन, योगनिरोधकाल,
समुद्रवाता, आल्प की लोक क्यापकता, अंतिम शुक्र
व्यान, तिज अमुक्त भी हैं ।

निर्वाण-कल्याणक

२४०—२८६

सिद्धालय का स्वरूप, सिद्धों की अवगाहना,
ब्रह्मलोक, सिद्ध का अर्थ, सिद्धालय में निर्गोदिया
का सद्वाल, सिद्धों द्वारा लोक कल्याण, पुनरागमन
का अभाव, परम समाधि में निःसन्नता, सम्पत्ता,
अद्वैत अचरण, भरत का भोइ, समाधिमरण शोक
का हेतु नहीं, शरीर का अंतिम संस्कार, अनित्य
की स्थापना, अंत्य-इठि का रहस्य, निर्धारण स्थान
के चिह्न, निर्वाणभूमि का सहत्व, आचार्य शांति-
सागर गढ़राज का अनुभव, निर्वाण और गृह्य का
भेद, निर्वाण अवश्य, तुल की कल्पना, सिद्ध
सतिमा, निर्वाण पद और दिगम्बरत्व ।



प्रस्तावना

पुरातन भारत के इतिहास का पर्यवेक्षण करने पर यह शाह होगा कि वहाँ अमरण और वैदिक संस्कृति रूप द्विविध विचार धाराएँ निश्चिनान थीं। अमरण शब्द द्वारा जैन तथा बौद्ध विचारधाराओं को प्रहण किया जाता है। किन्तु बौद्ध विचार धारा की प्रामुख प्रतिष्ठा गौतम बुद्ध के द्वारा हुई थी, अतः गौतम बुद्ध के जीवन के पूर्व भारत में अमरण विचार धारा का प्रतिनिधित्व केवल जैन विचार तथा आचार पद्धति करती रही है। जैन विचार पद्धति का उदय इस अवसर्पिणी काल में भगवान् ऋषभदेव के द्वारा हुआ, जिन्हें जैन धर्म अपना प्रथम तीर्थकर स्वीकार करता है। जैन आणाम के अनुसार जैन तत्त्वचिन्तन प्रणाली अनादि है; फिर भी इस धुग की अवेद्य जैन धर्म की स्थापना का गौरव भगवान् ऋषभदेव को प्रदान किया जाता है। चौबीस हीर्थकरों में ऋषभदेव प्रथम तीर्थकर माने गए हैं। जैन शास्त्रों का अभ्यास तथा परिचय न होने से कभी-कभी अनेक व्यक्ति अंतिम तीर्थकर भगवान् महावीर को जैन धर्म का संस्थापक कह देते हैं; किन्तु यह धारणा भावनित तथा आरात्य कल्पना पर अदर्शित है।

आज के धुग स्त्री उपलब्ध प्रार्थीनतगा सामग्री तीर्थकर ऋषभदेव के सद्गुरु एवं प्रभाव को यूक्ति करती है। मोहनजोदरो, हड्डिया के उत्तरानन द्वारा जो नम वैराज्यकावपूर्ण मूर्तियाँ मिली हैं, जैसे स्पष्टतया ऋषभदेव तीर्थकर के प्रभाव को व्यक्त करती हैं। (१) उनका चिन्ह वृषभ (बैल) था। इस प्रकाश में मोहनजोदरो, हड्डिया की लास्त्री का यदि अध्ययन किया जाय तो यह स्वीकार करना होगा, कि यिन्हु नदी की सम्मति के समय में जैन धर्म तथा ऋषभदेव का प्रभाव था।

वैदिक साहित्य ऋषभदेव को जैन धर्म का संस्थापक स्वीकार करता हुआ, उनकी अपना भी पूज्य अवतार अंगीकार करता है। भागवत के ऋषभावतार स्कन्ध में ऋषगताध भगवान् को “गगत-परिपानः”—

(1) The standing figures of the Indus seals three to five plate II F, G II.) with a ball in the foreground may be the prototype of Rishabha”—Modern Review August 1932

आत्माश इसी बज्ज का थारक बताते हुए कहा है कि उनकी महापुनियों को श्रेष्ठधर्म - परमहेतु धर्म आर्थित् दिग्भवत्व का उपदेश दिया था । उस कथन से वह स्पष्ट ध्वनित होता है कि वे भगवान् परमहेतु महापुनियों के लिए परम पूज्य तथा वंदनाय थे । उन्होंने “मत्क-शान्त-वैराग्यलक्षणं यास-हेत्यधर्ममुग्धाश्चमाणः” — भांति (सम्बद्धशन), शान तथा वैराग्य (सम्बक्त चारित्र) रूप परम-हेतु-धर्म (जैनधर्म) का उपदेश दिया था (भागवत रुद्धि ५, अ. ५, पाद सं)

भागवत के एकादश संक्षेप के द्वितीय अध्याय में लिखा है :—

प्रियद्रुतो नाम सुतो भनोः स्वायंभुवरय थः ।

तस्थार्थाध रत्नो नाभिं कृष्णभस्तत्सुतः स्मृतः ॥ १५ ॥

स्वायंभुव नामके गनुके पुत्र वियक्त हुए । इनके पुत्र आग्रीष्ठ और आग्रीध के भाभि तथा नाभि के पुत्र ऋषभ हुए । जैन राज्यों में भगवान् कृष्णभद्रेव को नाभिराज के पुत्र बताया है । कृष्णभद्रेव को जैन धर्म में प्रथम तीर्थकर भावा गया है । हिन्दू धर्म शास्त्र उनको बासुदेवांश—विष्णु का अंश मानता है । विचारक वर्ण का ध्यान इन भगवत् बाबूय की ओर जाना उचित है :—

तमाहु वीसुदेवांशं मोक्षमार्गविद्यत्य ।

अवतीर्ण्ण सुतशुतं दस्थासीद्व्रह्मपारम् ॥ १६ ॥

श्री स्वामी अश्वलडानंद सरस्वती ने गीतावेस गोरखपुर से प्रकाशित ग्रीका में उक्त श्लोक के अर्थ में लिखा है “शास्त्रों ने उन्हें (कृष्णभद्रेव को) भगवान् वासुदेव का अंश कहा है ।” ‘तनाहुर्वासुदेवांशं’ वे भगवत् के शुद्ध हिन्दू समाज के लिए ध्यान देने वोय हैं । उन कृष्णभावतार का विद्या प्रयोजन था, यह स्पष्टकरते हुए कहा है “मोक्षनर्पीविकशदा अवतीर्ण्ण” — “मोक्ष सार्प का उपदेश करने के लिए उन्होंने अवतार ग्रहण किया था ।” इसलिए भाव यह है कि कृष्णभावतार ने संसार की ललिता दिखाने के बड़ले में संसार से छुटने का उपाय बताने के लिये जन्म धारण किया था । संसार के बंधन से छूटकर मुक्ति को प्राप्त करने का उपाय बताना उनके जन्म धारण का मूल उद्देश्य था । “तस्यासीत् ब्रह्मपारमं सुतशतान्” — “उनके सौ पुत्र हैं, जो व्रह्ण विद्या के पारगमी हुए । व्रह्ण विद्या देदों का अंत (पर) होने से बेदान्त शब्द से कही जाती है । भगवान् कृष्णभद्रेव ने जिस ज्ञान धारा का उपदेश दिया, उसे उपनिषद् में “परा विद्या”, ध्रेष्ठ-विद्या माना गया

है। उन अमृथभद्रेव के डोपेष्ठ पुत्र भरत के कारण वह देश भारतवर्ष कहा गया। इस विषय में देश की प्राचीनतम जैन विचार धारा तथा वैदिक विचार धारा एक मत है।

भगवत में लिखा है :—

तेऽनि वै भरतो डोपेष्ठः नारायणपरायणः ।

विद्ययतं वर्षमेतद् यज्ञामा भारतमद्वृतम् ॥ १७ ॥

उन शत पुत्रों में भरत ज्येष्ठ थे। वे नारायण के परम भक्त थे। अमृथभद्रेव वासुदेव के आंश होने से नारायण रूप थे। उनके नाम से यह देश, जो पहले अननाम वर्ष कहलाता था, भारतवर्ष कहलाया। यह देश अलौकिक स्थान था। मार्कंखडेयपुराण, द्वारायुराण, विश्वायुराण, लिङ्गपुराण, टकन्दपुराण, व्रद्धायर्डपुराण आदि में भी भगवत का समर्थन है। चौदीस अवतारों में सर्व ग्रथम मानव अवतार रूप युक्त क्रृष्णभद्रेव के प्रतापी व्रश्छान (परा विद्वा) के पाल्यामी पुत्र भरतराज के कारण इस देश को भारतवर्ष स्वीकार न कर अन्य भरत भाग को कारण बताना असम्भव है, त्वय वैदिक शास्त्रों की मान्यता के प्रतिचूल है।

महायुराण में भगवज्जिनसेन स्वामी कहते हैं :—

प्रमोदभरतः प्रेमनिर्भरा वधुता तदा ।

तमाह भरतं भावि समस्तभरताविष्म् ॥ २५८ ॥

तद्वास्त्रा भरतं वर्षमिति ह्यसीजन्मास्पदम् ।

हिमाद्रे रसमुद्राच्च देवं चक्रभूतामिदम् ॥ २५९ पर्व १५ ॥

भरत के जन्म समव प्रेम परिशुर्ण वंधुवर्ग ने प्रमोद के भार से समस्त भरत के भावी स्वामी को भरत कहा। भरत के नाम से हिमालय से समुद्र पर्वन्त चक्रवर्ती का देव भारतवर्ष के नाम से प्रसिद्ध हुआ।

(१) क्रृष्णभात् भरतो जद्वे वीरः पुत्रशताद्वरः ।

सोऽमिविच्यर्षमः पुत्रं महाप्राप्राज्यमस्थितः ।

हिमाह्यं दक्षिणे वर्ष भरताय पिता ददौ ।

तस्मात्त भरतं वर्ष तस्य नाम्ना महात्मनः ॥ ३६-४१ मार्कंखडेय पु०॥

भागवत के एकादश स्कन्ध से ज्ञात होता है :—
 नद्रभवन् महामणा मुनयो हर्थस्तिष्ठः ।
 अमणा वातरशना अस्मित्याविशरदः ॥ २-२० ॥

उन सी पुओं में जो पुओं ने सन्यास वृति धारण की थी । वे महाभास्य शाली थे । तत्खोददेष्टा थे । आत्मचाचा में थे अत्यंत प्रवीण थे तथा दिग्मवर मुद्रा धारी थे ।

गगवान् कृष्णभद्रैव ने जो उपदेश दिया, उसका प्राण आहिंसा धर्म था । जिस आहिंसा धर्म की जैन धर्म में महान प्रनिधि है, उसे मणवत में मान्यता देते हुए सन्यासी का भुल्य धर्य कहा है ।

गगवत के १५ वें स्कन्ध में कहा है :—
 भिद्धोर्धर्मै शुमेऽहिंसा तप इद्धा बनौकसः ।
 गृहिणो मृत्युर्द्वेष्या द्विजस्याचायैसेवनम् ॥ ४२ ॥

सन्यासी का सुख्य धर्म है शार्ति और अहिंसा; वानप्रस्थी का धर्म है तपस्या तथा भगवद्राव, रहस्य का सुख्य धर्म है लीब रक्षा तथा पूजा, अहंचारी का धर्म है आत्मार्व की सेवा करना ।

भागवत भी सुखसमरी टीका के एकादशम स्कन्ध के भनुर्थ अध्याय में लिखा है, “परसेश्वर का स्वरण ध ध्यान जौवीस अवतारों में से, जिस पर जिसका मन चाहि, उसी रूप में पूजा ब भक्ति करे ।” (पृ. १०६६) उक्त प्रथ में वह महत्व की बात आई है “राजा कृष्णभद्रेजी ने धर्म के साथ प्रजा का पालन करके ऐसा राज्य किया, कि उनके राज्य में वाय और बकरी एक धाट पानी रहते थे । कोई प्रजा दुःखी व कंगाल न थी । देवता उनकी स्तुति देव-लोक में किया करते थे । जब राजा इंद्र ने उनका यश सुना, तब डोह से उनके राज्य भरतखण्ड में पानी नहीं बरसाया । इस पर कृष्णभद्रैव ने इंद्र के अज्ञान पर हंसकर अपने शेषबल रो ऐसा कर दिया कि उनके राज्य में जिस तमय प्रजा के लोग पानी चाहते थे, उसी समय नारायण की कृपा से जल बरसाया था; तब इंद्र ने उनकी भगवान का अवतार जान कर अपना अपराध क्षमा कराया ।” (पृष्ठ २६८) उक्त प्रथ में वह भी लिखा है “कृष्णभद्रैव के मत को मानने वाले जैनधर्म कहलाते हैं ।”

कृष्णनाथ भगवान के तत्त्वन्द में शृंगेद का यह मंत्र महस्य पूर्ण है :—

षट्कर्माणि यथा तत्र कथा वर्णाश्रमस्थितिः ।

यथा ग्राम-गृहादीनां संस्त्यायश्च पृथक्षिधाः ॥ २४४ ॥

तथा उत्ताप्युचिता वृत्तिः उपायेरभिर्गिनाम् ।

नोपायान्तरमस्त्येषां प्राणिनां जीविका प्रति ॥ २४५ ॥

कर्मभूद्य जातेयं व्यतीतौ कल्पसूखाम् ।

ततोऽत्र कर्मभिः षड्भिः प्रजानां जीविकोचिता ॥२४६-पर्व २६ महापुराण

पूर्व तथा पश्चिम विदेह द्वे त्रि में जो स्थिति इस समय विद्यमान है वही पढ़ति यहाँ प्रवृत्त करने योग्य है। उससे यह प्रजा जीवित रह सकती है। वहाँ जिस प्रकार असि, कुषि आदि छह कर्म हैं, ज्ञानिय आदि वर्ण की तथा आश्रम की व्यवस्था है, ग्राम, घर आदि की पृथक-पृथक रचना हैं उसी प्रकार की व्यवस्था यहाँ भी होना चाहिए। इन्हीं उपायों से प्राणियों की आजीविका चल सकती है और अन्य उपाय नहीं है। कल्पवृक्षों के नष्ट हो जाने से अब कर्मभूमि का प्रादुर्भाव हुआ है इसलिए कुषि आदि षट्कर्मों के द्वारा अपनी जीविका करना उचित है।

जिनमन्दिर का निर्माण

इस प्रकार विचार करने के उपरात भगवान् से प्रजा को आश्रवासन दिया कि तुम भयभीत मत होओ। इसके पश्चात् भगवान् के द्वारा स्मरण किए जाने पर देवों के साथ इन्द्र ने वहाँ आकर प्रजा की जीविका के लिए उचित कार्य किया। सर्व प्रथम इन्द्र ने योग्य समय, नक्षत्र, लग्न आदि के संयोग होने पर अयोध्या पुरी के मध्य में जिन मन्दिर की रचना की; पश्चात् चारों दिशाओं में भी जिनमन्दिरों की रचना की। तदनन्तर ग्राम, नगरादि की रचना संपन्न की। उन ग्रामादि में प्रजा को बसाकर भगवान् की आङ्गा लेकर इन्द्र स्वर्ग चला गया।

भगवान् ने प्रजा को छह कर्मों द्वारा आजीविका करने का उपदेश दिया था।

षट् कर्म

असिर्मिषि: कृषिविद्या वाणिज्यं शिल्पेन्द्रि: ।

कर्माणीमनि षोडा स्युः प्रजाजीवनहेतवः ॥ १७६ ॥

तत्र वृत्तिं प्रजानां स भगवान् मतिकौशलात् ।

उपादिक्षत् सरसो हि स तदासैज्जगद्गुरुः ॥ १८० ॥

असि (शक्तकर्म), मणि (लेखन कर्म), कृषि, विद्या अर्थात् शास्त्र के द्वारा उपजीविका करना (विद्या शास्त्रोपजीवने), वाणिज्य (व्यापार) तथा शिल्प (शिल्पं स्वात्करकौशलम्) हस्तकी कुशलता से जीविका करना ये छह कार्य प्रजा के जीवन के हेतु हैं।

भगवान् ने अपनी बुद्धि की कुशलता से प्रजा को उनके द्वारा वृत्ति अर्थात् आजीविका करने का उपदेश दिया, क्योंकि उस समय भगवान् सरसी थे।

वर्णन्यवस्था

उत्पादिता रूपो वर्णाः तदा तेनादिवेशसा ।

कृत्रियाः वसिजः शूद्राः कृतन्नाण्डिभिर्मुण्डैः ॥ १८३ ॥

उस समय उन आदि व्रहा भगवान् ने तीन वर्ण उत्पन्न किए, जो कृत-आण अर्थात् विपत्ति से रक्षण करना, कृषि, पशुपालन, तथा सेवादि गुणों के कारण कृत्रिय, वैश्य तथा शूद्र कहलाए।

यादती जगती वृत्तिः आपोपहता च या ।

सा सर्वास्य मतेनासीत् स हि धाता सनातनः ॥ १८४ ॥

उस समय जगत् में जितने पाप रहित आजीविका के उपाय थे, वे सब वृषभदेव भगवान् की सम्मति से प्रवृत्त हुए थे, क्योंकि वे ही सनातन ब्रह्मा हैं। भगवान् ने कृतयुग-कर्मभूमि का शारम्भ किया था।

कर्मभूमि का शारम्भ

आपादमासन्हुल-प्रतिपदिवसे कृती ।

कृत्वा कृतयुगारंभं प्राजापत्यमुपेयिवान् ॥ १८५ ॥

उन भगवान् ने आधाद कृष्ण प्रतिपदा के दिन कृतयुग का आरम्भ करके 'प्रजापति' संज्ञा को प्राप्त किया था।

बर्ण-व्यवस्था आगमोक्त है-

इस वर्णन से यह बात स्पष्ट होती है, कि जिस विदेह क्षेत्र में सदा तीर्थकरों का सानिध्य प्राप्त होता है, तथा उनके द्वारा जीवों को मार्ग वर्णन प्राप्त होता है, वहाँ वर्णश्रम-व्यवस्था है। इस भरत क्षेत्र में भगवान् आदि ब्रह्मा ऋषभदेव ने जो वर्ण-व्यवस्था का उपदेश दिया था, वह उनने अपनी कल्पना द्वारा नहीं रचा था, बल्कि उनने विदेह क्षेत्र की व्यवस्था (जहाँ नित्य कर्मभूमि है) के अनुसार भरतक्षेत्र की भी व्यवस्था का उपदेश दिया, यद्योऽपि वहाँ भी वर्णभूमि ता प्रादुर्भाव हो गया था। कोई-कोई यह सोचते हैं, कि जैनधर्म में वर्ण-अस व्यवस्था का अभाव है। वह तो ब्राह्मण धर्म की नकल या प्रभाव मात्र है। यह कथन महापुराण के वर्णन के प्रकाश में अर्थार्थ प्रमाणित होता है। आगम के आधार को प्रामाणिक मानने वाला मुमुक्षु तो यह सोचेगा, कि अन्य परम्परा में पाई जाने वाली व्यवस्था जैन परम्परा से ली गई है और उस पर उनने अपनी पौराणिक, अबैज्ञानिक पद्धति की छाप लगा ली है। यह वर्ण-व्यवस्था भगवज्जिन-सेन स्वामी की निजी मान्यता है, और उनने उसे आगम का रूप दे दिया है, ऐसा कथन अत्यन्त अनुचित तथा अशोभन है। जिनसेन स्वामी सहश सत्य महाब्रह्मी श्रेष्ठ आत्मा के विषय में ऐसा आरोप जबन्यतम करते हैं। ऐसा प्रतारणा का दोष लगाना महा पाप है। आजकल वर्णश्रम-व्यवस्था की पुण्य पद्धति के मूल पर कुठाराघात होने से प्रजा की जीविका की समस्या उलझकर जटिल बनती जा रही है। इसके कारण ही सबका ध्यान आत्मा के स्थान में पेट की रोटी की ओर गुरुख्यता से जाना करता है। तीर्थकर भगवान् द्वारा प्रतिपादित पद्धति के बिरुद्ध जितनी प्रवृत्ति बढ़ेगी उतनी ही अशांति तथा दुख की भो बुद्धि हुए बिना न रहेगी।

राज्याभियेक

जब भगवान् के द्वारा व्यवस्था प्राप्त कर प्रजा सुख से रहने लगी, तब वड़े वैभव के साथ भगवान् का अयोध्यापुरी में राज्य-

तीर्थे कर

भिषेक हुआ था। उस राज्याभिषेक के लिए गंगा और सिंधु महानदियों का वह जल लाया गया था, जो हिमवत् पर्वत की शिखर पर से धारा रूप में नीचे गिर रहा था, तथा जिसका भूतल से स्पर्श नहीं हुआ था। पद्म, महापद्मादि, सरोबरों का जल, नंदीश्वर द्वीप संत्रिंष्ठी नंदोत्तर आदि वापिकाओं, कीर समुद्र, नंदीश्वर समुद्र, स्वयंभूरमण समुद्र आदि का भी जल उस राज्याभिषेक के लिए लाया गया था।

इहे सुवर्ण दिग्भित उत्तरीं द्वारा इद्र ने राज्याभिषेक किया। इसके अनन्तर नाभिराज आदि अनेक राजाओं ने 'अयं राजसिंहः राजवत्'—राजाओं में श्रेष्ठ ये वृपमदेव राज्य पद के योग्य हैं ऐसा मानकर उनका एक साथ अभिषेक किया था।

जनता द्वारा चरणों का अभिषेक

नागरिकों ने भी उनके चरणों का अभिषेक किया था। किन्हीं ने कमल पत्र के बने हुए दोने से और किसी ने मृत्तिका पात्र में सरयु का जल लेकर चरणाभिषेक किया था। फहले तीर्थ जल से अभिषेक हुआ था, परचात् कवाय जल से और अन्त में सुगंधित जल द्वारा अभिषेक सम्पन्न हुआ था। इसके अनंतर कुछ २ ग्रन्थ जल से भरे हुए सुवर्ण के कुण्ड में प्रवेश कर उन प्रजापति प्रभुने सुखकारी स्नानका अनुभव किया था।

नीराजना

अभिषेक के पश्चात् भगवान् की नीराजना (आरती) की गई। भगवान् आभूषण, बस्त्र आदि से अलंकृत किए गए थे।

नाभिराजः स्वहस्तेन मौलिमरोपथत्प्रमोः ।

महासुकुटबद्धानामविराट् भगवानिति ॥ २३२ ॥

भगवान् 'महासुकुटबद्धानां अधिराट्'—महासुकुटबद्ध राजाओं के शिरोमणि हैं; इससे महाराज नाभिराज ने अपने हाथ से प्रभु के मस्तक पर अपना सुकुट लगाया।

शासन-पद्धति

भगवान् ने राज्य-पदबी स्वीकार करने के बाद प्रजा के

तौर्थकर

कल्याण निमित्त उनकी आजीविका के हेतु नियम बनाए । उन्ने प्रत्येक वर्ण को अपने योग्य कर्तव्य पालन का आदेश दिया था ।

स्वामिमां वृत्तिमुक्तम्य यस्तदन्यां वृत्तिभाच्चेत् ।

स पार्थिवैर्निहन्तव्यो वर्णसंक्षीर्णपूर्णथा ॥ १६—२४८ ॥

उस समय भगवान ने यह नियम प्रचलित किया था कि जो वर्ण अपनी निश्चित आजीविका को परित्याग कर अन्य वर्ण की आजीविका को स्वीकार करेगा वह दण्ड का पात्र होगा क्योंकि इससे वर्ण संकरता उत्पन्न होगी । महापुराणकार कहते हैं कि भगवान ने कर्मभूमि के अनुरूप दण्ड की व्यवस्था की थी, जिससे दुष्टों का संग्रह और शिष्टों का परिपालन होता था ।

दण्ड नीति

दण्ड से विषय में उनका सिद्धांत था :—

दण्डभीत्या हि लोकोऽयमपर्यं नानुवाचति ।

युक्तदण्डधरस्तस्माद् पर्थिवः पृथिवीं जयेत् ॥ १६—२५३ ॥

दण्ड के भव्य से लोग कुमार्ग में नहीं जाते इसलिए इच्छित दण्ड धारक नरेन्द्र पृथिवी को जीतता है ।

अर्थ नीति

शासन का संचालन अर्थ संग्रह की अपेक्षा करता है, इसलिए राजा प्रजा से कर अर्थात् टैक्स लिया करता है । इस विषय में ग्रन्थ की नीति बड़ी मधुर थी ।

पर्यस्त्वन्या यथा चौरम् अदोहेषोपजीव्यते ।

प्रजाप्येवं धनं दोहा नातिपीड़ाकरैऽकरैः ॥ १६—२५४ ॥

जिस प्रकार दूध देने वाली गाय से उसे छिना किसी प्रकार की पीड़ा पहुँचाए दूध दुहा जाता है उसी प्रकार राजा को भी प्रजा से धन लेता चाहिए । अति पीड़ाकारी करों के द्वारा धन संग्रह नहीं करना चाहिये ।

भगवान आदिनाथ के नामान्तर

भगवान के द्वारा कर्मभूमि की प्रजा को अवर्णनीय सुख

तीर्थीकर

और शांति मिली थी। जगत् में भगवान को ब्रह्मा, विधाता आदि नामों से पुकारते हैं। महापुराणकार कहते हैं कि ये नाम भगवान के ही पर्यायवाची थे। उनने कर्मभूमि रूपी जगत् का निर्माण किया था।

विधाता विश्वकर्मा च सृष्टा चेत्यादिनामभिः ।

प्रजास्त्त व्याहर्तिस्म जगत्पृष्ठिभ्युत्तम् ॥ २६७ ॥

इनके सिवाय तीनों जगत के स्वामी और विनाश रहित भगवान को प्रजा 'विधाता' 'विश्वकर्मा' और सृष्टा आदि अनेक नामों से पुकारती थी।

प्रभुकी लोक कल्याणमें निमन्तता

जिसे लोककल्याण, परोपकार, दीनोद्धार आदि शब्दों द्वारा संकीर्तित करते हैं, उस कार्य में भगवान का बहुमूल्य जीवन व्यतीत हो गया। कुरल काण्ड में लिखा है “प्रत्येक दिन, यद्यपि वह अत्यधिक मधुर प्रतीत होता है, वास्तव में हमारी आयु की अवधि को काटने वाला छुरा है”। चौरासी लाख पूर्व की आयु में से तेरासी लाख पूर्व बीत गए। सुमधुर अनुकूल सामग्री के मध्य पता नहीं चला, कितना काल चला गया। लौकिक दृष्टिकोण से देखने पर भगवान का कार्य अत्यन्त मधुर और प्रिय लगता था। अपने महान कुड़म्ब तथा विश्व के विशाल परिवार इन दोनों की चिन्ता, मार्गदर्शन तथा रक्षण कार्य में प्रभु की तमस्यता आज के जगत को बड़ी अच्छी लगेगी।

परमार्थ दृष्टि में

परमार्थ तत्त्व की उपलब्धि को जिनने लक्ष्य बनाया है, उनकी अपेक्षा एक तीर्थीकर का सोह के मुदुबन्धन में इतने लम्बे काल तक रहा आना यथार्थ में आश्चर्य की वस्तु थी। कमल के मृणाल तन्तु के द्वारा सिंह के बन्धन की कल्पना जैसी विचित्र है, उसी प्रकार ज्ञात्यिक सम्यकत्वी, अवधिज्ञानी तथा त्रिमुख में अद्वैत सामर्थ्य संपन्न अन्तहृष्टि समलंकृत उज्ज्वल आत्मा का अनात्म पदार्थों में इतना अधिक काल व्यतीत करना कम आश्चर्य की बात नहीं थी। कर्मभूमि का प्रारम्भ काल था। जनता को सञ्चै धर्मसृत का रस पानकराकर धर्म तीर्थ की प्रवृत्ति अविलम्ब आवश्यक थी, किन्तु भगवान का लक्ष्य उस ओर

तीर्थकर

नहीं जा रहा है। प्रहरी स्वयं जागकर सोनेवालों को चोर तथा चोरी से संघरण करता है। दौह लक्ष्मी दाकु जीव के बदलना को चुराकर इसकी दुर्गति करता है। तीर्थकर भगवान के तेज, पराक्रम तथा व्यक्तित्व के कारण मोह दुर्बल हो जाता है, यह बात पूर्ण सत्य है, किन्तु यहाँ दूसरी ही बात दिख रही है। प्रहरी पर ही मोह का जादू चल गया प्रतीत होता है। सचमुच मैं मोह का उद्य क्या-क्या नहीं करता है? भगवान प्रजापति हैं, परिवार के स्वामी हैं, प्राण हैं; इससे वे सबकी रक्षा में संलग्न हैं। परमार्थ दृष्टि से तत्त्व दूसरा है। कल्याणालोचना मैं आत्मा के उद्बोधन हेतु कितनी सुन्दर और सत्य बात लिखी है:—

तव ओ न भवति स्वजनः ।
त्वं कस्य न बन्धुः स्वजनो वा ॥
आत्मा भवेत् आत्मा ।
एकाकी ज्ञायकः शुद्धः ॥४७॥

आत्मन्! तेरा कोई कुदुम्बी नहीं है, तू किसीका बन्धु या कुदुम्बी नहीं है। तू आत्मा ही है। तू अकेला है, ज्ञायक स्वभाव है, निर्मल है।

विवेकी इन्द्र की चिंता

भगवान का हृदय करुणापूर्ण था। इससे पीड़ित प्रजा का करुणक्रदन सुनकर वे उनके निवारण तथा सांख्यना प्रदानमें लग गए थे। इस मार्ग से अविनाशी मोक्ष पद की प्राप्ति नहीं होती। संसार में विविध देव, देवताओं को देखने पर पता चलता है, कि उनमें से कुछ जीवों के प्रति ममता, राग तथा मोह में फँस गए और कुछ क्रोधादि के बशीभूत हो गए। राग-देव की ओर न झुककर वीतराग भाव पूर्ण मनोवृत्ति जिनदेव की विशेषता है। इस वृत्ति के द्वारा ही मोह का नाश होता है। गृहस्थाश्रम में वीतराग वृत्ति की उपलब्धि असम्भव है, यह बात भगवान के समक्ष उपस्थित करने की योग्यता किसमें है? इन्द्र ने अतेक बार इस विषय में सोचा कि देखो भगवान अनुपम सामर्थ्यधारी तीर्थकर होते हुए भी प्रत्याख्यानावरण कपाय के तीव्रोदयवश परम शान्ति तथा कल्याण प्रदाता सकल संग-परित्याग की ओर ध्यान नहीं दे रहे

तीर्थेकर

हैं। भगवान् से ऐसा जिवेदन करना कि आप राज्य का त्यागकर तपोवन को जाइये, विवेकी इन्द्र को योग्य लहीं जंचता था। जगत् के गुरु तथा परमपिता उन प्रभुसे कुछ कहना उनके गुरु बनने की श्रद्धा चेष्टा सट्टरा बात होगी।

संकेत द्वारा सुझाव

गंभीर विचार के उपरान्त सौधर्मेन्द्र ने संकेत द्वारा भगवान् के समीप अपना सुभाव उपस्थित करना उपश्रुक सोचकर प्रभु के समक्ष नीलांजना अप्सरा के सुन्दर नृत्य की योजना की। नीलांजना का जीवन कुछ छण शैप रहा था।

प्रभु की प्रबुद्धता

नृत्य करते २ डस अप्सरा नीलांजना को मृत्यु के मुख में जाते हुए देखकर भगवान् की आत्मा प्रबुद्ध हो गई। अवधिज्ञान के प्रयोग द्वारा उन्हें समस्त रहस्य ज्ञात हो गया। वे गंभीर हो वैराग्य के विचारों में निसग्न हो गए। रागबर्धक सामग्री राज-सभा का सब मुख्य कर रही थी, किन्तु भगवान् तपोवन की ओर जाने की सोचने लगे। अब उनके जीवन प्रभात में वैराग्य रूप प्रभाकर के उद्दव की बेला समीप आ गई। उनकी हठि विशेष रूप से ज्योतिर्मय आत्मदेव की ओर केन्द्रित हो गई।



तप-कृत्याणक

नीलांजना के जीवन के माध्यम द्वारा भगवान् के मन में अलौकिक वैराग्य ज्योति जग गई। वैराग्य-सूर्य के उदय होने से मोह की अधियारी दूर हो गई। महापुराणकार के शब्दों में आदिनाथ भगवान् विचार करते हैं:—

नारीरूपमयं यंत्रमिदमत्यन्तपेलवम् ।

पश्यतामेव नः साक्षात् कथमेतत् अगाल्लयम् ॥३६॥

देखो ! यह नारीरूपी अत्यन्त मनोहर यन्त्र सदृश नीलांजना का शरीर हमारे साक्षात् देखते-देखते किस प्रकार त्य को प्राप्त हो गया ?

रमणीयमिदं महा स्त्रीरूपं अदिरूपवलम् ।

पतन्तस्तत्र नश्यति पतंग इव कामुकः ॥३७॥

बाहर से डब्बल दिखने वाले स्त्री के रूप को अत्यन्त मनोहर मानकर कामीजन उस पर आसक्त होकर प्रकाश पर पड़ने वाले पतंगे सदृश नष्ट होते हैं।

कृटनाटकमेतत् प्रयुक्तममरेशिना ।

नूनमस्तप्रबोधाय स्मृतिमावाय धीमता ॥३७—३८॥

इन्द्र ने जो यह नीलांजना का वृत्य रूप कृत्रिम नाटक कराया था, यथार्थ में बुद्धिमान अमरेन्द्र ने गम्भीर विचार पूर्वक हमारे प्रबोध हेतु ही ऐसा किया है।

कालद्रव्य का महत्व

कालद्रव्य समीप आने पर साधारण वस्तु भी सहानु प्रबोध प्रदान करती है। किन्तु की यह धारणा है कि काल द्रव्य पर तत्त्व है। उसकी अनुकूलता या प्रतिकूलता कोई महत्व नहीं धारण करती है। यह धारणा आगम तथा अनुभव के विरुद्ध है। कालद्रव्य

तीर्थकर

के द्वारा ही कार्य होता है, ऐसा एहसान जहाँ अवेकाल भासत तो अभान्य है। द्रष्टव्य, क्षेत्र, काल तथा भावरूप सामग्री चतुष्टय का भी महत्व है।

यदि कृषक खेत में बीज विपत करते समय द्रष्टव्य, क्षेत्र, कालादि का उचित ध्यान रखता है, तो उसे इष्ट धान्य प्रचुर प्रमाण में परिषाक के पश्चात् प्राप्त होता है, किन्तु उसने द्रष्टव्यादि चतुष्टय की उपेक्षा की, तो अन्त में उसकी मतोंकामना पूर्ण नहीं होगी। स्वाति नक्षत्र के उदयकाल में यदि सेव की विन्दु सीप के भीतर प्रवेश करती है, तो उस जल का मुक्तारूप में परिणामन होता है। इस कालिक अनुकूलता के अभाव में सीप में गया हुआ जल मोती के रूप को नहीं धारण करता है।

भूत नैगमनय की अपेक्षा दीपावली के दिन यह कहा जाता है—“अद्य दीपोत्सवदिने श्रीबध्यमानस्वामी मोक्षंगतः” (आलाप-पद्धति पृष्ठ १६६) अर्थात् आज दीपोत्सव के दिन ही बध्यमान स्वामी मोक्ष गए हैं। उस दीपावली के दिन जो वीरनिर्वाण के चिषय में कालिक समानता के कारण चित्त में निर्मलता तथा प्रसन्नता की उपलब्धि होती है, वह प्रत्येक आवक के अनुभव गोचर है। दीपावली के दिन यदि पाकापुरी क्षेत्र में बध्यमान भगवान की निर्वाण पूजा का सुवोग लाभ मिलता है, तो गृहस्थ अपने को विशेष भाष्यशाली अनुभव करता है।

मरीचि का उदाहरण

महावीर भगवान के जीव भरतेश्वर के पुत्र मरीचिकुमार ने अपने पितामह शृष्टभनाथ भगवान के साथ मुनिसुद्धा धारण की थी, किन्तु काललब्धि न मिलने से वह जीव किंचित् न्यून कोङ्कणोङ्गी सागर प्रमाण नाना योनियों में अमण्ड करता रहा। काललब्धि आने पर वही जीव तीर्थकर महावीर रवामी के पद को प्राप्त कर चतुर्थकाल को समाप्त होने के तीन बर्ष साढ़े आठ मह शेष रहने पर मुक्ति रमा का स्वामी बन गया। काललब्धि भी अद्भुत है।

सिंह का भाग्य

सिंह पर्यायधारी जीव हरिण-भक्षण में उद्यत था। उसे

ऋषसं मत्समानानां सप्तलाल्ना विष्णुसहि ।

दंतरं शत्रूणां कृषि विश्वजं गोपित मवाम् ॥ १०१-२१-६६ ॥

इसका अर्थ नेदतीर्थ य० विश्वज्ञ एम. ए. इस भक्ति करते हैं—

हे ऋषतुल्य देव ! क्या तुम हम उच्च वंश वालों में ऋषभदेव के समान आत्मा को उत्तम नहीं करोगे ? उनकी 'अर्हत' उपर्युक्त आदि उनको वर्णियदेश धोतित करती है, उसे शत्रुओं का विनाशक बनाओ ।" वैदिक रात्मक ठाकुर राधाकृष्णन ने लिखा है :—“यजुर्वेद में दीर्घकर कृषभदेव, अजितनाथ तथा आरिष्टनेमि का उल्लेख आता है । मात्रतः पुराण कृषभदेव को जैनधर्म का अस्तित्व का मानता है ।" (१)

भाग्यवद पुराण के अदुक्षार कृषभदेव विष्णु नामसे नवमे अवतार थे । वह अवतार वामनावतार, राम, कृष्ण तथा बुद्ध रूप अवतारों के पूर्व हुआ है । विद्यावारिषि ब्रैस्टर चंद्रहराय जो ने लिखा है : अवतारों की विश्वा में वामन अवतार पहलवां है । ऋग्वेद में वामन अवतार का उल्लेख है । इससे वह परिवर्णन निकलता है कि वामन अवतार सम्बन्धी मंत्र की रचना के यून्दे कृषभदेव हुए हैं । कृष्वेदोक्त वामन अवतार के पहले कृषभदेवतार हुआ है, अतः कृषभावतार कृष्वेद के बहुत पहले हुआ है यह स्वीकार करना होगा । श्री चंद्रहरायजी का उपरोक्त भाव इन राष्ट्रों द्वारा व्यक्त किया गया है :—

According to Bhagvata Purana Rishabhadeva was the ninth avatara (incarnation) of Vishnu and preceded the Vamana or Dwaip, Rama, Krishna and Buddha, who are also regarded as avatars. Now since the Vamana Avatara, the fifteenth in the order of enumeration is expressly referred to in the Rig Veda, it follows that it must have priority in point of time to the composition of the hymn that refers to it and inasmuch as Shri Rishabha Deva Bhagwan even preceded the Vamana Avatara, he must have flourished still earlier (Practical Path pp. 193-194).

(१) “Yajurveda mentions the names of three Tirthankaras—Rishabha, Ajinath and Arishtaseni. The Bhagvat Puran endorses the view that Rishabhadeo was the founder of Jainism.” Indian Philosophy Vol. I, P. 237

तीर्थकर

अजितजय तथा अमितगुण नाम के चारण मुनियुगल का उपदेश सुनने का सुयोग मिला। काललिंगि की निकटता आ जाने से उस सिंह को धर्मोपदेश प्रिय लगा। उत्तरपुराण में गुणभद्र स्वामी उस मृगेन्द्र के विषय में लिखते हैं:—

तत्प्रश्नद्वान्मासाद्य सदाः कालादिलिंगितः ।

प्रशिग्राम्य मनः श्रावक्षत्रतनि समादेदै ॥७४—२०८॥

कालादि की लिंगि मिल जाने से उस सिंह ने तत्प्रश्नद्वान्मासाद्य को प्राप्त कर श्रावक के ब्रतों को चित्तपूर्वक स्वीकार किया। आचार्य की उस सूर्गपति के विषय में यह उक्ति अत्यन्त मार्मिक है:—

स्थिररौद्ररसः सदः स शमं समधारयत् ।

सच्छैलुषसमो मोह-क्षयोपशुभावतः ॥७४—२१०॥

मोहनीय का ज्योपशम होने से स्थिरता को प्राप्त रौद्ररस धारी उस सिंह ने कुशल अभिनेता के समान तत्काल शान्त रस को धारण किया; अर्थात् सदा रौद्र परिणाम वाला सिंह अब प्रशान्त परणति वाला बन गया।

काललिंगि आदि के सुयोग समन्वित उस सिंह ने जन्मतः मांसाहारी होते हुए भी मांस का परित्याग कर परम कारणिकरण अझीकार की। गुणभद्राचार्य भविष्य में सिंह के चिन्ह वाले वर्धमान-भगवान बनने वाले उस सूर्गपति के विषय में लिखते हैं:—

ब्रह्म नैतस्य सामान्यं निराहारं यतो विना ।

क्रन्धादन्योस्य नाहारः साहसं क्रिमिः परम् ॥७६—२११॥

उस सिंह ने समस्त आहार त्याग के सिवाय अन्य साधारण नियम नहीं लिया था, क्योंकि मांस के सिवाय उसका अन्य प्रकार का आहार नहीं था। इससे बड़ा साहस और क्षम हो सकता है?

सिंह से शिक्षा

आज मांसाहार में प्रवृत्त होने वाला तथा अपने को सभ्य और सुसंरक्षत मानने वाला मनुष्य को गुद्रावारी प्राणी गम्भीरता

पूर्वक इस मांसत्यागी सूगपति के जीवन को देखकर क्या कुछ प्रकाश प्राप्त करेगा ?

इस सत्य दृष्टान्त से यह बात स्पष्ट होती है कि जीवन में काललविधि का कितना महत्वपूर्ण स्थान है। जो योग्य कालादि सामग्री को प्राप्त कर प्रमादी बनते हैं, उनको जीवन-प्रदीप बुझने के बाद पाप के कल से नरक में जाकर पश्चात्तप करने तथा वर्णनातीत दुःख भोगने के सिवाय और कुछ नहीं मिलता है। तीर्थकर पद्धति के स्वामी होते हुए भी परिमह का त्याग कर आत्मशांति के लिए तपोबन की ओर प्रस्थान करनेवाली श्रेष्ठ आत्माओं को देखकर मोही जीव को अपने लिए शिक्षा लेनी चाहिये।

वैराग्य-ज्योति

धर्मशमभ्युदय में भोगों से विरक्त धर्मनाथ जिनेन्द्र के उज्ज्वल भावों का इस प्रकार चिन्नण किया गया है:—

वैराग्यं अनन्दं दर्शि धौरं पूर्णं सज्जनं दुर्जनं ॥ १ ॥

अशनात्येकः कृष्णवत्मेव कर्त्तुं सर्वग्रासी निर्विवेकः कृतान्तः ॥२०-२०॥

विवेक शून्य यमराज बालक को, बृद्ध को, घनी को, निर्धन को, धीर को, भीर को, सज्जन को, दुर्जन को भजाए करता है। इसी से उसे सर्वग्रासी—सब को आस बनानेवाला कहते हैं। जैसे अग्नि समस्त जड़ल को जला डालती है, इसी प्रकार यमराज भी सबको स्वाहा कर देता है।

वैराग्य की ज्योति प्रदीप होने पर तीर्थकर शीतलनाथ भगवान के मनोभावों को गुणभद्रस्वभी इस प्रकार प्रकाशित करते हैं:—

विषयैरेव चेत्सौख्यं तेषां पर्यन्तगोस्म्यहम् ।

ततः कुतो न मे तुष्टिः भिष्या वैष्यिकं सुखम् ॥६-४१॥

हन्दियों के प्रिय भोग सामग्री से यदि आनन्द प्राप्त होता है, तो मुझे सीमातीत विषय-सामग्री उपलब्ध हुई है, तब भी मुझे दृष्टि क्यों नहीं प्राप्त होती है? अतः तत्त्व की बात यही है कि भोग-सामग्री पर निर्भर सुख अव्यथार्थ है।

ओदासीन्यं सुखं तच्च सति मोहे कुतस्तुतः ।
मोहरिमेव निर्मलं विलयं प्रापये द्रुतम् ॥ ८-४२ ॥

सच्चा सुख राग द्वेष रहित उदासीन परणाति में है। वह सुख मोह के होते हुए कैसे प्राप्त होगा? इससे मैं शीघ्र ही मोह रूपो शत्रु को जड़ मूल से नष्ट करूँगा। मोह ही असली शत्रु है क्योंकि उसके कारण आत्मा सत्य तत्व को प्राप्त करने से बंचित हो जाता है।

अपूर्व बात

आचार्य कहते हैं :—

अहमन्यविति द्वास्यां शब्दास्यां सत्यर्मपितम् ।
तथापि क्रोध्यं मोहदाग्रहो विग्रहादिषु ॥ ८-४२ उत्तरपुराण ॥

‘अहं’ अर्थात् मैं ‘अन्यत्’ अर्थात् पृथक् हूँ—इन दो शब्दों में सत्य विवामान है, किन्तु मोहवश जीव की शरीरादि के विषय में ममता उत्पन्न होती है। अर्थात् मोह के कारण “अहं अन्यत्” मैं पुहल से अलग हूँ इस सत्य तत्व का विस्मरण हो जाता है।

उज्ज्वल निश्चय

अतएव भगवान् अपने मन में यह निश्चय करते हैं।

वेत्तु मूलात्कर्मपाशानशेषान्स्वस्तीचण्डस्तद्वित्ये तपोमिः ।

को वा कारणासरद्धं प्रबुद्धः शुद्धात्मानं वीद्य कुर्यादुपेक्षां ॥ २०-२३ ॥

धर्मशार्माभ्युदय

अब मैं तीक्ष्ण तपस्या के द्वारा शीघ्र ही कर्म-बंधनों को मूल से काटने के लिए उद्दीप्त करूँगा। ऐसा कौन व्यक्ति है जो मोह निद्रा दूर होने से जगकर अपनी निर्मल आत्मा को कर्मों के जेलखाने में पराधीन देखकर उपेक्षा या प्रमाद करेगा? विष मिथित मधुर लगाने काले भोजन को कोई व्यक्ति अजानकारी वश तब तक खाता है, जब तक उसे यह सत्य अवगत नहीं होता, कि इस भोजन में प्राण घातक पदार्थ मिले हुए हैं। रहस्य का ज्ञान होते ही वह तत्काल उस

तीर्थकर

आहार को छोड़ देता है। इसके सिवाय वह उस उपाय का आश्रय लेता है, जिससे खाद्य गया विष निर्विपत्ति को प्राप्त हो जाय। ऐसी ही स्थिति अब भगवान् की हो गई। अपने नीवन के अन्नमोल ज्ञाणों का अपन्यय उनको बहुत व्यथित कर रहा है। मन बारेंवार पश्चात्ताप करता है। अब उनकी आत्मा सच्चे वैराग्य के प्रकाश से समर्लकृत हो गई। जो अर्थोध्यावासी उनकी ममता के केन्द्र थे, जो परिवार उनके स्नोह तथा ममत्व का मुख्य स्थल था, मनोवृत्ति में परिवर्तन होने से सभी कुछ आत्म विकास में प्रबल विनाश दिखने लगे। अब उनको बाह्य कुदुम्ब के स्थान से आत्मा के सच्चे बंधुओं की इस प्रकार याद आ गई कि क्षमा, मार्दव, सत्य, शील, संयम आदि मेरे सच्चे बंधु हैं, कुदुम्बी हैं, अन्य बंधु तो बंध के मूल हैं, कुरुति में पतन करने वाले हैं। अब मैं पुनः मायाजाल में नहीं फसूंगा। अब मेरी मोह निद्रा दूर हो गई।" नीलांजना के निमित्त ने उनके नेत्रों के लिए नील अंजन का काम किया। इस अंजन के द्वारा उन्हें सच्चे स्व और पर का पूर्ण विवेक हो गया। वैसे सर्वकर्त्त्व के अधिष्ठित होने से वे स्वातुभूति के स्वामी थे, किन्तु अंतर्मुख बनने में चारित्र मोह उपद्रव करता था। अब प्रबल और सजीव वैराग्य ने उनके अंतर्चंडु खोल दिए।

दृष्टि परिवर्तन

मोह निद्रा दूर होने से वे भली प्रकार जाग चुके। अब उन्हें कर्मचोर नहीं लूट सकते हैं। जगने के पूर्व वे भगवान् पिता के रूप में भरत, बाहुबलि, ब्राह्मी सुंदरी को देखते रहे। पितामह के रूप मरीचि आदि पौत्रों पर दृष्टि रखते थे। अर्थोध्या की जनता को प्रजापति होने से आत्मीय भाव से देखते थे। अब उनकी संपूर्ण दृष्टि बदल गई। एक चैतन्य आत्मा के सिवाय सब पदार्थ पर रूप प्रति भासमान हो गए। मोनिया बिन्दु वाले के नेत्र में जाला आने से वह अंघ सदृश हो जाता है। जाला दूर होते ही प्रकाश प्राप्त होता है। अपना पराया पदार्थ दिखने लगता है। ऐसा ही यहाँ हुआ।

नीलांजना को अवलंबन बनाकर सुधी सुरराज ने भगवान् के नेत्रों को रखचल करने में बड़ी चलुरता से काम लिया। भगवान् के जन्म होने पर इस हंद्र ने आनन्दित हो सहस्रनेत्र बनाए थे।

तीर्थकर

आज भी सुरराज मोहजाल दूर होने से आध्यात्मिक सौन्दर्य समन्वित विरक्त आदिनाथ प्रभु की अपने ज्ञान नेत्रों द्वारा नीराजना करते हुए आरती उतारते हुए अपूर्व शान्ति तथा प्रसन्नता का अनुभव कर रहा है। इसका कारण यह है कि इन्द्र महाराज की जिनेन्द्र में जो भक्ति थी, वह मोहान्धकार से मलिन नहीं थी। वह सम्यक्त्व रूप चितामणि रत्न के प्रकाश से दैदीयमान थी।

लौकातिकों द्वारा वैराग्य का समर्थन

अब तक विरक्त तथा विषयों में अनासत रहने वाले देवर्षि रूप से माने जाने वाले लौकान्तिक देव अपने स्थान से ही जिनेन्द्र को बाहर करते हैं। युद्धर्णि गेहु के शिखर पर सारे विश्व को चकित करने वाला जिनेन्द्र भगवान का जन्माभिषेक हुआ। वहाँ चारों निकाय के देव विवरण थे, केवल इन विरक्त देवर्षियों का वहाँ अभाव था। ये वैराग्य के प्रेमी को किल सद्श थे, जिन्हें अपना मधुर गीत प्रारम्भ करने के लिए वैराग्यपूर्ण वसन्त शृङ्ग ही चाहिए थी, जिससे सब कष्टों का सदा के लिए अन्त हो जाता है। योग्य बैला देखकर ये देवर्षि भगवान के समीप आए।

प्रभु को प्रणाम कर कहने लगे “भगवन् ! आपने मोह के जाल से छूटने का जो पवित्र निश्चय किया है, वह आप जैसी उच्च आत्मा की प्रतिष्ठा के पूर्णतया अनुरूप है। अब तो धर्मतीर्थ-प्रवर्तन के योग्य समय आ गया है—“वर्तते कालो धर्मतीर्थं अवर्तने”। हरिवंशपुराण का यह पद्य बड़ा मार्मिक है—

चतुर्गति-महादुर्गे दिग्मुहूर्म्य प्रभो हृष्ट ।

मर्गं दर्शय लोकस्य मोक्षस्थानप्रवेशक ॥ ६—६६ ॥

हे नाथ ! चारोंगतिरूप महाटवी मैं दिशाओं का परिज्ञान न होने से भटकते हुए जीवों को मुक्ति मुरी मैं पहुँचने का सुनिश्चित मार्ग बताइये।

विश्रामन्त्वयुना गत्वा संतस्त्वद्दर्शितात्प्रमा ।

ध्वस्तजन्मश्रमा नित्यं सौख्ये त्रैलोक्यमूर्धनि ॥ ६—७० ॥

प्रभो ! अब आपके द्वारा बताए गये मार्ग पर चलकर सत्युरुष जन्मशम शून्य होकर त्रिलोक के शिखर पर, जहाँ अविनाशी आनन्द है, पहुँचकर विश्राम करेंगे । वैराग्य की अनुमोदना के उपरान्त वे स्वर्ग चले गए ।

दीक्षा कल्याणक के अभिषेक की अपूर्वता

इसके अन्तर चारों निकायके देव आए । उनमें ज्ञीर सरोबर के जल से भगवान का अभिषेक किया । जन्मकल्याणुरु के समय निर्मल शरीर वाले जाल जिनेन्द्र के शरीर का महाभिषेक हुआ । आज वैराग्य को प्राप्त मोहपुरी को जाकर अपने आत्म-साम्राज्य को प्राप्त करने को उद्यत प्रभु के अभिषेक में भिन्न प्रकार की मनोवृत्ति है । आज तो ऐसा प्रतीत होता है कि ब्रह्म शरीर का अभिषेक के बहाने ये सुरराज अन्तःकरण में जागृत ज्ञान व्योति से समलंकृत आत्म देव का अभिषेक कर रहे हैं । यह अभिषेक बालरूप धारी तीर्थकर का नहीं है । यह तो सिद्धिवृद्धि को बरण करने के लिए उद्यत प्रबुद्ध, पूर्ण विरक्त जिनेन्द्र के शरीर का अंतिम अभिषेक है । इसके पश्चात् इन बीतराणी जिनेन्द्र का अभिषेक नहीं होगा । आगे ये सदा चिन्मयी विज्ञान गंगा में हुबकी लगाकर आत्मर की निर्मल बनावेंगे । अब तो भेदविज्ञान-सास्कर उद्दित हो गया है । उसके प्रकाश में ये शरीर से भिन्न चैतन्य व्योति देखकर उसे विशुद्ध बनाने के पवित्र विचारों में निमग्न है ।

दीक्षापालकी

आत्मप्रकाश से सुरोभित जिनराज ने मार्मिक वाणी द्वारा सब परिवार को तथा प्रजा की सांख्यना देते हुए अंतः ब्रह्म नमनमुद्रा धारण करने का निश्चय किया । बीतराग प्रभु अब सुदर्शना पालकी पर विराजमान हो गए । भूमिगोचरी राजाओं ने प्रभु की पालकी सात पैड तक अपने कन्धों पर रखी । विद्याधरों ने भी सप्त पद प्रसाण प्रभु की पालकी की बहन किया । इसके पश्चात् देवताओं ने प्रभु की पालकी कन्धों पर रखकर आकाश मार्ग द्वारा शीघ्र ही दीक्षावन को प्राप्त किया । यह सिद्धार्थ नामक दीक्षावन अयोध्या के निकट ही था । भगवान का सारा परिवार प्रभु की विरक्ति से व्यवित ही सात्रु था ।

उसे देख ऐसा लगता था, मानों मोह शत्रु के विजयार्थ उद्योग में तत्पर भगवान को देखकर मोह की सेना ही रो रही हो। चारों ओर वैराग्य का सिंथु उद्देलित हो रहा था।

ब्रम-निवारण

कोई २ सोचते हैं, भगवान के प्रस्थान के पावन प्रसंग पर पालकी उठाने के ग्रकरण को लेकर सनुष्यों तथा देवताओं में झगड़ा हो गया था। यह कल्पना अत्यन्त असंगत, अमनोज्ञ तथा अनुचित है। उस प्रसंग की गंभीरता को ध्यान में रखने पर एक प्रकार से सारशून्य ही नहीं; अपवादपूर्ण भी प्रतीत हुए विना न रहेगी। जहाँ विवेकी सौधमेन्द्र के नेतृत्व में सर्व कार्य सम्यक् रीति से संचालित हो रहे हों, अक्रवर्ती भरत सहश्र प्रताष्ठी नरेन्द्र प्रजा के अनुशासन प्रदाता हों और जहाँ भगवान के वैराग्य के कारण प्रत्येक का ममता पूर्ण हृदय विशिष्ट विचारों में निमग्न हो, वहाँ रागड़ा उत्पन्न होने की कल्पना तक असंगल रूप है। सभी लोग विवेकी थे, अतएव संपूर्ण कार्य व्यवस्थित पढ़ति से चल रहा था। सौधमेन्द्र तो एक सौ सत्तर कर्मभूमियों में एक सौ सत्ता तक तीर्थीकरों के कल्याणकों के कार्य संपादन करने में सिद्धद्रस्त तथा अनुभवप्राप्त है। अतः स्वग्र में भी ज्ञोभ की कल्पना नहीं की जा सकती।

तपोवन में पहुँचना

भगवान् सिद्धार्थ बन में पहुँचकर पालकी से नीचे उतरे। दरिवंशशुराण में लिखा है :—

अवतीर्णः स सिद्धार्थी शिविक्षायाः स्वयं यथा ।

देवलोकशिरस्थाया दिवः सर्वार्थसिद्धिरः ॥ ६—६३ ॥

सिद्ध बनने की कामना वाले सिद्धार्थी भगवान ऋषभदेव देवलोक के शिर पर स्थित पालकी पर से स्वयं उतरे, जैसे वे सर्वीर्थसिद्धि स्वर्ग से अवतीर्ण हुए थे। अब मुमुक्षु भगवान मोहज्वर से मुक्त होकर आत्म स्वास्थ्य प्राप्ति के हेतु स्वस्थता संपादक तपोवन के ही बातावरण में रहकर क्रमशः रोगमुक्त हो अविनाशी स्वास्थ्य को शीघ्र प्राप्त करेंगे। उनने देखा लिया कि सज्जा स्व तथा पर का कल्याण

तीर्थकर

अपने जीवन को आदर्श (दर्पण) के समान आदर्श बनाना है। मलिन दर्पण जब तक मलरहित नहीं बनता है, तब तक वह पदार्थों का प्रतिक्रिया प्रहण करने में असमर्थ रहता है, इसी प्रकार मोहमलिन मानव का मन त्रिभुवन के पदार्थों को अपने में प्रतिविधित करने में अच्छम रहता है।

भगवान् के विचार

भगवान् ने वह तत्त्व हृदयंगम किया, कि आत्मा की कलिमा को धोकर उसे निर्मल बनाने के लिए समाधि अर्थात् आत्मध्यान की आवश्यकता है। जनाकीर्ण जगत् के मध्य में रहने से व्यग्रता होती है, भावों में चंचलता आती है तथा चंचल मन अत्यन्त सामर्थ्य हीन होता है। अतएव चित्त वृत्ति को स्थिरत्वाकर मोह को ध्वंस करने के लिए ही ये प्रभु आवश्यक कार्य संपादन में संलग्न हैं।

तीर्थकर भगवान् के कार्य श्रेष्ठ रहे हैं, अतएव तपस्या के बेत्र में भी इनकी अत्यन्त समुद्दिष्ट विश्वासी रहती है। वैराग्य से परिपूर्ण इनका मन आत्मा की ओर पूर्ण उन्मुख है। अब वह अधिक बहिर्भूत को आत्महित के लिए ब्राह्मण सोच रहा है।

प्रजा को उपदेश

अपने समीप प्रजा को प्रभु ने कहा 'शोकं त्यजत भोः प्रजाः'— और प्रजाजन ! तुम शोक भाव का परित्याग करो। तुम्हारी रक्षा के हेतु भरत को राजा का पद दिया है, 'राजा वो रक्षणे दक्षः स्थापितोभरतो मया'। तुम भरतराज की सेवा करना। भगवान् ने सर्वतोभद्र नरेन्द्र भवन परित्याग करते समय एकबार पहले बंधु वर्ग से पूछ लिया था, किर भी उन जगत् पिता ने सर्व इष्ट जनों को धैर्य देते हुए पुनः अनुज्ञा प्राप्त की। यह उनकी महानता थी।

दीक्षा विधि

उस बन में देवों ने चन्द्रकांतमणि की शिला पहिले ही रख दी थी। इन्द्राणी ने अपने हाथों से रत्नों को चूर्णकर उस शिला पर चौक बनाया। उस पर चन्दन के मांगलिक छीटे दिए गए थे। उस शिला के समीप ही अनेक मंगल द्रव्य रखे थे। भगवान् उस

शिला पर विराजमान हो गए : आसपास देव, मनुष्य विद्याधरादि उपस्थित थे ।

परिग्रह-त्याग तथा केशलोच

भगवान ने यवनिका (पर्दा) के भीतर चल, आभूषणादि का परित्याग किया । उस त्याग में आत्मा, देवता तथा सिद्ध भगवान ये तीन साक्षी थे महापुराण में लिखा है : —

तत् सर्वं विभूत्याद्वीद् निवृयैषेद् त्रिसाक्षिकम् ॥१७—१८६॥

भगवान ने अपेक्षा रहित होकर त्रिसाक्षीपूर्वक समस्त परिग्रह का त्याग कर दिया । अनन्तर भगवान ने पूर्व की ओर मुख करके पश्चासन हो सिद्ध परमेश्वरी को नमस्कार किया और पंचमुष्टि केशलोच किया । पंच अंगुजि निर्मित मुष्टि के द्वारा संपादित केशलोच करते हुए वे पंचमगति को प्रस्थान करने को उगत परम पुरुष द्रव्य, देवता, काल, भृत तथा भावहृष पञ्च परावर्तनों का मूलोच्छेद करते हुए प्रतीत होते थे ।

महामौन व्रत

अब ये प्रमु सचमुच में महामुनि, महामौनी, महाध्यानी, महादम, महाक्षम, महाशोल महायज्ञबले तथा महामख्युक्त बने गए : —

महामूनिर्भहामौनी महाध्यानी महादमः ।

महाक्षमः महाशोलो महायज्ञो महामखः ॥

इन महामुनि प्रमु का मौन अलौकिक है । इनका मौन अब केवलज्ञान को उपलब्धिपूर्वक रहेगा । इनकी हृषि बहिर्जंगत् से अंतर्जंगत् की ओर पहुँच चुकी है । इसलिए राग उत्पन्न करने की असाधारण परिस्थिति आने पर भी इनने बोतराग वृत्ति को निष्कलंक रखा । इनके चरणानुरागी चार हजार राजाओं ने इनका अनुकरण कर दिगम्बर मुद्रा धारण की थी । परीषहों को सहने में असमर्थ हो बै भ्रष्ट होने लगे । और भी विशिष्ट परिस्थितियों समक्ष आईं । दुर्बल मनोवृत्ति वाला ऐसे प्रसंगों पर मोह के चक्र के कंसे बिना न रहता, और कुछ न कुछ अवश्य कहता, किन्तु ये बीतराग जिनेन्द्र महामौनी ही रहे आए ।

यदि भगवान् ने मौनक्रत न लिया होता और उनका उपदेश प्राप्त होता, तो उनके साथ मैं दीक्षित चार सहस्र राजाओं को प्रभु द्वारा उद्बोधन प्राप्त होता तथा उनका स्थितीकरण होता। उन प्रभु को भी छह माह से अधिक काल पर्यन्त अहार की प्राप्ति नहीं हुई, क्योंकि लोगों को सुनियों को आहार देने की पद्धति का परिज्ञान न था। यदि भगवान् का मौन न होता, तो चतुर व्यक्ति को प्रभु के द्वारा श्रावकों के कलेचय का स्वरूप सहज ही अवगत हो सकता था।

मौन का रहस्य

कोई व्यक्ति पूछ सकता है कि मौन लेने मैं क्या लाभ है? प्रकृति के द्वारा प्राप्त संभाषण की सामग्री का लाभ न लेना अनुचित है।

इस शंका का समाधान महान् योगी पूर्वयाद महर्षि की इस उक्ति से हो जाता है :—

जनेभ्यो वाक् ततः स्फन्दो मनसश्च चित्त-विभ्रमः ।

भवति तस्मात्संसर्गं जनैर्येषां ततस्त्वजेत् ॥ रामाधिशतक ७२ ॥

लोक संपर्क होने पर बचनों की प्रवृत्ति होती है। इस बचन प्रवृत्ति के कारण मानसिक विकल्प उत्पन्न होते हैं। उससे चित्त में विभ्रम पैदा होता है। अतएव योगी जन-संसर्ग का परित्याग करे।

मन को जीतना अत्यन्त कठिन कार्य है। तनिक भी चंचलता का कारण प्राप्त होते ही मन राग द्वेष के हिंडोले मैं भूलना प्रारम्भ कर देता है; अतएव जिन महान् आत्माओं ने योग विद्या का अंतस्तत्त्व समझ लिया है, वे मौन को बहुत भवत्व देते हैं। मौन के आश्रय से चित्त की चंचलता को न्यून करने मैं सहायता प्राप्त होती है। आत्मा की प्रसुप्त लोकोत्तर शक्तियां जाग्रत होती हैं। मोक्षपुरी के पथिक की प्रशृति संसार बन मैं भटकने वाले प्राणी की अपेक्षा पूर्णतया घुटक होती है।

तीर्थकर भगवान् ने जीवन मैं सदा ऐष्ट कार्य ही संपन्न किए हैं। तप के क्षेत्र मैं भी पदार्पण करने पर उनकी संयम-साधना

इस कथन के प्रकाश में उल्लेनात्मक दलवान के अन्वर्सी बिदान् जैनधर्म का अतिलत्व वेदों के मूर्खकालीन तर्कपर करते हैं इर्थकि जैनधर्म के संस्थापक भगवान ऋषुमदेव या अतिलत्व वेदों के भी मूर्ख का सिद्ध होला है। इससे उन लोगों का उत्तर हो आता है, जो जैनधर्म का स्वतंत्र अतिलत्व स्वोकार करने में कठिनदार का अनुभव करते हैं। व्रक्षशठ बिदान् दाक्षय भंगलदेव एम. द. डी. लिट्, काशी के वे विचारण गंभीर तत्त्वचिन्तन के फल स्वरूप लिखे गए हैं, “वेदों का, विशेषतः यशोदेव का काल अतीत धार्तीन है। उसके नादमीथ सत्त्वश सूखी होता भी गे उत्कृष्ट दार्शनिक विचारधारा पाई जाती है। ऐसे युग के लाल जर्मनिक दक्षिण के कार्य निर्वहक तत्त्वदेवकाराओं की सुनिता आदि के रूप में शत्यत जटिल वैदिक कर्मरूप ही आर्य जाति का परम व्येश हो रहा था, उपर्युक्त उत्कृष्ट दार्शनिक विचार की संगति बैठाना कुछ कठिन ही दिखाई देता है। हो सकता है कि उस दार्शनिक विचारधारा का आदि लोत वैदिक धारा से पृथक चा उससे पहले का हो ।”

“ब्रह्मसूत्र शार्करभाष्य में “कृष्णिल-सांख्यवृत्त्वर्णन” के लिये सन्दर्भ अनैदिक कहा है। (फुल्नोट—“न तदा श्रुतिविश्वद्वृष्टिं कापिलं भत्तं शब्दातुं शब्दयम्। व्र० य० शा० भा० २।१।१”) इस कथन से तो हमें कुछ ऐसी अविनि प्रतीत होती है, कि उसकी परम्परा प्राचौदिक या वैदिकेतर ही सकती है। लेकिन कुछ भी हो, शूद्रवेद संहिता में जो उत्कृष्ट दार्शनिक विचार अनिकत हैं, उनकी त्वयं परम्परा और भी प्राचीनतर होगी चाहिये। हॉ० महालदेव का यह कथन ध्यान देने योग्य है—(१) “जैनदर्शन की रारी दार्शनिक दृष्टि वैदिक दार्शनिक दृष्टि से स्वतन्त्र ही नहीं, यिन्हीं भी है। इसमें किसी को रंदेह नहीं हो सकता। (२) हमें तो ऐसा प्रतीत होता है, कि उपर्युक्त दार्शनिक धारा को इसने ऊपर जिस प्राचौदिक परम्परा से जोड़ा है, मूलतः जैन-दर्शन भी उसके स्वतन्त्र-विकास की एक शाखा हो सकता है।

(१) जैनदर्शन की गूमिका, पृष्ठ १०

(२) स्व० जर्मन शोधक बिदान् दा० जैकोची ने जैनधर्म की स्वतन्त्रता तथा गौणिकता वर अन्तर्राष्ट्रीय कायेत में चर्चा करते हुए कहा था—

“In conclusion let me assert my conviction that Jainism is an original system, quite distinct and independent from all others and that therefore it is of great importance for the study of philosophical thought and religious life in ancient India”.

सर्वोपरि रही है।' अतएव केवलज्ञान की उपलब्धि होने पर्यन्त उन्ने श्रेष्ठ मौन ब्रत स्वीकार किया।

विशेष कारण

उनके श्रेष्ठ मौन का एक विशेष रहस्य यह भी प्रतोत होता है, कि अब वे मुख्यता से अंतः निरीक्षण तथा आत्मानंद में निषम्बन्ध रहने लगे। अबवे विशुद्ध तत्त्व का दर्शन कर रहे हैं। जब तक भगवान् ने मुनि पदबी लही ली थी, तब तक उनको महान् ज्ञानी भाना जाता था। थे भी वे महान् ज्ञानी। जन्म से अवधिज्ञान की विमल हास्ति 'उनको प्राप्त हुई थी; दीक्षा लेने के उपरान्त वे प्रभु मनःपर्ययज्ञान के अधिपति हो जाते हैं। उनके ज्ञायोपशास्त्रिक ज्ञान चतुष्पथ अपूर्व चिकास से प्राप्त हो रहे हैं, किन्तु वे आत्मनिरीक्षण द्वारा स्वयं को ज्ञानावरण, दर्शनावरण के जाल में फँसा हुआ देखते हैं। इसीलिए दीक्षा लेने के बाद जब तक साधना का परिपाक कैवल्य ज्योति के रूप में नहीं होता है, तब तक भगवान् को 'छडास्थ' शब्द से (आगम में) कहा गया है। अपरिपूर्ण ज्ञान की स्थिति में परिपूर्ण तत्त्व का प्रकाशन कैसे संभव होगा ? ऐसी स्थिति में मौन का शरण स्वीकार करना उचित तथा श्रेयस्कर है।

इस प्रसंग से तत्त्वदर्शी परम योगी पूज्यपाद मुनीन्द्र का यह कथन बहुत भास्त्रिक है :—

यन्मया दृश्यते रूपं तत्त्वं ज्ञानाति सर्वया ।

जानल्ल दृश्यते रूपं ततः केन ब्रह्मोपद्धभ् ॥ १८ ॥

मैं नेत्रों के द्वारा जिस रूप का (शरीर का) दर्शन करता है, वह तो पूर्णतया ज्ञान रहित है। ज्ञानवान् आत्मा मैं रूपादि का असद्ग्राव हूँ। उसका दर्शन नहीं होता है; ऐसी स्थिति मैं किसके साथ व तच्चीत की जाय ?

आचार्य का भाव सूक्ष्म है। मैं तो ज्ञानमय चैतन्य ज्योति हूँ। दूसरे व्यक्ति के शरीर मैं विद्यमान ज्ञानभय आत्मा का दर्शन नहीं होता। दर्शन होता है रूपी देह का, जो ज्ञान रहित है; अतः ज्ञानवान् आत्मा ज्ञान रहित शरीर से किस प्रकार वार्तालाप करे ? इस विचार द्वारा साकु बाह्य जल्य को बंद करते हैं। मन मैं जो अंतर्जल्य होता है, उस

विकल्प के विषय में स्वानुभूति का असृत रसपान करने वाले आत्मनिमग्न साधु सोचते हैं :—

यत्पैः प्रतिपाद्योहं यत्परान् प्रतिशद्ये ।

उन्मत्तचेष्टिं तन्मे यदहं निर्विकल्पकः ॥ १६ ॥

मैं चबनादि विकल्पों से रहित निर्विकल्प आवस्या बाला हूँ; अतः मैं दूसरों के द्वारा प्रतिपाद्य हूँ (प्रतिपादन का विषय हूँ) अथवा मैं दूसरों को प्रतिपादन करता हूँ, ऐसी भेरी चेष्टा यथार्थ में उन्मत्त की ऐष्टा सदृशा है। इस चिंतन द्वारा मुनीन्द्र अंतजल्प का भी त्याग करते हैं।

निश्चयदण्डि की प्रधानता

अगवान् का लक्ष्य है, शुक्ल श्याम की उपलब्धि। उनने सुमुछु होने के कारण विशुद्ध तपत्वक हृषि को प्रमुख बनाया है। अब वे आत्म-संपेत निरत्य हृषि को प्रधानता देते हैं। इसलिए वे स्वोपकार में संलग्न हैं। परोपकार संपादनार्थी चौलने की रागात्मक परण्णति उन्हें मुक्ति की प्राप्ति में जाधक लगती है; इनकी हृषि है कि कोई किसी दूसरे जीव का न द्वित कर सकता है, व अहित ही कर सकता है। कार्तिकेयानुशेषा में कहा है ‘न कोवि जीवस्स कुण्ठ उवयारं’— जीव का कोई अन्य उपकार नहीं करता है। “उवयारं अवयारं कर्म पि सुहासुहं कुण्ठि” (३१६ गाथा) शुभ तथा अशुभ कर्म ही जीव का उपकार तथा अपकार करते हैं। अध्यात्मशास्त्र स्वतत्त्व की मुख्यता से कहता है, कि एक द्रव्य दूसरे का कुछ भी मला बुरा नहीं करता है। समयसार में कितनी सुन्दर बात लिखी है :—

अरण्णदविष्णु अरण्णदविष्ट्यस्य णा कोरए गुणुप्पाऽम्रो ।

तद्वा उ सव्यदब्ला उप्पज्जते सहायेण ॥ ३७२ ॥

अन्य द्रव्य के द्वारा अन्य द्रव्य में गुण का उत्पाद नहीं किया जा सकता, अतएव सर्व द्रव्य स्वभाव से उत्पन्न होते हैं।

मोक्षभिलाषी अमणि की हृषि यदि तनिक स्व से बहिर्भूत हो गई, तो उस आत्मा को लक्ष्य से छुत हो जाना पड़ता है। सुद्धमतम भी रागांश अगकर इस आत्मा को संसार जाल में फँसा देता है।

तीर्थकर

हरिवंशपुराण में लिखा है कि दुर्योधन के कुदुम्बियों ने अत्मध्यान में निरग्न पांचों पांडवों पर भयंकर उपसर्ग किए थे। अग्नि में संतप्त लोहमयी आभूषण उनके शरीर को पहिनाए थे। उस उष्ण परीष्व को उनने शांत भाव से सहन किया था। “रीढ़ं दाहोपसर्गं ते मेनिरे हिमशीतलम्” (सर्ग ६५—२१) उनने भीषण दाह की बेदना को हिम सहश शीतल माना।

शुक्लध्यानसमविष्टा भीमजुनयुविष्टिरः ।

कृत्वाष्टविष्टकर्मीन्तं मोक्षं जग्मुक्ष्योऽक्षयं ॥ २२ ॥

भीम, अजुन तथा युधिष्ठिर ने शुक्ल ध्यान को धारणकरके आठ कर्मों के त्रय द्वारा अविनाशी मोक्ष को प्राप्त किया।

विद्विष्टि का परिणाम

उस समय नकुल तथा सहदेव का ध्यान ज्येष्ठ बन्धुओं के देहदाह की ओर चला गया, इससे उनकी मोक्ष के स्थान में सर्वार्थ-सिद्धि में जाकर तेतीस सागर प्रमाण स्वर्ग में रहना पड़ा। इस समय तीन पांडव मोक्ष में हैं, किन्तु नकुल और सहदेव संसार में ही हैं हरिवंशपुराण में लिखा है :—

नकुलः सहदेवश्च ज्येष्ठदाहं निरीक्ष्य तौ ।

अनाकुलितचेतस्कौ जातौ सर्वार्थसिद्धिजौ ॥ ६५—२३ ॥

नकुल तथा सहदेव ने ज्येष्ठ बन्धुओं के शरीर-दाह की ओर दृष्टि दी थी, इससे आकुलता रहित मनोषुक्तियुक्त होते हुए भी वे शुद्धोपयोग विहीन होने से मोक्ष के बदले सर्वार्थसिद्धि में पहुँचे।

इस हृषीकेश से यह बात स्पष्ट होती है, कि अल्पमी रागांश-अग्नि कण के समान तपश्चर्यालूप तृणराशि को भस्म कर देता है; अतएव जिस जन कल्याण को पहले गृहस्थावस्था में भगवान ने मुख्यता दी थी, अब उस ओर से उनने अपना मुख पूर्णतया मोड़ लिया। वे महाज्ञानी होने के कारण मोहनीय कर्म की कुत्सित प्रवृत्तियों का रहस्य भली भाँति जानते हैं।

उज्ज्वल जीवन द्वारा उपदेश

एक बात और है, सच्चे तपस्वी मुख से उपदेश नहीं देते,

तीर्थेकर

किन्तु उनका समस्त वीतरागता पूर्ण जीवन मोक्षमार्ग का प्रतिपादन करता हुआ प्रतीत होता है। पूज्यपाद आचार्य के ये शब्द अत्यन्त मार्मिक हैं 'अवाग्निसर्गं वपुषा मोक्षमार्गं' निरूपयंतं निर्वन्धाचार्यवर्यम्' अर्थात् वाणी का उचारण किए बिना ही अपने शरीर के द्वारा ही भोक्त के मार्ग का निरूपण करने हुए निर्वन्धाचार्य शिरोमणि थे; अतएव उद्घवल-आत्मा का जीवन ही श्रेष्ठ तथा प्रभावप्रद उपदेश देता है। भगवान की समस्त प्रवृत्तियाँ अहिंसा की ओर केन्द्रित हैं।

मौन वाणी का प्रभाव

मौनात्मस्यां मैं भी संदेहनशील पशु तक भी उस अहिंसा पूर्ण मौनोपदेश को अवधारणकर सम्यक् छाचरण करने हुए पाए जाते थे। महापुराणकार लिखते हैं :—

मृगतिलं समुत्सृज्य सिंहः संहतवृत्तयः ।

बभूर्गजयथेन मातृत्वं त द्वि योगदम् ॥ १८—८२ ॥

सिंह हरिण आदि जन्तुओं के साथ वैरभाव छोड़कर हाथियों के समुदाय के साथ मिल और रहने लगे थे। यह सब प्रसु के योग का प्रभाव ही था।

प्रस्तुवाना महाव्याघ्री रुपेत्य पृगशावकाः ।

स्वजनन्यास्थया स्वैर फौत्या स्म सुखमाप्ते ॥ १८—८४ ॥

मृगों के बच्चे दूध देती हुई माता वाधनियों के पास जाते हैं। वे उनको स्व-जननी सोचकर इच्छानुसार दूध पीकर सुखी हो रहे हैं।

शक्ति संचय

मौन द्वारा भगवान अलौकिक शक्ति संचय कर रहे हैं, उसके फल स्वरूप केवलज्ञान होने पर उनकी दिव्यध्वनि द्वारा असंख्य जीवों को सचे कल्याण की प्राप्ति होती है। इस विवेचन के प्रकाश मैं सभी तीर्थेकरों का दीक्षा के उपरान्त मौन धारण करने का हस्तिकोण स्पष्ट ही भावा है। यद् लौम महान तप है, इच्छाओं के नियंत्रण का महान कारण है।

त्यागे गये बस्त्रादि का आदर

भगवान ने दीना लेकर तपोवन का रास्ता प्रहण किया । पूर्वमें उनसे संबंध रखने वाले बस्त्रादि के प्रति इन्द्रादि ने बड़ा आदर भाव व्यक्त किया । यथार्थ में वह आदर भगवान के प्रति समझना चाहिए । यहां तुराण-आदर कहते हैं—

बस्त्राभरण-भालयानि यान्युन्मुक्तान्यवीशिना ।

तान्पत्यनन्यसामान्यां निन्युस्त्युक्तिं सुराः ॥ १७-२१९ ॥

भगवान बस्त्र, आभूषण, माला-आदि का त्याग किया था । देवों ने उन सब का असाधारण आदर किया था ।

केशों की पूज्यता

केशलोच के उपरान्त केशों का तक आदर हुआ । भक्त इन्द्र की दृष्टि बड़ी अपूर्व थी । केश वास्तव में अपवित्र हैं । आहार में केश के आ जाने से हुनिजन अंतराय मानते हैं । गृहस्थों तक को यह अंतराय मानना आवश्यक कहा गया है, फिर भी वे केश पवित्र थे, क्योंकि भगवान के मस्तक पर उनने बहुत काल तक निचास किया था । आचार्य कहते हैं—

केशान्मग्नतो मूर्ज्जि चिरवासाद्वित्रितान् ।

प्रत्यैच्छन्मवदा रत्नपटल्यां प्रीतमानसः ॥ १७-२०४ ॥

भगवान के मस्तक पर चिरकाल से स्थित रहने के कारण पवित्र हुए केशों को इन्द्र ने प्रेम पूर्ण अंतःकरण से रक्ष के पिटारे में रख लिया ।

धन्याः केशाः जगद् भर्तुः येऽधिमूर्ध्मविषिताः ।

धन्योसौदीरसिन्दुश्च यस्तानाप्यत्यपायनम् ॥ २-८ ॥

ये केश धन्य हैं जो त्रिलोकीनाथ के मस्तक पर स्थित रहे । यह दीर समुद्र भी धन्य है, जो इन केशों को भेंट स्वरूप प्राप्त करेगा ।

ऐसा विचार कर इन्द्रों ने उन केशों को सादर दीर समुद्र में विसर्जन कर दिया । आचार्य कहते हैं—

महाता संशयान्नुन यान्तोऽयां भिर्गा अपि ।
मलिनैरपि वलेशैः पूजायाप्ता श्रितैर्गुह्म ॥ २१० ॥

मलिन पदार्थ भी महान आत्माओं का आश्रय लेने से इच्छा अर्थात् पूजा को प्राप्त होते हैं। भगवान के मलिन (श्यामबर्ण बाले) केशों ने भगवान का आश्रय प्रहण करने के कारण पूज्यता प्राप्त की।

इस श्लोक के अर्थ पर यदि गहरा विचार किया जाय, तो कहना होगा कि यदि मलिन केश अचेतन होते हुए भगवान के संपर्कबश पूजा के पात्र होते हैं, तो अन्य सचेतन आराधक विशेष भक्ति के कारण यदि पूजा के पात्र कहे जाय, तो इसमें क्या आपत्ति की जा सकती है ?

जिस चैत्र कृष्णनवमी को भगवान ने दीक्षा ली थी, वह दिवस पवित्र माना जाने लगा। जिस वृक्ष के नीचे भगवान ने दीक्षा ली थी, वह बट वृक्ष आदर का पात्र हो गया। समवशरण में वह बट वृक्ष अशोक वृक्ष के रूप में महान प्रतिष्ठा का स्थान हो गया। वह अष्ट प्रातिष्ठाओं में सम्मिलित किया गया। इन पदार्थों में स्वयं पूज्यता नहीं है। जो इन वृक्षों की स्वयं के कारण पूज्य मानता है, वह तत्वज्ञ नहीं माना गया है।

सामायिक-चारित्र-धारण

भगवान ने दीक्षा लेते समय सिद्ध भगवान को प्रणाम करते हुए सर्व सावधान्योग त्याग रूप सामायिक चारित्र धारण किया था। महामुराण में लिखा है—

कृत्स्नाद् विम्य सावधान्द्रूतः सामायिकं यमम् ।

त्रत-गुप्ति - समित्यादीन् तद्भेदानादेदे विभुः ॥ १७-२०२ ॥

समस्त पापारंभ से विरक्त होकर भगवान ने सामायिक चारित्र धारण किया। उनने त्रत, गुप्ति, समिति आदि चारित्र के भेद भी प्रहण किए थे।

दीक्षा लेते ही वे साम्राज्य रक्षा आदि के भार से मुक्त हो गए। साम्राज्य का संरक्षण अनेक चिताओं एवं आकुलताओं का हेतु रहता है। दीक्षा लेते ही आत्मयोगी वृषभनाथ भगवान को

बिलदाण शांति प्राप्त हुई। उनके मन में ऐसी विरागता तथा विशुद्धता उत्पन्न हुई कि उनमे छह माह का लम्बा उपवास ग्रहण कर लिया। उनकी वहिंगत से तो पर्ण विमुख हृषि है, वे लंतल्योति औ जगाकर चुन चुनकर कर्म शत्रुओं का विनाश करने में तत्पर हैं। भगवान् देखने में परम शांत हैं। प्रशम भाव के प्रशान्त महासागर तुल्य लगते हैं, किन्तु कर्म शत्रुओं का नाश करने में वे अत्यन्त द्वाहीन हो गए हैं। कूरता पूर्वक चिरसंचित कर्मरूपी हृष्णन को वे ध्यानामिन में भस्म कर रहे हैं।

आध्यात्मिक साधनामें निमग्नता

कर्मचशुओं से देखने पर ऐसा लगता है कि जो पहले निरन्तर कार्यशील प्रजापति थे, वे अब विश्राम ले रहे हैं या अकर्मलय बन गए हैं, क्योंकि उनका कोई भी कार्य नहीं दिखता। आज का भौतिक दृष्टि युक्त व्यक्ति कोलट के बैल की तरह जुते हुए मानव को ही कार्यशील सोचता है। जिस व्यक्ति को खाने की फुरसत न मिले, सोने को पूरा समय न मिले, ऐसे कार्य-संलग्न चित्तामय मानव को लोग कर्मठ पुरुष मानते हैं; इस दृष्टि से तो तपोबन के एकान्त स्थल में विराजमान ये साधुराज संसार के उत्तरदायित्व का स्थान करनेवाले प्रतीत होंगे; किन्तु यह दृष्टि अङ्गान तथा अविवेक पूर्ण है। अब ये महामुनि अत्यन्त सावधानी पूर्वक आत्मा के कलंक प्रकालन में संलग्न हैं। आत्मा को सुसंस्कृत बनाने के महान आध्यात्मिक उद्योग में निरत हैं। अनादिकालीन विपरीत संस्कारों के कारण मन कुमारी की ओर जाना चाहता है, किन्तु ये आध्यात्मिक महायोद्धा बलपूर्वक मन का नियंत्रण करते हैं। जैसे भयंकर हत्या करने वाले आततायी ढाकू पर पुलिस की कड़ी निगाह रहती है; एक जण भी उस ढाकू को स्वच्छाद नहीं रखा जाता, उसी प्रकार ये मुनीन्द्र अपने मन को आत्मध्यान, रौद्रध्यान रूपी ढाकुओं से बचाते हैं। उसे स्वकलथाण के कार्यों में सावधानी पूर्वक लगाते हैं।

शासन व्यवस्था करने समय सुचतुर शासक को जितनी चिता रहती है तथा श्रम डाना पड़ता है, उससे अधिक उच्चोग प्रभु का चल रहा है। “वैराग्यभाषना नित्यं तत्वानुचितनम्” का

तीर्थकर

महान् कार्यक्रम सदा चलता रहता है। जैसे भूमि के प्रमाण नहीं करते हैं। जैसे शीघ्र का चक्र एक जगह रहते हुए भी वहें वेग से गति-शील रहता है। अत्यधिक गतिशीलता के कारण वह स्थिर रूप सरीखा दिखाई पड़ता है, इसी प्रकार की तीव्र गति इन योगिराज की ही रही है। भागी व्यक्ति वास्तव में योगी की आंतरिक स्थिति की इसी प्रकार नहीं जान सकता, जैसे अन्य व्यक्ति चक्रज्ञान मानव के हान की कल्पना नहीं कर सकता है।

आत्मज्ञान

भगवान् ने जगत् की तरफ पीछकर ही है। अब उनका मुख आत्मा की ओर है। वे महान् आत्म-ज्ञान में लगे हैं। यह यज्ञ विलक्षण है। क्रोधाभिन्, कामाभिन् एवं उद्दराभिन् रूप तीन प्रकार की अग्नि प्रदीप हैं। वे क्रोधाभिन् में जना की आहुति, कामाभिन् में वैराग्य की आहुति तथा उद्दराभिन् में अनशन की आहुति अपेण करते रहते हैं। गुणभद्राचार्य ने उत्तरपुराण में लिखा है :—

त्रयोऽन्नः समुद्दिष्टः क्रोध-कामैदराभिनः ।

तेषु चमनिरागत्वानश्चनाहुतिभिर्वै ॥ ६७ पर्व २०२ ॥

इस आत्मज्ञान के फल स्वरूप प्रत्येक साधक साधु शीघ्र ही सिद्ध भगवान् की पदवी को प्राप्त करता है।

मनः पर्ययज्ञान के विषय में उत्प्रेक्षा

जब भगवान् ने परिग्रहादि का परित्याग करके स्वचंद्रुद्ध अमण्ड वृत्ति अंगीकार की थी, तब उनकी पंचम गुण स्थान से सातवें गुण स्थान की अवस्था प्राप्त हुई थी; अंतर्मुद्दृत के पश्चात् वे प्रमत्त संयत बन गए। प्रमत्त दशा से अप्रमत्तता की ओर चढ़ना उत्तरना जारी रहता था। शीघ्र ही भगवान् के मनः पर्ययज्ञान की प्राप्ति हो गई। यह ज्ञान परिग्रह त्यागी दिगम्बर भावलिंगी मुनिराज के ही होता है, गृहस्थ इस ज्ञान के लिए अपात्र हैं। इस सम्बन्ध में गुणभद्राचार्य ने वही सुन्दर उत्प्रेक्षा की है। वे कहते हैं, भगवान् ने परिग्रह त्याग करके सामायिक संयम का स्वीकार किया है। संयम से भगवान् को मनः पर्ययज्ञान प्रदान किया है, वह एक प्रकार से केवलज्ञान का व्यापा

समान है। जैसे व्यापारी वर्ग किसी वस्तु का सौदा पक्का करने के देतु विश्वास संपादन निमित्त कुछ द्रव्य पहले ही दे देते हैं, इसी प्रकार अन्त में केवलज्ञान रूप निधि प्रदान करने के पूर्व मनः पर्यवेक्षण की उत्पत्ति संयम के द्वारा प्रदत्त व्याना की रक्षा सदृशा है। आचार्य के मार्मिक शब्द इस प्रकार हैं:-

क्तुधोऽप्यवबोधस्य संथेन समर्पितः ।
तदैवात्यावबोधस्य स्थेनकार हृदेशितः ॥ ३७—३९२ ॥

दीक्षा लेने के अन्तर हीं संयम ने केवलज्ञानके व्याना (सत्यंकार) के समान भगवान को मनभवयज्ञान नामका चौथा ज्ञान समर्पण किया था।

प्रश्न की पूजा

महाराज भरत ने महामुनि ऋषभनाथ भगवान की अष्टद्रव्यों से भक्तिपूर्वक पूजा की। जिनसेन स्वाभी लिखते हैं, कि भरत महाराज ने विविध फलों द्वारा पूजा सम्पन्न की थी:-

परिणातफलभेदैरप्न-जम्बूकपित्त्वैः ।
पनस-लकुञ्ज-मौचे: दाढिभैमी-कुलिगैः ॥
क्रमुकलचिरगुच्छैर्नीलिकैश्चरस्यैः ।
गुरुचरणसपर्वीमातनोदातत्त्वीः ॥३७—२५२॥

समृद्ध लक्ष्मीयुक्त महाराज भरत ने पके मनोहर आम, जामुन, कैशा, कटहल (पनस), बडहल, केला, अनार, बिजौरा नीबू, सुपारियों के सुन्दर गुच्छे तथा रमणीय नारियलों से बीतराग गुह के घरणों की पूजा की थी।

बीतराग-बृत्ति

कोई पूजा करे तो उस पर उनका रागभाव नहीं था। कोई पूजा, सत्कार न करे, तो उस पर उनके मन में द्वेषभाव नहीं था। वे तो यथार्थ में बीतराग थे। लोग सामान्यतया अध्यात्म की रचना को पढ़कर अपने को बीतराग समझने लगते हैं। गृहवास करने वाला व्यक्ति राग, द्रेष, भौह तथा ममता की मूरति रहता है। सहस्र चिंताओं

तीर्थेकर

तथा आकुलताओं का भण्डार रहता है। परिग्रह का संचय करनेवाला बाचनिक वीतरागता के क्षेत्र में विचरण कर सकता है। जिन अकिञ्चन वृत्ति को अङ्गीकार किए स्वर्य में वीतरागता का अभिनिवेश शब्दान को सिंह मानने सहश अपरमार्थी बात है। किनी गीत को यदि गा लिया कि, हे चेतन ! तू तो कर्ममल रहित है, रागदेष रहित है, तू सिद्ध परमात्मा है। उस गीत का गान करते हुए नेत्रों से आनन्द के अशु भी उपक पड़े, तो क्या वह गुहस्य वीतराग विज्ञानता का रस-पान करने लगा ? वीतरागता की प्राप्ति तुलजाने वाले तथा खड़े होने में तक असमर्थ बच्चों का खेल नहीं है। अपना सर्वस्व त्याग करके जब आत्मा परमार्थितः स्वाधीन वृत्ति की स्वीकार करता है, तब उसे वीतरागता की आंशिक उपलब्धि होती है। निर्ग्रन्थ भावलिंगी प्रमत्त संयत गुणस्थानवर्ती साधु के पास दूज के चन्द्रमा समान वीतरागता की अल्प ज्योति आती है। मोह कर्म का पूर्ण क्षय होने पर वीतरागता का पूर्णचन्द्र अपनी ज्योत्स्ना द्वारा मुमुक्षु की वर्णनातीत आनन्द तथा शान्ति प्रदान करता है। ऐसे महापुरुष के पास अंतर्मुद्दर्त में ही अनन्तज्ञान, अनन्त सुख, अनन्त वीर्य आदि गुण उत्पन्न हो जाते हैं।

स्वावलम्बी जीवन

भगवान अब वीतरागता के पथ पर चलने को उद्यत हैं, इससे वे यह नहीं सोचते, कि मैं महान् वैभव का स्वामी रहा हूँ तथा मैं रहनजटित सिद्धासन पर बैठा करता था। मैं मुरेन्द्र द्वारा लाई गई अपूर्व सामग्री का उपभोग करता था। अब वे तीन लोक के नाथ भूतल पर सोते थे। उनको पृथ्वी तल पर बैठे या लेटे हुए देखकर ऐसा प्रतीत होता था, मानो ये माता प्रकृति की गोद में ही बैठे हों। मुनि सामान्य के लिए परमागम में प्रतिषादित अट्टाईस मूलगुणों का ये पालन करते थे। तीर्थंकर होने के कारण इनको संयम पालन में कोई विशेष सुविधा नहीं दी गई थी। दीक्षा लेने के पश्चात् ये सिंह सहश एकाकी साधु परमेष्ठी के रूप में थे। ये न आचार्य पदवी बाले थे, न उपाध्याय पद बाले थे। ये तो साधुराज थे। इनको देखकर यह प्रतीत हो जाता है कि परमार्थ दृष्टि से साधु का पद बहुत कॅचा है। जब आत्मा श्रेणी पर आरोहण करता है, तब वह साधु ही तो रहता है। आचार्य, उपाध्याय

उसकी सारी दृष्टि से तथा उसके कुछ पुढ़ल जैसे विशिष्ट पारिभाषिक शब्दों से इसी बात की युक्ति होती है । ”

कुछ ब्रातों में सम्मता देखकर दोनों विचारधाराओं को सर्वथा एक अधिका कुछ भिन्नता देख उनमें भव्यकर विरोद की कल्पना गम्भीर विचार की दृष्टि में अनुचित है । सद्मावना के जागरण-निमित्त संस्कृतियों के भव्य ऐवय के बीजों का अन्वेषण आवश्यक है जैसे जैनधर्म में छुने पानों का उपयोग करना आवश्यक बताया गया है । वैदिक शास्त्र भागवत अध्याय १८ में लिखा है कि वानश्च आश्रमवाला व्यक्ति छुना जल पीता है । कहा भी है ।—

दृष्टिपूर्तं न्यसेत्पादं, वस्त्रपूर्तं पिवेऽजलम् ।

सत्यपूर्तं दैद्वाचं, मनःपूर्तं समाच्छेत् ॥१५॥

दृष्टि द्वारा भूमिका निरीक्षण करने के उपरान्त गमन करे, वस्त्र से छुना हुआ पानी पीवे, सत्य से पुनर्जित वाणी बोले तथा पवित्र चित्त होकर कार्य करे ।

भागवत में जो संत का स्वरूप कहा गया है, वह बहुत अप्रकट है । उसमें दि० चैन सुनराज अंतर्भूत हो जाते हैं । कहा भी है ।—

सन्तोऽनपेद्वा भवित्वाः प्रशस्ताः समदर्शिनः ।

निर्ममा निरहंकारा निर्द्वन्द्वा निष्प्रियद्वाः ॥ अथाय २६, २७ ॥

सन्तों को किसी की भी आपेक्षा नहीं रहती है । वे आत्मस्वरूप में मन लगाते हैं । वे प्रश्नान्त रहते हैं तथा सब में साम्यभाव रखते हैं । वे ममता तथा अद्विकार रहते हैं । वे निर्दून्द रहते हैं तथा सर्व प्रकार के परिग्रह रहते हैं । ऐसी एवित्र माधुर्यपूर्ण समन्वयवान्मक सामग्री की भूलकर समाज में असङ्गठन के बीज बोने वाले, संकीर्ण विचारवाले व्यक्ति विद्वेष्यवर्भक सामग्री उपरिभूत कर कलह भावना को शब्दीत करते हैं । गाँधी जी ने ऐसी संकीर्ण वृत्ति को एक प्रकार का प्रगल्भन (insanity) कहा था । उनमें सन् १९४७ में अंगिल मार्टीय कांग्रेस कर्गेटी के समझ कहा था—

हीर्षकर

तो विकल्प की अवस्थाएँ हैं। निर्विकल्प स्थिति को प्राप्त करने के लिए हन उपाधियों से भी मुक्त होना आवश्यक हो जाता है। ये भगवान कर्त्त्व, भोक्तुत्व की विकार हण्डि के स्थान में हावृत्व भाव को अङ्गीकार करते हुए इन्द्रानेतना जनित आत्मरस का पान करते हैं। ऋषभनाथ भगवान ने छह माह का उपवास किया था (छह माह अन्तराय हुए थे)। इसका बास्तविक भाव यह था, कि हन देवाधिदेव के शरीर को पोषक अन्नादि पदार्थ उतने काल तक नहीं मिलेंगे। अन्यात्मतत्व की हण्डि से विचारने पर ज्ञात होगा, कि भगवान वैराग्य रस का विपुल मात्रा में सेवन कर अपनी आत्मा को अपूर्व आनन्द तथा पोषण प्रदान कर रहे हैं। ये मोक्षमार्ग में प्रवृत्त हैं। इनकी आत्मा बाह्य द्रव्यों में विचरण नहीं करती है। मोक्ष शास्त्र का मूलमंत्र समयसार में घटाया गया है, उसकी ये सच्चे हृदय से आराधना करते हैं। प्रत्येक सुमुख के लिए यह उपदेश अत्यन्त आवश्यक है। कुदकुद स्वामी कहते हैं:—

मोक्ष पथ

मोक्षपदे आपाणं छ्येदि तं चेत्र भाहि तं चेय ।

तथेव विहर पित्त्वं मा विहरसु अरणदव्वेसु ॥४१२॥ समयसार

हे भद्र ! तू मुक्तिपथ में अपनी आत्मा को स्थापित कर। उसी आत्मा का ध्यान कर। उसी निजतत्व को अनुभवगोचर बना। उस स्वरूप में नित्य विहारकर कर। अन्य द्रव्यों में विहार मत कर।

असूतचंद्रसूरि कहते हैं:—

एको मोक्षपथो य एष नियतो दग्धस्तिवृत्तात्मकः ।

तत्रैव स्थितिमेति यस्तमानशं ध्यायेच्च तं चेतसि ॥

तस्मलो य निरन्तर विहरति द्रव्यांतराण्यस्पृशन् ।

सोऽवश्यं समयस्य सरमच्छान्तियोदयं विदात ॥२४३॥

दर्शन-ज्ञान-चारित्रात्मक ही मोक्ष का पथ है। जो पुरुष उसी में स्थित रहता है, उसी को निरस्तर ध्याता है, उसी का अनुभव करता

है और अन्य द्रव्यों को स्वर्ण न करता हुआ उस रत्नत्रय धर्म में निरन्तर विहार करता है, वह पुरुष शीघ्र ही सदा उदयशील समय के सार अर्थात् परमात्मा के स्वरूप को प्राप्त करता है।

भगवान के मूलगुण

भगवान पंचमहाब्रत, पंच समिति, तीन गुणि, पञ्चेन्द्रिय रोध, ऐरालोच, दिव्यन्वयन, अस्तुति इति, पद्धतिभूमि, स्थिति भोजन, वित्ति शब्दन तथा अद्वैतधावन रूप अष्टाविंशति मूलगुणों में से २७ गुणों की पूर्ति कर रहे हैं। आहार का छह माह तक परित्याग कर देने से खड़े रहकर आहार लेना इस नियम की पूर्ति नहीं हुई है। ऐसी स्थिति में भी वे प्रभु अद्वैटस मूल गुण वाले ही माने जायेंगे, कारण उनने खड़े होकर ही आहार लेने की प्रतिज्ञा की है।

दीर्घ तपस्या का हेतु

कोई व्यक्ति यह सोचता है, भगवान ऋषभदेव ज्येष्ठ जिनबंर हैं। उनसे परमानन्दती किसी भी तीर्थंकर ने इतना लम्बा उपवास नहीं किया। स्वयं उन प्रभु के आत्मज भरत ने अंतमुहूर्त में केवलज्ञान ग्राह किया था, ऐसी स्थिति में आदिजिनेन्द्र को भी सरल तप का अवलंबन अंगीकार करना चाहिए था।

इस विचित्र प्रश्न के समाधान हेतु यह सोचना आवश्यक है कि सभी की मानसिक स्थिति एक प्रकार की नहीं रहती। तीव्र कर्म संचय होने पर मन की चंचलता समुद्र की लहरों को भी पराजित कर देती है। ऊपर से सुन्दर सुरूप दिखने वाले शरीर के भीतर अनेक विकार पाए जाते हैं तथा वाहर से कुरुप होते हुए भी नीरोगता पूर्ण दैह की उपलब्धि होती है। इसी नियम के प्रकाश में आत्मा के विषय में भी चितवन करना चाहिए। व्यावहारिक दृष्टि से विश्ववंश होते हुए भी अंतरंग दोष राशि का संचय देखकर योगीजन आत्मशुद्धि के लिए तप स्पौदि अग्रि में प्रवेश करते हैं। आत्म सामर्थ्य तथा आवश्यता का विचार कर महाज्ञानी आदिनाथ भगवान ने उपर तपश्चर्थी प्रारम्भ की थी।

कोई सोचता है, इतना महान तपन कर के भगवान को सरलतापूर्ण पद्धति को स्वीकार करना चाहिए था।

यह विचार दोष पूर्ण है। खदान से निकले हुए मलिन रूप धारी सुवर्ण पाषाण को भर्यकर अग्नि में डालते समय यह नहीं सोचा जाता, कि इस बेचारे सुवर्ण के प्रेमचरा अग्नि दाहादि कार्य नहीं किए जाय। चहाँ तो यह कहा जाता है, जितनी भी अग्नि प्रबलित की जा सके, उसे जलाकर सोने को शुद्ध करो। अग्नि सोने को तमिक भी करति नहीं पहुँचाती है। उसके द्वारा दोष का ही नाश होता है। यहाँ स्थिर तपस्या की है। तपोग्नि के द्वारा आत्मा के चिरसंचित दोष नष्ट होकर आत्मा परम विशुद्ध बनती है।

बाह्य-तप साधन है, साध्य नहीं

बाह्य तप स्वयं साध्य नहीं है। अंतरंग तप की उपलब्धि का यह महान साधन है। अतएव आत्मा को शुद्ध करने वाले अंतरंग तप का साधक होने से यथा शक्ति बाह्य तप का अवश्य आश्रय लेना चाहिए। तत्त्वज्ञानी निर्गन्ध शरीर को आत्म ज्योति से पूर्ण सिन्ध मानते हैं। वे आत्म देव की समाराधना की मुख्य लक्ष्य बनाकर उस सामग्री तथा पद्धति का आश्रय लेते हैं, जिससे आत्मा मैं संक्लेश भाव न हो, आर्तध्यान न हो, रौद्रध्यान न हो तथा विशुद्धता की वृद्धि हो। विशुद्ध भावों के होने पर शरीर की वाचा आत्मा को पीड़ा प्रद नहीं होती। आचार्य पूज्यपाद का कथन है कि योगी इतना अधिक आत्मा में तल्लीन रहा करता है, कि उसे अपने शरीर की अवस्था का भान नहीं रहता है। “सः बहिदुःखेयु अचेतनः” वह योगी बाह्य दुःखों के विषय में अचेतन सदृश रहता है। यदि उसका ध्यान जाहरी ओर ही रहा आवे, तो आर्तध्यान के द्वारा आत्मा का भर्यकर अहित हो जाय। इसी कारण जिनागम में त्याग तथा तप के विषय में ‘यथाशक्ति’ शब्द का प्रयोग किया गया है। ‘शक्तिस्त्वाग-तपसी’ रूप तीर्थंकरत्व के हेतु भावना कही गई है।

आत्मयोगी को तप आनन्दप्रद है

एक बात और है, जैसे-जैसे जीव को आत्मा का आनन्द आने लगता है, वैसी-वैसी उसकी विषयों के प्रति विमुखता स्वयमेव हो जाती है। जिस प्रकार मत्स्य को जल में कीड़ा करते समय आनन्द आता है; जल के बिना वह तड़फ़-तड़फ़कर प्राण दे देती है; जल

तीर्थकर

मैं गमन करने में उसे कष्ट नहीं होता, इसी प्रकार आत्मोनुख बनने में सुमुच्छु को सधी विश्रान्ति तथा निराकुलता जनित आनन्द प्राप्त होता है। इष्टोपदेश का कथन वड़ा मार्मिक है :—

यथा यथा समायाति संवित्तौ तत्त्वमुत्तमम् ।

तथा तथा न रोचते विषयाः सुलभा अपि ॥ ३७ ॥

यथा यथा न रोचते विषयाः सुलभा अपि ।

तथा तथा समायाति संवित्तौ तत्त्वमुत्तमम् ॥ ३८ ॥

जैसी-जैसी संवेदन में ऐष्ट तत्त्व-आत्म स्वरूप की उपलब्धि होती है, उसी प्रकार सहज ही उपलब्ध विषय सुख की सामग्री रूचिकर नहीं लगती है। जसे-जैसे सुलभ विषय प्रिय नहीं लगते हैं, वैसे-वैसे संवेदन में आत्म तत्त्व की उपलब्धि होती है।

भगवान के शण-वृण में कर्मों की महान निर्जरा हो रही है। कर्म-भार दूर होने से आत्मा की निर्मलता भी बढ़ रही है। इससे स्वाभाविक शांति तथा आनन्द की बृद्धि भी हो रही है। यह आनन्द उस सुख की अपेक्षा अत्यन्त उत्कृष्ट एवं अलौकिक है, जो प्रभु को गृह-स्थावस्था में तीव्र पुण्यकर्म के विषाक्तवश उपलब्ध हो रहा था। भगवान का जीवन आङ्गुष्ठ था। उनकी तपश्चर्या भी असाधारण थी।

आचार्ये कहते हैं :—

अपूर्व स्थिरता

महोशनमस्यासीत् तपः षण्मासगोचरम् ।

शरीरोपचयस्त्वद्विष्टः तथैवास्थाद्वोधृतिः ॥ १८-७३ ॥

यद्यपि भगवान का छह मास का महोपवास था, फिर भी उनके शरीर का पिण्ड पूर्ववत् ही दैदी-दमान बना हुआ था। उनकी स्थिरता आश्चर्यकारी थी।

केशों की जटारूपता

संस्कारविहात केशाः जटीभूतास्तत्त्वा विभेः ।

नूनं तेषि तपःक्षेत्रं अनुसोद्धुं तथा स्थिताः ॥ ७५ ॥

भगवान के केशों का अथ संस्कार नहीं हुआ। अतः संस्कार रहित होने के कारण वे केश जटा रूप हो गए। ऐसा प्रतीत होता था, कि वे केश भी तप का कष्ट सहन करने के लिए कठोर हो गए हैं।

भगवन के लम्बे-लम्बे केश उनकी तपस्या के सूचक हैं। इससे यह प्रतीत होता है कि विषय लोकुपी होने हुए भी अनेक साधु महान तपस्या के चिह्न रूप लम्बे-लम्बे केश धारण करने लगे हैं।

ऋद्धियों की प्राप्ति

भगवान के अनेक प्रकार की ऋद्धियाँ उत्पन्न हो गई थीं। मनःपर्यवेक्षान की उत्पत्ति ऋद्धिधारी मुनियों के होती है। उनमें भी विरले ऋद्धिप्राप्त मुनियों को मनःपर्यवेक्षान उत्पन्न होता है। सर्वार्थ-सिद्धि में मनःपर्यवेक्षान के विषय में लिखा है, “प्रवर्द्धमानचारित्रेषु चोत्पव्यामानः सप्तविधान्यतमद्विप्राप्तेषुपजायते नेतरेषु। ऋद्धिप्राप्तेषु केषुचित्प्राप्तेषु ॥” (सूत्र २५ अध्याय १) यह मनःपर्यवेक्षान प्रबर्धमान चारित्र बालों में से सप्तविधि ऋद्धियों में से अन्यतम ऋद्धिधारी मुनियों के पाया जाता है। ऋद्धिप्राप्त साधुओं में भी सबमें नहीं पाया जाता, किन्तु किन्हीं विरले संयमियों में वह पाया जाता है। अपनी आत्मशुद्धि के कार्य में संलग्न रहने के कारण भगवान अपनी ऋद्धियों का कोई भी उपयोग नहीं करते। उनका मनःपर्यवेक्षान भी एक प्रकार से अलंकार रूप रहता है। इसके प्रयोग करने का कोई प्रसंग ही उपस्थित नहीं होता। मौन व्रत रहने से जन संकर्क सद्या प्रश्नोत्तरादि की भी कल्पना नहीं की जा सकती। इसी प्रकार शायद ही कभी अध्यविज्ञान के भी उपयोग की जरूरत पड़ती हो। यह उद्घवत सामग्री उनके ब्रेष्ट्र व्यक्तित्व को सूचित करती थी। वे आत्मतेज संपन्न जगद्गुरु जहाँ भी जाते थे, वहाँ उनके लोकोत्तर महत्व का ज्ञान हो जाता था।

अपूर्व प्रभाव

उनका प्रभाव अत्यधिक चमत्कार पूर्ण होता था। जन्मतः हिसक जीवों के हृदय में उनके कारण दया तथा मैत्री का अवतरण

तीर्थकर

हो जाता था। तपोवन में विद्यमान उन विश्वपिता के प्रभाव को सहायुराणकार इस प्रकार चित्रित करते हैं :—

कंजकालदृग्नन्वालाग्रामरेत्तम् भीष्मः ।

नखौरैः स्वैरहो व्याघ्राः सानुकंपं व्यमोचयन् ॥ १८-८३ ॥

अहो ! जिन चमरी गाँवों के बालों के अपभाग काँटों में उलझ गए थे और जिनको सुलगाने का बे चारबार प्रयत्न करती थी, ऐसी चमरी गाँवों को व्याघ्र बड़ी इया पूर्वक अपने नखों से छुड़ा रहे थे। यहाँ व्याघ्रों के साथ करुणा का पश्चात्यवाची शब्द ‘सानुकम्प’ बड़ा भार्मिक है। क्रृता के परमाणुओं से जिन शेरों की शरीर रचना हुई हो, उनमें अनुकम्पा की उत्पत्ति भगवान के द्वितीय प्रभाव को खोलित करती है।

भगवान ने चैत्र में दीक्षाली थी। उनके समक्ष भीष्म आया और चला गया। वर्षाकाल भी आया। भगवान की स्थिरता में अन्तर नहीं था। वे वाईस परीषहों को सहन करने की अपूर्व क्षमता संयुक्त थे; अतएव भीष्म परिदिव्यतियों में भी वे साम्यमाद सम्पन्न रहते थे। साधारण मनोबल वाले पुरुष भी विपत्ति की बेला में मनस्विता का परिचय देते हैं, तब तो ये असाधारण क्षमतायुक्त तीर्थकर परम देव हैं। आचार्य कहते हैं “इस प्रकार लह माह में पूर्ण होने वाले प्रतिमायोग को श्राप्त हुए और धैर्य से शोभायमान रहने वाले भगवान का वह छम्बा काल भी क्षणभर के समान व्यतीत हो गया”।

उपवास के विषय में प्रसु की दृष्टि

भगवान में अपरिमित शक्ति थी, फिर भी लोगों को मोक्ष-मार्ग बताने की हित्रि से भगवान ने आहारमहण करने का विचार किया। उपवास के विषय में उन प्रसु का यह अभिमत था :—

न केवलमयं कायः कर्णनीयो मुमुक्षुभिः ।

नाप्युत्कृष्टसैः योष्यो मूर्द्दैरिष्टेश वलभनैः ॥ २०-५ ॥

मध्यम मार्ग का आश्रय

वशी वथा स्युसदापि नोत्प्राकृत्यनुपत्तम् ।

तथा प्रयतितव्यं स्याद् वृत्तिभित्यमध्यमाम् ॥ २०—६ ॥

मोक्षाभिलाषी मुनियों को यह शरीर न तो केवल कृश ही करना चाहिए और न अधिक रसायन, मधुर तथा मनोबांधित पदार्थों के द्वारा इसे पुष्ट ही करना चाहिए । जिस प्रकार इन्द्रियां वश में रहें तथा कुमार्ग की ओर न जायें, उस प्रकार मध्यम मार्ग का अचलस्वन लेकर प्रवृत्ति करना चाहिए ।

इस कथन से यह बात स्पष्ट ही जाती है कि जैनधर्म की तपस्या में आतिरेक पूर्ण प्रवृत्ति का उपदेश नहीं है । इससे जो आज कल के लोग बुद्ध की तपस्या का उल्लेख करते हुए जैनधर्म की तपस्या की कठोरता का कथन कर उस पर आलेप करते हैं, वह उचित नहीं है ।

कायक्लेश की सीमा

यह कथन भी मनव करने योग्य है :—

कायक्लेशो मतस्तावन्न ह्वेशोस्ति यावता ।

संक्लेशो ह्वसमाधानं भासीत् प्रन्युतिरेय च ॥ २०—८ ॥

कायक्लेश तप उतना ही करना चाहिए जहाँ तक संक्लेश नहीं उत्पन्न होता है । संक्लेश होने पर मन में स्थिरता नहीं रहती है तथा मार्ग से भी च्युत हो जाता है ।

सिद्धै संयमयात्रायाः तत्सुरिथिति मिच्छुमिः ।

आहो निर्दोष आहो रसासंगाद्विनिर्धिमिः ॥ ८ ॥

अतएव संयम रूप यात्रा की सिद्धि के लिए शरीर स्थिति को बाहने वालों को रसों में आसक्त न हो निर्दोष आहार प्रहण करना चाहिये ।

आहारार्थ विहार

अब आहार प्रहण करने के उद्देश से भगवान ने विहार प्रारम्भ कर दिया । उस कर्ममूर्मि के प्रारम्भ में मुनिदान कैसे दिया

पूजा वस्तुतः माता की स्वयं की विशेषता के कारण नहीं है, किन्तु जिनेन्द्रदेव की जननी होने के कारण है। यदि ऐसा न होता, तो पहले भी माता की सुरेन्द्रादिकों के द्वारा पूजा तथा सेषा होनी चाहिए थी ?

सबकी इष्टि भगवान की और केन्द्रित हुआ करती है। सचमुच मैं जिनेन्द्र की जननी का भास्य और पुरुष अलौकिक है। नेमिचन्द्र ग्रतिष्ठापाठ मैं गर्भकल्याणक के प्रकरण मैं भगवान की माता की आदरपूर्वक पूजा करते हुए यह पद्य लिखा गया है—

विश्वेश्वरे विश्वजगत् सवित्रि पूज्ये महोदिवि महासति त्वाम् ।

सुमङ्गलोऽद्यैः बहुमङ्गलार्थैः सम्भावयामो भव नः प्रसन्ना ॥ पृष्ठ ३६० ॥

हे विश्वेश्वरा, विश्वजगत्—सवित्री, पूज्या, महादेषी, महासती, सुमङ्गला माता अनेक मङ्गल रूप पदार्थों के अध्ये द्वारा हम आपकी समारीधना करते हैं। हे माता हम पर प्रसन्न हो।

इस अन्तर्भिन्नी में यही तीर्थकर स्वर्ग से चयकर भरत-
क्षेत्र में आए थे। जब स्वर्ग से चय करने को छह माह शेष रहे, तब
उन भावी तीर्थकर रूप पूज्य आत्मा के प्रति सुर समुदाय का भक्तान
आदर भाव उत्पन्न होने लगा था। वर्धमानचरित्र में बताया है कि
जिनेन्द्र होने वाले उस स्वर्गवासी देव को सभी देवता लोग प्रणाम
करने लगते थे। कवि ने महाबीर भगवान के जीव प्राणेन्द्र के विषय
मैं जो बात लिखी है, वह अन्य तीर्थकरों के विषय मैं भी उपयुक्त
द्विखती है। कवि ने लिखा है—

भक्त्या प्रणेमुरथ तं मनसा सुरेन्द्रं

घरमासशेषमुरजीवितमेत्य देवाः ।

तरमादनंतरमेवे वित्तियमार्ण

तीर्थं भवेदविसमुत्तरस्यैकतीर्थम् ॥१७—३८॥

जिनकी देवगति सम्भव्यी आयु के छह माह शेष रहे हैं तथा
ज्ये आगामी जन्म मैं संसार-समुद्र को तर कर जाने के लिए अद्वितीय

बाट सहश धर्मतीर्थ का प्रसार करने वाले हैं, ऐसे उस ग्राण्डेन्ड्र के समीप जाकर अनेक देवता अन्तःकरण पूर्वक प्रणाम करने लगे थे।

ऐसी भक्तिपूर्वक समाराधना पूर्णतया स्वाभाविक है। होमार तीर्थों को देवरूप में स्वर्ग में देवताएँ देवों को, देवियों को तथा देवेन्द्रों को ऐसा ही हर्ष होता है, जैसे सूर्य के दर्शन से कमलों को आनन्द प्राप्त होता है और वे विकास को प्राप्त होते हैं। जिस प्रकार किसी जगह पर कोई अद्भुत निधि अल्पकाल के लिए आ जाए, तो उसके दर्शन के लिए सभी नागरिक और मामवासी गए बिना नहीं रहते, इसी प्रकार छह माह के पश्चात् स्वर्ग को छोड़कर मनुष्य लोक को प्रयाण करने वाली उस परम पावन आत्मा की सभी देव अभिवंदना द्वारा अपने को कुतार्थ अनुभव करते हैं। भगवान् छह माह पश्चात् स्वर्गलोक का परित्याग करने वाले हैं इसलिए ही उन पुण्यात्मा का अनुगमन करनेवाली लक्ष्मी छह माह पूर्व ही स्वर्ग से मन्त्रलोक में रमबुधि के बहाने से जा रही थी। जिनसेन स्वामी की कल्पना कितनी मधुर है—

संक्रन्दननियुक्तेन घनदेन निपातिता ।

सामात् स्वसंपदैत्युक्यात् प्राप्तितेवाच्यतो विभोः ॥१२—८५॥

इन्द्र के द्वारा नियुक्त हुए कुबेर के द्वारा जो रक्षों की वर्षा हो रही थी, वह इस प्रकार शोभायमान होती थी, मानो जिनेन्द्रदेव की सम्पत्ति उत्सुकतावश उनके आगमन के पूर्व ही आ गई हो।

अयोध्या का सौभाग्य

स्वर्ग से अवतरण के छह मास के समय में जैसे-जैसे दिन अून हो रहे थे, वैसे-वैसे यहाँ अयोध्यापुरी की सर्वाङ्गीण श्री, वैभव, सुख आदि की वृद्धि हो रही थी। शीघ्र ही वह समय आ गया, कि देवायु का उदय समाप्त हो गया। मनुष्यगति, मनुष्यायु तथा मनुष्यगत्यानुपूर्वी का उदय आ जाने से वह स्वर्ग की विभूति मानव-लोक में आई और उसने माता महादेवी को सोलह स्वप्न-दर्शन द्वारा उस बात की सूचना देने के साथ अपने मङ्गल जीवन की महत्ता को पहले से ही प्रगट कर दिया।

जाता है, इस विषय को कोई नहीं जानता था। भगवान् मौनत्रती थे। उनका भाव कोई नहीं जानता था। ऐसी अद्भुत परिस्थिति वश भगवान् को आहार का लाभ नहीं हो रहा है। त्रिलोकीनाथ आहार के हेतु भ्रमण कर रहे हैं, किन्तु अन्तराय कर्म का तीव्र उदय होने से आहार का लाभ नहीं होता था। उक्त प्रगति यहु के समीप हड़े आदर, समता और भक्तिपूर्वक विविध पदार्थों में रूप में लाते थे, किन्तु उनसे उन प्रभु का कोई प्रबोजन न था। कर्मों की कितनी विचित्र अवस्था होती है। छहमाह पर्यन्त महोपचास के पश्चात् भी कर्म के विपाक की इतनी तीव्रता है कि तीर्थकर भगवान् को भी शरीर यात्रा के हेतु आहार प्राप्ति का सुयोग नहीं मिल रहा है। आहार के लिए प्रभु का प्रतिदिन विहार हो रहा है। अब एक वर्ष हो चुका। चैत्र सुदी नवमी किर आ गई, किन्तु स्थिति पूर्ववत् है। भगवान् अत्यन्त प्रसन्न तथा प्रशान्त हैं। वे छुटा, उपर रूप परीषहों को बड़ी समता पूर्वक सहन करते हुए कर्मों की निर्जरा कर रहे हैं। ऐसी तपस्या के द्वारा ही विरसंचित कर्मों के पहाड़ नष्ट हुआ करते हैं।

अंतराय का उदय

भगवान् धनवान्, निर्धन सभी के घर पर आहार हेतु जाते थे। उनकी यह चर्चा 'चांद्री-चर्चा' कही गई है, क्योंकि वे चन्द्रमा के समान प्रत्येक के घर पर जाते थे। अपने दर्शन द्वारा सबको आनन्द प्रदान करते थे। सारा जगत् जिन्ता निमग्न था। कर्म ज्ञा विपाक भी विलक्षण होता है। तीर्थकर हों वा सामान्य जन हों, कर्मोदय समान रूप से सब को शुभ अनुभ फल प्रदान करता है।

गुणभद्रस्वामी ने आत्माभुशालन में लिखा है, "कि दैव की गति बड़ी विचित्र है। यह अलेक्चनीय है। देखो! भगवान् वृषभदेव के गर्भ में आने के छह माह पहले से ही इन्द्र सेवक के समान हाथ जोड़े रहता था, जो इस कर्म सुनि रूपी जगत् के विधाता हैं; नवनिधियों के स्वामी चक्रवर्ती भरत जिनके पुत्र हैं, वे भी छहमाह पर्यन्त इस पृथ्वी पर विना आहार प्राप्त किए विहार करते थे।"^१

^१ पुरा गर्वादन्त्री नुकुलिनवरः किन्तु इच्छा ।

स्वर्य सृष्टा सृष्टे परोऽनिर्विना निवृत्तः ॥

अंतराय कर्मदिव्यवश उस समय इन्द्र को भी ग्रन्थ की गूढ़-
चर्चा का ध्यान नहीं रहा। असितगति आचार्य ने चर्चार्थ कहा है कि
जीव को उसके शुभ अशुभकर्मों के सिदाय अन्य सुख दुःख नहीं
देता है।

भवितव्यता

एक बाल विचारणीय है कि वैशाख सुदी दशमी को
जै भक्ताम की कुञ्जकुञ्जा नदी के तट पर महाबीर भगवान को क्रेवल
ज्ञान उत्पन्न हुआ। उस समय गणधर का योग नहीं मिला। इस
कारण भगवान की दिव्य ध्यनि त्रियासठ एवं तक नहीं खिरी थी। उस
समय सुचतुर इन्द्र ने इन्द्रभूति त्राणाण को भगवान के सानिध्य में
उपस्थित किया। मानस्तम्भ दर्शन से इन्द्रभूति गौतम का अहंकार दूर
हुआ और शीघ्र ही वह महामिथ्यात्मी व्यक्ति अमणि संघ का नायक
गौतम गणधर बना। कदाचित इन्द्र ऐसी कुशलता भगवान के छह मास
के प्रतिमा योग के पश्चात् विजयता और लोगों को आहार दान की
विधि से अवगत करता, तो त्रिलोकीनाथ को एक वर्षाधिक काल के
परचात् क्यों आहार प्राप्ति का योग मिलता? आचार्य समन्तभद्र
स्वामी ने कहा है, 'अलंभवर्षात्क र्भवत्वत्वतेति'—भवितव्यता की
सामर्थ्य अलंभनीय है।

हस्तिनापुर में आगमन

भगवान चिवित देशों में विदार करते हुए कुरुजागत देश के
हस्तिनापुर नगर में पहुँचे। वहाँ के राजा सोमप्रभ महाराज हैं।
उनके छोटे भाई श्रेवांस महाराज हैं।

तस्यानुजः कुमारेऽभूद्यैषन् श्रेयान्युग्णोदर्थः ।

रूपेण मन्मथः कान्त्या शशी दीप्ता र भानुमान् ॥ ३०—३१ ॥

उनके अनुज श्रेवांस कुमार हैं। गुणों की वृद्धि से वह श्रेय
स्वरूप हैं। सौन्दर्य में कानदेव हैं। कर्तित में वन्द्रमा तथा दीप्ति में
सूर्य के समान हैं।

कुधित्वा धर्मासान् स शिळा युक्तवाट लकड़ी-

महा केनावस्तु विलसितमलंध्य हृत्यिते ॥ ३२ ॥

श्रेयांस राजा का स्वभ

बैशाख गुक्ला की चुलीया के प्रभात में महा पुण्यवान श्रेयांस महाराज ने सुन्दर स्वप्न देखे। प्रथम स्वप्न में राजकुमार ने सुवर्ण-मय विशालकाय तथा उन्नत सुमेह पर्वत देखा। इस स्वभ का फल निरूपण करते हुए राजपुरोहित ने कहा :—

मेरुसन्दर्शनादेवो यो मेरुरिव सूक्ष्मः ।

मेरौ प्राप्ताभिषेकः स गृहमेष्यति तः स्फुरम् ॥ २० - ४० ॥

मुमेह के दर्शन हे यह सूचित होता है कि जो प्रभु सुमेह सदरा समुच्छत हैं तथा जिनका सुमेहियरि पर अभिषेक हुआ, वे अपने राजभवन में पधारेंगे। अन्य स्वभ भी उन्हीं भगवान के गुणों की उमति को सूचित करते हैं। आज उन भगवान के बोग्य विनय के काल स्वरूप हमारे बड़े भारी पुण्य का उदय होगा। पुरोहित ने यह भी कहा :—

प्रशंसा जगति रुद्यतिम् अनल्पां लाभसम्पदम् ।

प्राप्त्यामो नात्र सन्दित्तः कुभारश्चात्र तत्त्वित् ॥ २० - ४२ ॥

आज हमें जगत में महान कीति तथा विपुल सम्पत्ति प्राप्त होगी इस विषय में सद्देह का स्थान नहीं है। राजकुमार स्वयं इस रहस्य के ज्ञाता हैं।

सिद्धार्थ द्वारपाल द्वारा सूचना

अल्पकाल के पश्चात् भगवान राजमन्दिर की ओर आते हुए दृष्टिगोचर हुए। तत्काल सिद्धार्थ नाम के द्वारपाल ने राजा सोमप्रभ तथा राजकुमार श्रेयांस को बंगल समाचार सुनाए। दोनों भाई राजभवन के प्रांगण के बाहर आए और वहाँ उन्ने भगवान के घररणों को जल से धोकर उनकी प्रदक्षिणा की। उनका शरीर भगवान के दर्शन से रोमांच युक्त हो गया था। वे दोनों प्रभु के समीप सौधर्म और ईशान स्वर्ग के इन्द्रों सदरा दिखते थे।

अपूर्व दृश्य

पर्यन्तविनोर्मध्ये तयोर्भृती स्म गजते ।

महामेहरिवोदभूतो मध्ये निष्ठवनोलयोः ॥ २० - ७७ ॥

" It is to me obvious that if we do not cure ourselves of this insanity, we shall lose the freedom, we have won ." (Mahatma Gandhi, The last Phase Vol. II P. 516).

"मुझे तो यह बात स्पष्ट दिखाई पड़ती है कि यदि हमने इस पागलपन का इलाज नहीं किया और ऐश्वर्य का न हुए तो हमने जिस स्वतन्त्रता को प्राप्त किया है, उसे हम खो देंगे । " शंखी जी ने सन् १९२४ के यह इरिडया में ये महत्वपूर्ण शब्द लिखे थे—“इस समय आवश्यक है यह बात भी नहीं है, कि सबका धर्म एक बना दिया जाए, बल्कि इस बात की है, कि मिल-भिन्न धर्म के अनुयायी और जेमी परस्पर आदरभाव और सहिष्णुता रखें । हम सब धर्मों को भृत्यात् एक सतह पर लाना नहीं चाहते, बल्कि चाहते हैं कि विनिष्ठता में एकता हो । हमें सब धर्मों के प्रति समर्पण रखना चाहिए । इससे अपने धर्म के प्रति उदासीनता नहीं उत्पन्न होती, परन्तु स्वधर्म-विप्राश्रक प्रेम और प्रेम न रहकर ज्ञानमय हो जाता है... सब धर्मों के प्रति समर्पण आने पर ही हमारे दिव्यचङ्गु खुल सकते हैं । धर्मनिष्ठता और दिव्यदर्शन में उत्तर-दक्षिण जितना अन्तर है । ”

(शंखी-बाणी पृष्ठ १००—१०१)

जिनकी हटि साम्राज्यिकता के विकार से विमुक्त है, वे यदि जैन धर्म सथा उससे सम्बन्धित सामग्री का परिशीलन करें तो महत्वपूर्ण सत्य प्रकाश में आवे । तुलनात्मक धर्म के विशेषज्ञ थैरिस्टर श्री चंपतराय जी ने यह महत्वपूर्ण बात लिखी है, कि जैनधर्म में चौबीस तीर्थकर कहे गए हैं, अन्य धर्मों में भी चौबीस महापुलिंगों का उल्लेख पाया जाता है । उनके शब्द इस प्रकार हैं :—

" There is a special fascination in the number four and twenty ; the Hindus have twenty-four avatars (incarnations) of their favourite God Vishnu ; there were twenty-four Counsellor gods of the ancient Babylonians, the Buddhist posit four and twenty previous Buddhas, that is teaching gods. The Zoroastrians also have twenty-four Ahuras who are regarded as the mightiest to advance desire and dominion of blessings " (Rishabha Deva page 58)—

“चतुर्बिंशति इस संख्या के प्रति विशेष आकर्षण पाया जाता है । हिन्दुओं में उनके प्रिय परमेश्वर विष्णु के चौबीस अवतार कहे गए हैं; पाचीन बैदीलोनियनों में चौबीस परिषद् ईश्वर माने गए हैं, जौदों में

तीर्थकर

दोनों और खड़े हुए महाराज सोमप्रभ और श्रेयांस के मध्य में भगवान् इस प्रकार शास्त्रायमान होते थे मानो निष्ठ और नील वर्णों के मध्य में सुमेरुगिरि ही खड़ा हो ।

जन्मान्तर की सृष्टि

उस समय राजकुमार श्रेयांस को भगवान् का दर्शन कर पूर्व जन्म का स्मरण हो गया, जबकि भगवान् राजा ब्रजजंघ थे और श्रेयांसकुमार का जीव उनकी सहारानी अमीती था तथा जिस भव में उन दोनों ने दमधर और सागरसेन नाम के भगवान् महाद्विजों को भक्ति पूर्वक आहार दान दिया था तथा उसके फल स्वरूप देवताओं ने पंचाश्चर्ये किए थे । उस जातिस्मरण के फलस्वरूप राजकुमार श्रेयांस के मन में यह विचार उत्पन्न हुआ कि उक्त समय सुनि को आहार दान के उपयुक्त है । पूर्व जन्म के संस्कारों से राजकुमार को आहारदान की सब विधि ह्रात हो गई ।

इन्द्रस का दान

श्रेयांसकुमार ने राजा सोमप्रभ और उनकी रानी लद्मीमती के साथ भगवान् को इन्द्रस का आहार दिया था ।

श्रेयन् सोमप्रसेणुमा लद्मीमत्या च सादरम् ।

स्समिन्द्रोरदत् प्रायुमुत्तानीकृतपाण्ये ॥ २०—१०० ॥

उस समय के आनन्द का कौन वर्णन कर सकता है? भगवान् के आहार भ्रह्म के समाचार सुनकर समस्त संसार को अपार आनन्द हुआ था ।

महान फल

हरिवंशपुराण में लिखा है कि देवताओं ने इन्द्र भारा से स्पर्धी करते हुए आकाश से पृथ्वी तल पर रत्नों की वर्षा की थी । ग्रन्थकार के शब्द इस प्रकार हैं ।

श्रेयसा पत्रनिन्दिप्तपुंड्रेन्द्रस्थारया ।

स्पर्धेयेव सुरैः स्पृष्टा वसुधाराऽप्तहिवः ॥ ६—११५ ॥

तीर्थकर

इस दान का आर्थिक हृषि से क्या मूल्य हो सकता है ? इच्छु रस यथार्थ में अमूल्य अर्थात् विना मूल्य का आज भी देखा जाता है। वही अमूल्य रस सचमुक्त में अमूल्य अर्थात् जिसके मूल्य की तुलना न की जा सके ऐसे जोकोऽपर पुण्य और वौद्ध का लक्षण बन गया। इस प्रसंग में पात्र, विधि, द्रव्य तथा दातारूप सामग्री चतुष्टय अपूर्व थे। त्रिलोकीनाथ की एक दर्श एक माह तथा नौ दिन (३५६ दिन) के उपवास पश्चात् कर्मभूमि के प्रारंभ में प्रथमबार तप के अनुकूल सामग्री अर्पण करने का सौभाग्य श्रेयांस महाराज को दानतीर्थकर पदबी का प्रदाता हो गया। वह अक्षयफल प्रदाता दिन अक्षय तृतीया के नाम से मंगल पर्व बन गया।

दान-तीर्थकर का गौरव

चक्रवर्ती भरत महाराज ने उस दान के कारण कुमार श्रेयांस को महादानपति कहकर सम्मानित किया था। भरतेश्वर कहते हैं :—

त्वं दानतीर्थकृच्छ्रेयान् त्वं महापुण्यभाससि ॥ २०—१२८ ॥

हे श्रेयांस ! तुम दान तीर्थके प्रवर्तक दानतीर्थकर हो। तुम महान् पुण्यशाली हो।

हरिवंशपुराण में कहा है :—

अस्यचिते तपेवृद्धै धर्मतीर्थकरे गते ।

दानतीर्थकर देवाः सभिषेकमपूजयन् ॥ ६—१६६ ॥

धर्मतीर्थकर वृषभदेव भगवान् की पूजा के पश्चात् तपोवृद्धि के हेतु प्रस्थान करने के अनन्तर देवताओं ने दान-तीर्थकर महाराज श्रेयांस की अभिषेक पूर्वक पूजा की।

तीर्थकरों की पारणा का काल

आगम में लिखा है :—

दर्पेणपारणाद्यस्य जिनेन्द्रस्य प्रकीर्तिः ।

तूतीयदिवसेऽन्येषां पारणा प्रथमा मता ॥ ६०—२३७ हरिवंशपुराण ॥

आदि तीर्थकर की प्रथम पारणा एक वर्ष के उपरान्त हुई थी। शेष तीर्थकरों ने तीसरे दिन पारणा की थी। अक्षय तृतीया के पूर्व

तीर्थकर

राजकुमार श्रेयांस की जो लौकिक स्थिति थी, उसमें आहार दान के उपरान्त लोकोत्तर परिवर्तन हो गया। अब वे दानशिरोमणि, पुण्यवान भगवान् कहलाने लगे। वे विश्वपूज्य बन गए। महान आत्माओं का संपर्क अवर्णनीय कल्याणदाती बन जाता है। इस दान की अनुमोदना द्वारा बहुत लोगों ने पुण्य का भण्डार पूर्ण किया।

निमित्त कारण का महत्व

बाह्य समर्थ उज्ज्वल निमित्तकारण का भी बड़ा महत्व है। महापुराणकार का कथन है:—

दानानुमोदनात्पुण्यं परोपि वह्योऽभजन् ।

यथासाध्य परं रत्नं स्फटिकस्तदृच्चि भजेत् ॥ २०—१०७ ॥

उस तीर्थकर के दान की अनुमोदना द्वारा बहुत से लोगों ने परम पुण्य को प्राप्त किया था जैसे स्फटिकमणि अन्य उत्कृष्ट रत्न के संपर्क को प्राप्तकर उस रत्न की दीपि को धारण करता है।

जिनकी यह समझ है कि निमित्तकारण कुछ नहीं करता है, उनके सदैह निवारणार्थ कहा है:—

कारणं परिणामः स्याद् बंधने पुण्यपापयोः ।

बाह्यं तु कारणं प्राहुः आहाः कारणंकारणम् ॥ २०—१०८ ॥

पुण्यकर्म सथा पाप कर्म के बन्ध में जीव के भाव कारण हैं। भगवान् ने कहा है कि बाह्य कारण उस परिणाम अर्थात् आव सूक्ष्म कारण के कारण हैं। इस कारण भावों की धरित्रता के लिए योग्य बाह्य-साधनों का आश्रय भवेण करने में सदा प्रयत्नशील रहना चाहिए।

तीर्थकरों की पारणा

ऋग्भन्दाथ भगवान् ने इच्छुरस लिया था, यह बात सर्वत्र प्रसिद्ध है। शेष तीर्थकरों ने गोक्षीर से बनाए गए श्रेष्ठ अन्न का आहार किया था।

तीर्थकर

आयोनेकुरसो दिव्यः परश्चायां पवित्रितः ।

अन्यैर्गच्छिरनिष्पत्ति-परमान्नमलालुसैः ॥ ६०—२३८ ॥

क्या दूध सदोष है ?

आजकल कोई-कोई लोग नवयुग के बातावरण से प्रभावित हो दूध को भासि सदृश दूषित सोचते हैं। वह दृष्टि अस्म्यक है। दूध यदि सदोष होता, तो परम दयालु सर्व परिप्रहत्यागी तथा समस्त भींगों का परित्याग करने वाले तीर्थकर भगवान् उसको आहार में क्यों अहण करते ? मधुर होते हुए भी मधु को, जीवों का विश्वास्त्र होने से जैमे जिनागम में त्यज्य कहा है उसी प्रकार के विश्वालदशी जिनेन्द्र दूध को भी त्यज्य कह देते। दूध दुहने के बाद अन्तर्मुहूर्त अर्थात् ४८ मिनट के भीतर उसे उष्ण करने से निहोष है, ऐसा जैनाचार-यन्त्रों में वर्णित है। दूध में सदोषता होती तो परमामात् तीर्थकर भगवान् की मूर्ति के अभिषेक के लिए दूध का क्यों विधान करता ? पञ्चपुराण में भगवान् के जल, घृतादि के द्वारा अभिषेक का भवत्य बताते हुए लिखा है :—

अभिषेकं जिनेन्द्रायां विधाय क्षीरधारया ।

विमले क्षीरधवले जायते परमद्युतिः ॥ ३२—१६६ ॥

जो जिनेन्द्र भगवान् का दुग्ध की धारा द्वारा अभिषेक करते हैं, वे क्षीर सदृश धबल विमान में जन्म लेकर निर्मल दीपि का प्राप्त करते हैं।

हरिवंशापुराण में भी उक्त कथन का इस प्रकार समर्थन किया गया है :—

क्षीरेकुरस-धारेष्ये - वृत - दध्युदकादिभिः ।

अभिषिक्त जिनेन्द्राचौमर्चिता नृसुगसुरैः ॥ २२ - २१ ॥

क्षीर तथा इकुकी धारा के भवाह द्वारा तथा घृत, दधि, जल अदि से जिनेन्द्र देव की अभिषेक पुर्वक जो पूजा करता है, वह मनुष्यों तथा दुरासुरों द्वारा पूजित होता है।

आयुर्वेद का अभिमत

दूध के विषय में आयुर्वेद यात्रा कहता है, कि भोजन पहले

खलभाग रूप परिणत होता है। इसके पश्चात् वह रस रूपता घारण करता है। रस बनने के अनन्तर दूध का रक्त बनता है। धारोण दूध को इसीलिए आयुर्वेद में महत्वरूप कहा है कि वह तत्काल ही शरीर में जाकर रुधिर रूप पर्यावरण को शोषण प्राप्त करता है। दूध को गोरस कहने से भी स्पष्ट होता है कि वह रस रूप पर्याय है। दूध के दुहने से गाय कीण नहीं होती, किन्तु रक्त के निकालने से उस जीव में कीणता आती हो, वेदना की वृद्धि होती है। दूध के सेवन से सात्त्विक भावों का उदय होता है। रुधिर, मांसादि सेषी नर केरू परिणामी बन जाते हैं। दूध में मांस का दोष माना जाय, तो सभी मनुष्य मांस भक्षी व्यावर आदि की श्रेणी में आ जावेगे, क्योंकि जिस दूध पिये वालक का प्रारम्भिक जीवन ही असम्भव है। शरीर रचना की दृष्टि से नमुन्द की रक्षान्तरा राक तथा भज भी गृहिणी के साथ है। मांस भक्षी विरन्तर अशान्त, क्रूर, चंचल तथा दुष्ट स्वभाव बाले होते हैं; दूध के सेवन से ऐसी बात नहीं होती है।

जो दूध को सदोष सोचते हैं, वे पानी भी नहीं पी सकते। पानी में अलचर जीवों का सदा निवास रहता है। उनका जन्म मरण उसी के भीतर होता है। उनका मल मूत्रादि भी उसके भीतर हुआ करता है, फिर भी सभी लोग जल को पवित्र मानते हैं। इसी प्रकार गतानुगतिकता वा अंध-परंपरा का ल्याग कर यदि मनुष्य मस्तिष्क, अनुभव तथा सद्विचार से काम लेगा, तो उसे शुद्ध साधनों द्वारा प्राप्त, मर्यादा के भीतर उष्ण किया गया तथा सावधानी पूर्वक शुचिता के साथ सुरक्षित किया गया दूध अभृत्य कोटि के बोग नहीं दिखेगा।

आश्र्य की शात

यह देखकर आश्र्य होता है कि सरासर अशुचि भोजन पान को करते हुए मांसाहार के दोष के दोषी लोग अहिंसात्मक प्रवृत्ति वालों के उच्चवल कार्यों को भी सकलंक सोचते हैं। उन्हें रात्रि भोजन में दोष नहीं दिखता, अनझने जल के पीने में संकोच नहीं होता, अशुद्ध अचार आदि के भजण करने में तथा मधु सेवन करने में निर्दोषता दिखती है। मधु की एक विन्दु भजण करने में जीव यात का महान पाप लगता है, किन्तु वे उसे निर्दोष, बल-

दात्यक मानकर बिना संकोच के सेवन करते हैं और अपने को अहिंसा व्रती सोचते हैं। अहिंसा के क्षेत्र में अंतिम प्रामाणिक निर्णयदाता के रूप में जिनेन्द्र की बाणी की प्रतिष्ठा है। इस जिनागम के प्रकाश में दूध के विषय में अभद्रता का भग्न दूर करना चाहिए। वैसे रस का परित्याग करने वाले व्रती थी, दूध आदि का त्याग इंद्रियजय की हाइ से किया करता है।

प्रथम आहार दाताको दानका फल

जिनेन्द्र भगवान को प्रथम पारण के दिन शीरादि निमित्त पदार्थों के दाता नर रक्तों की सर्वत्र स्तुति की गई है। उत्तम पात्र को आहारदाता या तो उसी भव में मोक्ष को प्राप्त करता है या स्वर्ग का सुख भोगकर वह तीसरे भव में मुक्ति को पाता है। भगवान को प्रथम बार आहार देने वाले अर्थकि के भाव अवर्णनीय उच्चबलता प्राप्त करते हैं। इससे वह उत्तम दाता शीघ्र ही तप का शरण महण कर आपना उद्धार करता है। हरिवंशाधारण में कहा है :—

तपस्थिताश्च ते केचिद्दिसद्वास्तेनैव जन्मना ।

जिनते सिद्धिस्त्वयेषां तृतीये जन्मनि स्मृता ॥ ६०-२५२ ॥

यह तो आध्यात्मिक श्रेष्ठ लाभ है, कि दातार मोक्ष को प्राप्त करता है। तत्काल लाभ यह है कि दातार के भवन में अधिक से अधिक साड़े बारह करोड़ और कम से कम इसका हजारवाँ भाग अर्थात् एक लाख पचास हजार रक्तों की वर्षा होती है।

सत्यात्र के दान की अपार महिमा है। पंचाश्चर्य सत्यात्र को आहार के दान में ही होते हैं। इससे इसकी मदत्ता इतर दानों की अपेक्षा स्पष्ट ज्ञात होती है। इसका कारण यह है कि इस आहारदान से बीतराग मुनीन्द्रों की रक्तत्रय परिपालना में विशिष्ट सहायक उनके पृष्ठत्र शरीर का रक्षण होता है। गुहस्थ स्वयं श्रेष्ठ तप नहीं कर पाता है, किन्तु अपनी न्याय पूर्वक प्राप्त द्रव्य के द्वारा महात्रती का सहायक बनता है। इस कारण पात्र दान द्वारा गुहस्थ के पट्टकर्मों अर्थात् असि, मधी, कुषि, शिल्प, बाणिज्य, पशुपालन तथा चक्री, चूल्हादि पंचमूना क्रियाओं द्वारा अजित महान दोषों का क्षय होता है।

आहारदान का महत्व

आहार दान को महत्व प्रदान करने का एक कारण यह भी है कि तीर्थकर भगवान् जैसे श्रेष्ठ पात्र की सेवा केवल आहार दान द्वारा ही संभव है। उसको औषधि, शास्त्र तथा अभ्यदान कौन देगा? शरीर नीरीण रहने से औषधि का प्रयोजन नहीं, सबसे महान् ज्ञानी होने से शास्त्र दान की भी उपयोगता नहीं प्रतीत होती, सबसे शरणागतों को अभ्यप्रदाता परम प्रभु को कौन अभ्यर्थ देगा? आहार दान ले प्रत्येक दिन संभाव्य हैं।

किसी को भोजन कराने का वह महत्व नहीं है, जो संयमी महान् पुरुष को पवित्र भावों द्वारा आहारदान का होता है। संयमी आत्मा में अपार आत्म सामर्थ्य रहती है। उसके प्रभाव से आहारदान द्वारा संयम में प्रकारान्तर से सहयोग देने वाले को स्वभावतः महान् लाभ होता। श्रावक के लिए सत्पात्रदान मुख्य कार्य बताया गया है। भगवान् की पूजा करना तथा पात्रदान देना गृहस्थ के आवश्यक कर्तव्य कहे गए हैं। इनके बिना वास्तव में श्रावक नहीं कहा गया है। यदि श्रावक पात्रदान के कर्तव्य को भूल जाय, तो मुनिपद का निर्वाह किस प्रकार होगा? वानतराय जी ने ठीक ही लिखा है “बिन दान श्रावक साधु दोनों लहें नाहीं बोध को।”

मुक्तिपुरी का प्रवेश द्वारा सत्पात्रदान

कुछ लोग सत्पात्रदान के अंतरिक रहस्य तथा सौन्दर्य को न समझ यह सोचते हैं कि इस दान के द्वारा पुण्यकर्म का वर्ध होता है। इससे मोक्ष नहीं मिलता, अतः यह उपादेय नहीं है। इस विकृत विचार धारा का प्रतिनिधित्व करने वाला महाराज श्रेयांसकुमार के जीवन पर दृष्टि डाले और समझे कि इस सत्पात्र दान में कितना रस है? लौकिक श्रेष्ठ अभ्युदय प्रलियादि प्राप्ति के पश्चात् सकल संयम का शरण लेकर दानशिरोमणि श्रेयांस राजा कर्मज्ञय कर सिद्ध भगवान् बने। दान के माध्यम से गृहस्थ सत्पुरुषों के निकट संपर्क में आता है और जिस प्रकार पारस के संपर्क से लोहा सुवर्ण बनता है, उसी प्रकार लोह सदृश परित्प्राणी पारस रूप सत्पुरुष के संपर्क द्वारा क्रमशः उन्नति करता हुआ परं ज्योति घरमात्मा बनता है। आरंभ

और परिग्रह के मध्य निमग्न गृहस्थ के लिए पुण्य-पाप बंध को त्वारा कर बीतरागता प्राप्त करना शक्य नहीं है। यदि माया जाल के मध्य रहते हुए भी गृहस्थ कर्मजाल काट सकता, तो तीर्थकर भगवान् साम्राज्यादि का परित्याग कर क्यों दिगम्बर साधु बनते? अतएव गृहस्थ का कर्तव्य है कि सुक्ष्म की उपलब्धि को जीवन का केन्द्र बिन्दु मानकर उस ओर आगम के अनुसार प्रवृत्ति करे। अनुभवी तथा सिद्धहस्त व्यक्तियों का मार्ग इर्द्दन छोड़कर अज्ञानी, अविवेकी तथा अतत्त्वज्ञ का अबलंबन स्वीकार करते वाला संसार-सिद्धु के मध्य छूटे जिना नहीं रहता।

दान द्वारा जनहित

इस कारण चतुर गृहस्थ का कर्तव्य है कि वह सत्यान्त दान के विषय में अत्यधिक उत्साह धारण करे। श्रावक के समशीलों में अतिथि-संविभाग नामक ब्रत बताया गया है। यदि गृहस्थ इस बात के महत्व को समझकर चिवेक पूर्वक द्रव्यादि का उपयोग करे तो जगत् में संपन्न वर्ग तथा निर्द्दन वर्ग के बीच जो क्रूर संवर्ष प्रारम्भ हुआ है, उसका मधुर परिशमन हो सकता है।

स्वामी समंतभद्र की यह वाणी कितनी भाविक तथा अर्थवाती है:—

उच्चैर्गोत्रं प्रणाते भैगो दानादुपासनात्पूजा ।

भक्तोः सुन्दररूपं त्तेवना त्कीर्तिस्तपेनिविषु ॥ ११५ ॥ रत्नकरंड श्रावकाचार

तपोनिधि साधुओं को प्रणाम करने से उच्चगोत्र, दान देने से भोग्य सामग्री की विपुलता, उनकी उपासना से पूजा, भक्ति करने से सुन्दर रूप तथा उनकी स्तुति करने से कीर्ति की प्राप्ति होती है।

बुद्धिमान सनुष्य का कर्तव्य है कि साधुओं को प्रणाम करे, उनकी उपासना करे, भक्ति करे तथा स्तवन करे। इन कार्यों के फल स्वरूप उस उपरोक्त समस्त सदगुणों तथा विशेषताओं की उपलब्धि होती।

अनुमोदना का सुफल

जो व्यक्ति सत्यान्त्रों के दान की हृदय से अनुमोदना करते

तीर्थंकर

हैं, वे भी सुकृत को प्राप्त करते हैं। भगवान् वृषभनाथ के जीव ने राजा बज्रजंघ की परिवर्ति में जो चारण मुनियुगल को आदारदान दिया था, उनकी अनुमोदना नकुल, सिंह, बानर तथा शुकर के जीवों ने की थी, उस अनुमोदना के कारण वे चारों जीव उत्तम भोगभूमि में उत्पन्न हुए थे। महापुराण में बताया है कि इन पशुओं को जातिस्मरण हो गया था। इससे उनके भाव संसार से बहुत ही विरक्त हो गए थे। चारणमुनि दमधर स्वामी ने भगवान् ऋषभदेव के जीव बज्रजंघ से कहा था :—

भवदानानुमोदेन बद्धायुष्काः कुरुञ्जमी ।

ततोऽसीभौतिभुत्सृज्य स्थिता धर्मश्रवार्थिनः ॥ ८-२४३ ॥

राजन् ! आपके दान की अनुमोदना करने से इन नकुल, बानर, सिंह तथा शुकर ने उत्तम भोगभूमि की आवृत्ति का बंध किया है; इस कारण ये धर्म श्रवण करने की इच्छा से यहाँ निर्भय होकर बैठे हैं :—

इतोष्टुमे भवे भविन्यपुनर्भवतां भवान् ।

भविताऽभी च तत्रैव भवे रेत्स्यन्त्यरंशयम् ॥ २४४ ॥

इस भव से आगामी आठवें भव में तुम तीर्थंकर वृषभनाथ होकर मोक्ष प्राप्त करोगे और उसी भव में ये सब भी निश्चय से सिद्ध होंगे।

श्रीमती च भवतीर्थे दानतीर्थप्रवर्तकः ।

श्रीयान्मृत्वा परंश्रेयः श्रीमत्यति न संशयः ॥ २४५ ॥

“श्रीमती का जीव भी आपके तीर्थ में दानतीर्थ का प्रवर्तक राजा श्रीयांस होकर उल्कृष्ट कल्याण रूप मोक्ष को प्राप्त करेगा इसमें संशय नहीं है।” इस वर्णन से धर्मात्मा ल्यक्ति की समझ में यह आत आ जाएगी कि पात्रदान तथा उसकी अनुमोदना के द्वारा बज्रजंघ, श्रीमती तथा सिंह आदि ने महान् पुण्य का बंध करके भोगभूमि आदि में अपूर्व सुख भोगे और क्रमशः उन्नति कर दन सबने मोक्ष-पद त्री प्राप्त की, इसलिए उनके समान उज्ज्वल पुण्य के संग्रह में विवेकी गृहस्थों की प्रवृत्ति कल्याणकारी है; क्योंकि इससे उक्त जीवों

के समान यह आत्मा विकास को प्राप्त कर निबोण अवस्था को प्राप्त कर सकेगा।

आत्म-निरीक्षण

आश्रद्धये की बात है कि मनुष्य आत्म-निरीक्षण कर सत्यता-पूर्वक यह सोचने का प्रयत्न नहीं करता, कि मैं हिंसा, माया, असत्य, प्रमादादि की मलिनता में छूत्र रहा हूँ तथा जीवन दीप बुझने के बाद अपनी असत् प्रवृत्ति तथा आत्मध्यान-रौद्रध्यान के फलस्वरूप तिर्यक-गति की निपट अज्ञानी की स्थिति में पहुँचूँगा, अथवा अनन्त दुःखों से पूर्ण भरक मैं निवास करूँगा, यह विचारकर बड़ी व्यथा होती है, कि आजकल पढ़कर आदर्शी आदर्श जीवन बनाने से विमुख होकर दूसरों को ठगने के साथ-साथ अपने आपको ही ठगते संकोच नहीं करता। असत् तर्क का आश्रय ले बह अपनी एवज्ज्ञान वापसी प्रवृत्तियों पर अध्यात्मवाद का मनोहर आवरण ढालता हुआ ऐसा प्रतीत होता है जैसे कोई मूढ़ अपने शरीर के भर्यकर फोड़े की पीप आदि जहरीली सामग्री को चिना साक किए ऊपर से सुन्दर दिखनेवाला वस्त्र पहिनकर उसे ढाँक ले। इस प्रक्रिया से बह घाव और भर्यकर-रूप होता है। इसी प्रकार पुण्य के साधनों में दोषदर्शन करता हुआ तथा उनको छोड़कर पाप कार्यों में निमग्न रहने वाला ऐसा ही विचार विहीन है; जैसे पानी को छोड़कर पेटोल राशि द्वारा शरीर को स्वच्छ करने के साथ अन्ति के सभीप तैठने वाला व्यक्ति, जो क्षण भर मैं अपनी विचार शून्यता के कारण जलकर भरम हो जाता है।

अमंगल प्रवृत्ति

आज के युग मैं भोग-विलास की सामग्री प्रबुर रूप मैं मनुष्य का धन ले लेती है। परोपकार, दान, पुण्य के लिए उसके पास देने योग्य दृढ़िय कठिनता से बच पाता है, ऐसी स्थिति मैं भी जो भक्तिपूर्वक पात्रदानादि कार्य करते हैं, वे यथार्थ मैं स्वुति के पात्र हैं, किन्तु ऐसे सात्त्विक दान देनेवालों को देखकर कोई-कोई उनकी अनुमोदना के बदले मन मैं कुटते हैं, दुःखी होते हैं और उस दान की निन्दा करते हैं। पाप कार्यों मैं पानी की तरह पैसे का बहाना जना इन जोगों को कष्ट नहीं देता, क्योंकि ऐसा करना उनको अपनी प्रतिष्ठा के

पूर्वकालीन चौबीस बुद्धों का सद्गमाब स्वीकार किया गया है, पारसियों में चौबीस श्रद्धार कहे गए हैं, वे इच्छापृति करने में अल्यन्त समर्थ हैं; तथा उनके आशीर्वाद का याम्राज्य मी महान है।” गुलनामक धर्म के साहित्य का अभ्यास यह बताता है कि तीर्थंकर ऋषगदेव आदि का उपदेश पूर्णतया वैज्ञानिक तथा बुद्धिमय रहा है। विद्यावारणि चंद्रतरायजी ने उपरोक्त विषय को इस प्रकार प्रकाशित किया है :—

Jainism then, is the Scientific Religion discovered and disclosed by man for the benefit of man and the advantage of all other living beings. (Introduction of Rishabha Deva, VI)

पुरातन भारतीय साहित्य का सूक्ष्म रीढ़ि के परिशीलन करने पर दो पक्षों का सद्गमाब स्पष्टतया दृष्टिगोचर होता है। अहिंसा की विचारधारा को अपनानेवाला वर्ग शक्तिवाथा, पशुवलिदान द्वारा इष्ट रिद्धि के पक्ष का पोषण विश्वर्वा करता था। अहिंसा की विशुद्ध धारा के समर्थक तथा प्रवर्धक समुदाय के पश्चात् जैन धर्मी कहा गया है। कुरुक्षणाल देश के क्रियाकारणी यात्रिक विश्वर्वा समघ तथा विदेह की निंवद्ध भूमि समझते थे, कथोंकि वहाँ अहिंसात्मक यज्ञ का प्रचार था। इसके पश्चात् जनक संदेश नरेशों के नेतृत्व में अहिंसा और आत्मविद्या का प्रभाव बढ़ा, अतः उपनिषद कालीन विवरण आत्मविद्या की शिक्षा दीक्षा के लिये कुरुक्षणाल देश से मगध तथा विदेह की ओर आने लगे थे। अहिंसावादी लोग एक विशेष भविष्य का उपयोग करते थे, जिसमें ‘न’ के स्थान में ‘ए’ का प्रयोग किया जाता था। वह स्पष्टतया प्राकृतभाषा के प्रचार तथा प्रभाव को सूचित करती थी। (१)

विवारक वर्ग के समन्वय वह प्रस्तुत होता है कि वेदकालीन गारतीय आंनि, सूर्य, चन्द्र, उपस्, हन्द्रादि की सुविदि करता था। इन प्राहृतिक वस्तुओं की अभिवंदना करते हुए वह व्यक्ति उपनिषद काल में उच्च आत्मविद्या की ओर झुक जाता है। पहले वह सर्वं की कामना करदा हुआ कहता था “अभिष्ठेनेन यजेत् स्वर्गकामः”, किन्तु उपनिषद काल में वह घोषिक वैभव की ओर आकर्षणीन बनकर आत्मविद्या तथा अमृतत्व की ऊर्जा में संलग्न पाया जाता है। नाचकेता सद्गु वरलक समस्त वैभव की सालत दिए जाने पर भी उराकी ओर आकर्षित न होकर अमृतत्व के

तीर्थकर

अनुरूप लगता है। असात्यिक कार्यों में अपनी धनसम्पत्ति का व्यय करने वाला रत्नत्रयभारी मुनीन्द्रों की योग्य सेवा, परिचर्थी में द्रवश्वय का आनन्द नहीं जानता। कुण्ठि में जाने वाले जीव के भाव तथा आचरण धर्म तथा धर्मात्मा आदि के प्रतिकूल हुआ करते हैं। नीचगति में जाने वाले प्राणी बहुत हैं, सुगति में जाने वालों की संख्या न्यून है, इसलिए हिंसा, माया लोभादि के पथ में प्रवृत्त होने वाले अधिक मिलते हैं और आज के कलिकाल में ऐसों की बुद्धि दुःख अवश्य पैदा करती है, फिन्तु उसे देखकर आश्चर्य नहीं होता। यदि इस काल में लोग अधर्म की ओर प्रवृत्ति न करें, तो फिर यह दुष्प्राप्ति क्यों कहा जाता ? जीव की अधर्म की ओर प्रवृत्ति के लिये प्रेरणाप्रद प्रचुर सामग्री अत्र न त्रय मिलती है। पूर्वमें कुदान, कुतप करनेके कलसे आज यापसी जीवनी बिताते हुए भी धन चैभव सम्पत्ति लोगों को देखकर अमवश्य लोग यह मान बैठते हैं, कि सदाचार का कोई मूल्य नहीं है। चैचारी शीलबती सती कष्टपूर्वक जीवन निर्बाहि कर पाती है और हीनाचरण वाली लक्ष्माण विज्ञासी पुरुषों के कारण चैभव के साथ सुखी और समृद्ध दिखाई पड़ती है। ऐसी ही अन्यथा भी विचित्र दशा दिखाई पड़ती है। ऐसी स्थिति में सद्गुर्में श्रद्धा रखकर सत्पात्रदानादि में अपनी सम्पत्ति आदि का उपयोग करने वाले व्यक्ति विरले हैं। उनका भविष्य उज्ज्वल है और पाप प्रवृत्तियों में लगे लोगों का जीवन भावी पतन का निश्चायक है। प्रायः देखा जाता है कि असदाचार के मार्ग में लगने वाले जीव की इसी जन्म में दुर्गति हुआ करती है।

अधर्म से पतन

आगामी जीवन के विषय में सर्वेह प्रणीत आगम कहता है 'धर्म के द्वारा आत्मा उध्वंगमन करता है तथा अधर्म द्वारा उसका नरकादि गतियों में पतन होता है' :—

धर्मेणात्मा द्रजत्यूर्ध्वम्, अधर्मेण पतत्यचः ॥१०—११॥

नरक गति में जाकर दुःख भोगने वाले कौन जीव हैं इस प्रश्न का उत्तर देते हुए महापुराणकार ने लिखा है 'कि साधु वर्ग के प्रति दोष लगाने वाले, उनसे द्वैष करने वाले आदि जीवों का नरक में पतन होता है।'

सत्युरुपी की निंदा से घोर पाप

आजकल त्वारी तथा मुनि निन्दा के कार्य में अल्पज्ञ हो नहीं, बड़े-बड़े शास्त्रज्ञ भी गर्व के साथ प्रवृत्त होकर जनसाधारण के मन को मलिन बनाते हैं। हमें समाज में गरिब प्राप्त ज्ञानमद, तथा प्रमुख मद्दाले ऐसे अनेक व्यक्ति मिले, जो किसी साधु का परिचय बिना प्राप्त किए ही अपनी मुख्यरुपी बांधी से दुष्ट धन्यवान रूपी विषधर को निकाला करते हैं।

उग्रतपस्वी चारित्रचक्रवर्ती आचार्य शांतिसागर महाराज ने एक बार कहा था कि “लोग साधु निंदा का क्या दुष्परिणाम होता है, इसे भूल जाते हैं। साधु का जीवन तो गाय के समान है। उस निरपराधी साधु की यदि काई निंदा करता है, वह उसका उत्तर प्रत्युत्तर न देकर उसको शांत भाव से सहन करता है।”

चेतावनी

महामुराराकार ही यह चेतावनी ध्यान देने चाहिये है :—“ते नराः पापभारेण प्रविश्यति रसातलम्”—वे पुरुष कौन हैं ? जो पाप के भार से रसातल में (नरक में) पहुँचते हैं इसका स्पष्टीकरण करते हुए आचार्य कहते हैं :—

ये च निध्यादशः क्रूरा रौद्रव्यानपरायणः ।

स्त्रेषु निरनुक्रोशः बहुरभ्यपरिप्रहा ॥ १०—२३ ॥

वर्मद्रुहश्च ये नित्यम् अर्घर्मपरिषोषकाः ।

दृष्टकाः साधुवर्गस्य मात्सर्योऽप्यतात्र ये ॥ २४ ॥

सूज्यन्त्यकारण ये च निर्द्यन्थेभ्योऽतिभतकाः ।

मुनिभ्यो धर्मशीलेभ्यो गत्युमांसणने रताः ॥ २५ ॥

वावकान् योषयित्यात्मजीवानां येऽतिनिर्दृशणः ।

खादका मधुमांसस्य तेषां ये चातुर्मोदकाः ॥ २६ ॥

जो निध्यादशि हैं, रौद्रध्यान में तत्पर हैं, प्राणियों में सदा निर्देय रहते हैं, बहुत आगम्य और परिव्रह रखते हैं, सदा वर्म से द्रोह करते हैं, अधर्म में संतोष रखते हैं, साधुओं की निन्दा करते हैं,

मात्सर्य संयुक्त हैं, धर्म सेवन करने वाले परिग्रहरहित मुनियों से विना कारण ही क्रोध करते हैं, असिंशय पापी हैं, मधु और मांस खाने में तत्पर हैं, अन्य जीवों की हिंसा करने वाले कुत्ता,^१ विल्ली आदि पशुओं को पालते हैं, अनिशय निर्दय हैं, स्वयं मधु मांस खाते हैं और उनके खाने वालों की अनुमोदना करते हैं। वे जीव पाप के भार से नरक में प्रवेश करते हैं।

निंदनीय प्रवृत्ति

कुछ लोग प्रसन्नतापूर्वक साधुओं का अवर्णबाद करते हैं, उनमें मिथ्या दोष लगाते हैं, कभी अल्प दोष होता है तो उसे बढ़ाकर अचार करते हैं। एक बार देखें दोष का प्रायश्चित्त लेने पर भी ये जीवन भर उस दोष से लिप्त साधु को मानते हैं। ऐसे लोग कहते हैं हम समालोचना मात्र करते हैं। हमारा भाव निन्दा का नहीं है।

ये सज्जन यह सोचें, कि क्या स्त्रीकरण और उपगूहन अंगों का अथे यही मानना उचित है, कि पत्रों में साधुओं के विरुद्ध दूषण छापते जाय किन्तु उससे धर्म को कोई दूषित नहीं पहुँचती। जननी और जनक का अपनी संतति के प्रति जिस समस्तामयी दृष्टि का सङ्घाव रहता है, क्या ऐसी दृष्टि इन लोगों की रहती है, जो गुण पर पर्दा ढालकर उराई को ही बढ़ाकर साधुओं को लांछित करते हैं? कभी कषायोदयवश किसी साधु में कोई दोष आ गया, तो बाल-चिकित्सक के समान ऐसे साधुओं की अंतरङ्ग चिकित्सा करनी चाहिए। ऐसा न कर पत्रोंमें निन्दा छापनेसे बीतराग संस्कृतिके विषयी लोग धर्मका उपहास करते हैं, यह बात ये महानुभाव नहीं सोचते यह दुःख की बात है।

श्रेणिक का उदाहरण

साधु परमेश्वी के महत्व को भूलने वाले ये पढ़े लिखे निंदक महानुभाव कृपा कर राजा श्रेणिक के उदाहरण को हृषि पथ में रखें तो उचित हो। मिथ्यात्व की अवस्था में श्रेणिक राजा ने^२ यशोधर मुनिराज के गले में मरा सर्प डाला था, इस दुष्ट कार्य के कारण

^१ कुत्तो मुनिवनन्दसर्ताद्या मिथ्यादशन मवा।

^२ यैनायुष्कर्म दुर्मोचन वद्व इवाङ्गी गति प्रति ॥ महापुराण २-२४ ॥

श्रेणिक ने नरकायु का बन्ध किया था। वह बन्ध तीर्थकर महावीर प्रभु के समयशरण में बहुत समय तक रहने पर भी छूट नहीं सका। बीतराग निर्गमन्थ साधुओं में बिलक्षण शक्ति का सङ्ग्रह पाया जाता है। इनकी भक्ति वाला जीव रब्यमेव उन्नति को प्राप्त करता है, तथा निदक समृद्ध होते हुए भी शनैःशनैः पतन को प्राप्त करता है।

मुनियों द्वारा अपार हित

उत्तरपुराण में बताया है कि महावीर तीर्थकर का जीव बहुत भय पहले पुरुषवा भीज था। वह साथरसेन मुनि को देखकर वध करने को तत्पर था, कि उसकी जी काजिका ने कहा 'वनदेवारचरंतीमे सावधीः' (७४ पर्व, १८) 'ये वन देवता हैं। इनका वध नहीं करना चाहिए।' इस प्रकार उस पाप कार्य को त्यागकर वह पुरुषवा उन मुनिराज के पास गया, और उसने उनके पास से मध्य, मांस तथा मधु त्याग रूप ब्रत लिए थे। इस प्रकार उस पतित आत्मा का उद्धार दिगम्बर जैन साधु के निमित्त से हुआ था। इस तरह इन मुनियों के द्वारा गणनातीत जीवों का कल्याण होता है। उन पावन-मृति दया के देवताओं के प्रति बात्सल्य तथा भक्ति कल्याणदायी है।

स्वामी समन्तभद्र ने रितीकरण का लक्षण करते हुए लिखा है कि वह कार्य धर्म-बत्सल प्राज्ञ पुरुष करते हैं। विकृत मनवाले मानव की अंतर्चिकित्सा बालबुद्धि व्यक्ति द्वारा सम्भव नहीं है। उस हृदय शुद्धि के कार्य को करने वाला धर्म प्रेमी तथा बुद्धिमान (धर्मबत्सल प्राज्ञः) होना चाहिए। अयोग्य व्यक्ति यदि चिकित्सा कार्य में प्रवृत्त होता है, तो उससे अहित अधिक होता है। आज जो भी निन्दापूर्ण लेख तिखने में कुछ प्रब्रीणता धारण करता है, वह साधु की त्रुटि को देखकर घाव पर बैठने वाली मक्खी की तरह पीड़ा देने के साथ घाव को बढ़ाने का कार्य करता है।

सज्जनों का कर्तव्य

सत्यपुरुषों की विषधरों से डरना नहीं चाहिए। नारदमनी रूप जिनभक्ति का आश्रय ले आत्म शुद्धि के मार्ग में उन्नति करते जाना चाहिये। जिसके हृदय में बीतराग की भक्ति है, आगम की श्रद्धा है, यथार्थ में उसका कोई भी विगड़ नहीं कर सकता है।

आचार्य सानुतुग का यह पद बहुत प्रेरणादायी है :—

सपूर्णमरुडलशशोक्लाक्लाप् ।

शुआगुणस्त्रिभुवनं तव लन्धयन्ति ॥

ये संशितास्त्रिजगदीश्वरनाथमेकम् ।

कस्तान्निवारयति संचरते यथेष्टम् ॥ १४ ॥

हे ऋषभनाथ भगवान ! पूर्णचन्द्रमा की कलाओं के समान आपके निर्मल शुण त्रिलोक की लांत्रते हैं—तीन लोक में व्याप्त हो जाते हैं। जिन्होंने त्रिभुवन के स्वामी एक आष्टका शरण प्रहणकिया है, उनको इच्छानुसार संचरण करते हुए कौन रोक सकता है ?

इस विषय में इतना ही लिखनः उचित प्रतीत होता है कि विवेक के प्रकाश में वात्सल्य हृषि को सजग रखते हुए सत्पुरुषों की साधु-भक्ति और सेवा द्वारा अपने जीवन को सफल बनाते हुए जिनदेव से प्रार्थना करना चाहिए फिर उनकी भक्ति के प्रसाद से संयमी की सेवा के प्रसाद रूप में स्वयं का जीवन भी उस साम्य भाव से अनुप्राणित बीतराणवृत्ति की ओर अपसर हो।

शरीर नियन्त्रित द्वारा ध्यान-सिद्धि

भगवान ने कठोर से कठोर तपोग्नि में कर्मों को नष्ट करने का महान उद्दीग अंगीकार किया था। इसमें संदेह नहीं है कि मनोजय के द्वारा कर्मों का ज्ञय होता है। उस मन को इन्द्रियों के द्वारा विकार-वर्धक सामग्री प्राप्त होती है। शरीर द्वारा कठोर तप करने से उनमें इन्द्रियां शांत हो जाती हैं। आचार्य कहते हैं कि भगवान ने घोर तपरचरण किया था। इसका कारण यह है :—

निरूहीतशरीरेण निरूहीतान्यसंक्रयम् ।

चक्षुशीदीनि रुद्धे पुतेषु रुद्धे मनो भवेत् ॥२०-१७८॥

मनोतोषः परं ध्यानं तत्कर्मकृपसाधनम् ।

ततोऽनन्तसुखावासिः ततः कर्त्य प्रकर्त्यवेत् ॥२०-१८०॥

“शरीर का नियन्त्र होने से चक्षु आदि सभी इन्द्रियों का नियन्त्र हो जाता है और इन्द्रियों का नियन्त्र होने से मन का निरोध होता

है। मन का निरोध होना ही उल्कृष्ट ध्यान कहलाता है तथा यह ध्यान ही समस्त कर्मों के लक्ष्य का साधन है और समस्त कर्मों का लक्ष्य हो जाने से अनन्त सुख की प्रगति होती है। इसलिए शरीर को कृश करना चाहिए।

‘पूरीर को स्थूल बदाने योग्य सुमधुर सामग्री प्रदान करने से आत्मा की निधि को प्रमाद रूपों और लृटने लगते हैं। शरीर की रक्षा इसलिए आवश्यक है कि उसके द्वारा तप होता है। यथार्थ में साधु आत्मशक्ति की वृद्धि को मुख्य लक्ष्य बदाते हुए शरीर को योग्य सामग्री प्रदान करते हैं। पूज्यपाद स्वामी का यह कथन गम्भीर अनुभव पर प्रतिष्ठित है कि जीव का कल्याण तथा शरीर का हित इन दोनों में संबंध होता है, क्योंकि :—

यज्ञीयस्थोपकाराय तदेहस्थोपकारकम् ।

यदेहस्थोपकाराय तज्जीयस्थोपकारकम् ॥

‘जिस तपश्चर्या के द्वारा जीव का कल्याण होता है, उसके द्वारा शरीर की भलाई नहीं होती। जिसके द्वारा शरीर को लाभ पहुँचता है, उसके द्वारा आत्मा का हित नहीं होता।’

भगवान की वृत्ति

भगवान वृषभदेव मुमुक्षु हैं। संसार के अनंत दुःखों से छूटकर अपने रूपरूप को प्राप्त करना चाहते हैं। इस कारण वे कर्मों को जलाने में तत्पर हैं।

कर्मन्धनानि निर्देश्वरम् उद्धतः स तपोभिना ।

दिदोपे नितां धीरः प्रज्जलन्निव पात्रकः ॥२०-१८५॥ महापुराण

वे वृषभदेव सीर्थकर तप रूपी अग्नि के द्वारा कर्म रूपी ईधन को जलाने को उद्यत हुए। अतः वे धीर प्रभु अत्यन्त दैदीप्यमान श्रम्भि के समान शोभायमान होते थे। उस समय भगवान असंख्यात गुण श्रेणी रूप कर्मों की निर्जनकर रहे थे। वे भगवान मिश्र-भिन्न निर्जन स्थलों पर जाकर आत्मध्यान किया करते थे।

कदाचित् गिरिकुञ्जेषु कदाचिद् गिरिकन्द्रे ।

कदाचित्प्रिष्ठेषु दध्यानव्यात्मतत्त्ववित् ॥२०-२११॥

बालदग्धतत्त्व के हानि वे प्रभु जमी गर्भीत के लगाएँहों मैं,
कभी गिरिगुहाओं मैं, कभी पर्वत की शिखरों पर ध्यान किया करते थे ।

जिनसेन आचार्य कहते हैं :—

मौनी ध्यानी स निर्मानो देशाभ् विहरन् शनैः ।

पुरं पुरिमतालपुर्यं सुधीरन्येषु रासदत् ॥२०-२१८॥

पुरिमतालपुर में प्रभु का अपूर्व ध्यान

मौनी, ध्यानी, निर्मानी वे बुद्धिसान भगवान् धीरेधीरे अनेक देशों का विद्वार करते हुए एक दिन् पुरिमतालपुर नाम के नगर के समीप पहुँच गए ।

वहाँ वे नगर के समीपवर्ती शकट नामके उद्यान के बट वृक्ष के नीचे पूर्व दिशा की ओर मुख करके एक शिला पर ध्यान के हेतु विराजमान हो गए । उन्ने सिद्ध परमेष्ठी के अनंत दर्शन, अनंतज्ञान, अनंतवीर्य, सम्यक्त्व, सुद्भवत्व, अवगाहनत्व, अन्याबाधत्व और अगुरुलघुत्व इन अष्ट गुणों का ध्यान किया । इतने लम्बे अभ्यास के द्वारा प्रभु का मनोवल अत्यन्त वर्धमान हो चुका है ।

प्रभु का मोह से महायुद्ध

अब वे मोह शत्रु का पूर्णतया संहार करने का प्रयत्न कर रहे हैं । वे प्रभु पहले भी मोहनीय कर्म से छुड़ कर चुके हैं । इस भव से दो भव पहले वे चञ्चनाभि चक्रवर्ती थे । उस समय उन्ने अपने पिता चञ्चसेन तीर्थकर के पादमूल में निर्यत्य दीक्षा लेकर घोड़श कारण भावनाओं का चितवन किया था । महापुराण में कहा है :—

ततोऽसौ भाववामास भावितात्मा सुधीरधीः ।

स्वगुरुर्जिन्कर्ते तीर्थकृत्वस्यांगनि घोडशः ॥ ११-६८ ॥

आत्मा का चितवन करने वाले धीर वीर चञ्चनाभि मुनिराज ने अपने पिता चञ्चसेन तीर्थकर के निकट तीर्थकरत्व में कारण सोलह कारण भावनाओं का चितवन किया था ।

विशुद्धभावनः सःयग् विशुद्धयन् स्वविशुद्धिभिः ।

तदोपशमकश्चेष्टी मास्तोह मुनीश्वरः ॥ ८८ ॥

विशुद्ध भावना वाले उन मुनोंश्वर ने आत्म विशुद्धि की भली प्रकार बढ़ाते हुए उपशम श्रेणी पर आरोहण किया। अंतमूर्तूर्त पर्यन्त उनने उपशांत मोह अवस्था का अनुभव किया। पश्चात् वहाँ से न्युत होकर वे स्वस्थान अप्रमत्त गुणस्थान में आ गए। यारहवें गुणस्थान में उनने आरोहण किया था, क्योंकि उनने मोहनीय कर्म का उपशमन किया था, क्योंकि उनने मोहनीय कर्म का उपशमन किया था, क्योंकि उनने मोहनीय कर्म का उपशमन किया था। इसके बाद दूसरी बार भी वे यारहवें गुणस्थान को पहुँचे थे। वहाँ पहुँचने के पश्चात् उनकी मृत्यु ही गई थी, इससे उनका सर्वार्थसिद्धि में जन्म हुआ था। आचार्य जिनसेन का कथन है :—

द्वितीयबार मारुद्ध श्रे श्री मुपशमादिकाम् ।

पृथक्त्वध्यानमापूर्ण-समाधि परमं श्रितः ॥ ११० ॥

उपशान्तगुणस्थाने कृतप्राणविसर्जनः ।

सर्वार्थसिद्धिमासात्य संप्राप्त सोऽहमिन्द्रताम् ॥ ११-१११ ॥

वे पृथक्त्ववितर्क ध्यान को पूर्णकर द्वितीय बार उपशम श्रेणी पर आरोहण कर उत्कृष्ट समाधि को प्राप्त हुए। उपशांतकषाय नाम के यारहवें गुणस्थान में उनने प्राण विसर्जन कर सर्वार्थसिद्धि में जाकर अहमिन्द्रता प्राप्त की थी।

इस प्रकार उन प्रमु का दो बार मोहनीय कर्म से युक्त ही चुका था। मोहनीय का पूर्णक्षय न करने के कारण ये सर्वार्थसिद्धि में तेतीस सागर पर्यन्त अहमिन्द्र रहे। गोम्बटसार कर्मकांड की गाथा ५५६ की संस्कृत टीका में लिखा है :—

उपशांतमुण्डे रथो येषां मृत्युः प्रजायते ।

अहमिन्द्रा भवन्त्येते सर्वार्थसिद्धिसद्वनि ॥ पृष्ठ ७६२ ॥

उपशांत कषाय गुणस्थान में जिनकी मृत्यु होती है, वे सर्वार्थसिद्धि विमान में अहमिन्द्र होते हैं।

मोह के मूलोच्छेद का उद्घोग

अब मोहनीय कर्म को जड़, मूल से नष्ट करने के लिए भगवान ने विशेष प्रकार की सामग्री एकत्रित की थी। एक कुशल

शासक के रूप में उन्ने विशेष प्रकार के चोद्धा का रूप धारण किया था :—

शिरस्त्राणं तनुत्रं तस्यासीत् संघमद्वयम् ।

जैत्रमस्त्रं च सद्ध्यानं मोहरर्ति विभिन्नतः ॥ २०-२३५ ॥

भगवान् ने मोहशब्द के लिए इंद्रिय संयम को शिर की रक्षा करने वाला टीप और ग्रन्थिसंयम रूपी शरीर रक्षक कवच बनाया था और उक्तम् ध्यान का अवशील अस्त्र बनाया था ।

अंतर्मुद्द का चित्रण

ध्यान के द्वारा कर्म रात्रुओं का पर—प्रकृतिस्त संकरण हो रहा था । कर्मों की शक्ति क्षीण हो रही थी । अब भगवान् ने लक्षपक श्रेणी पर आगोदण करने की प्रणे तैयारी कर ली । लक्षण सम्यकत्वी होने से मोहनीय की अनंतात्मुद्दी असुप्त तथा दर्शन मोहत्रिक इन सात प्रकृतियों का ज्ञय हो चुका था । उन्ने सातिश्य अप्रमत्त गुण स्थान को प्राप्त किया । अधः प्रवृत्तकरण के अंतमुद्दृते पश्चात् अपूर्व करण नाम के आठवें गुणस्थान को प्राप्त किया । यहाँ एक भी कर्म का ज्ञय नहीं होता है, मिन्तु प्रत्येक समय में असंख्यात् गुणित रूप से कर्म प्रदेशों की निर्जरा होती है ।

ध्वला टीका में लिखा है, “तदो अधापवत्तकरणे कमेण काऊणंतोमुहुत्तेण अपुच्वकरणो होदि । सोए एककं पि कम्भं बखवेदि, किंतु समयं पद्धि असंखेऽजगुणसर्वेण पदेस-पितृजरं करेदि” (भाग १, पृ. २१६) ।

सर्वार्थसिद्धि में पूज्यपाद स्वामी कहते हैं कि अपूर्वकरण क्षपक गुणस्थान वाला पाप प्रकृतियों की स्थिति तथा अनुभाग को न्यून करता है तथा शुभ प्रकृतियों के अनुभाग को वृद्धिगत करता है । इसके अनंतर अनिवृत्तिकरण गुणस्थान को प्राप्त करके सत्कर्म-प्रभासूत के उपदेशानुसार स्त्यानगुद्धि, निद्रा-निद्रा, प्रचला-प्रचला नरकगति, तिर्यगति, एकेन्द्रियजाति, द्विन्द्रियजाति, त्रीन्द्रियजाति, चतुरिन्द्रिय जाति, नरकगति प्रायोग्यात्मुद्दी, तिर्यगति प्रायोग्यात्मुद्दी, आताप, उद्योग, स्थावर, सूर्य और सात्रारण इन सोलह प्रकृतियों का ज्ञय करते हैं । अंतमुद्दृते के पश्चात् प्रत्याख्यानावरण तथा आपत्याख्याना-

बरण क्रोध, मान, माया तथा लोभ रूप कषायाषुक का नाश करते हैं।

कषायप्राभृत की देशना

इस विषय में कपायप्राभृत शास्त्र की भिन्न प्रतिपादना है। उसके उपदेशानुसार घट्टे कपायाषुक का ज्यु होता है, पश्चात् उक्त सोलह प्रकृतियाँ नष्ट होती हैं। इसके अनन्तर नपुंसक वेद का ज्यु करके अन्तमुहूर्त के उपरान्त स्त्रीवेद का ज्यु होता है। पश्चात् नोकषाय पट्टक का पुरुषवेद रूप में, पुरुषवेद का क्रोध संज्वलन में, क्रोध संज्वलन का भान संज्वलन में, भान संज्वलन का भाया संज्वलन में, भाया संज्वलन का लोभ संज्वलन में क्रमशः बादर कृषि विभाग से ज्यु करके बादर लोभ संज्वलन को कृश करके मूर्कमसापराय गुणस्थान को प्राप्त करते हैं।

जीणमोह गुणस्थान की प्राप्ति

लोभ संज्वलन का ज्यु कर जीण मोह नाम के बाहरवें गुणस्थान को प्राप्त करते हैं। वहाँ उपान्त्य अर्थात् द्विचरिम समय में निद्रा तथा प्रचला प्रकृति का ज्यु करके अन्तिम समय में पंच ज्ञान-बरण, चार दर्शनावरण, पंच अन्तराय इन सोलह प्रकृतियों का ज्यु करके सयोगकेवली जिन होते हैं। धबला टीका में लिखा है “एदेसु सद्विकम्मेसु खीणेसु सओगिजिणो होदि। सजोगिजिणो ण किंचि कम्मं खर्वोद” (भाग १, पृ० २२३)।—इस प्रकार साठ प्रकृतियों का ज्यु करके सयोगी जिन होते हैं। सयोगी जिन कोई भी कर्म का ज्यु नहीं करते हैं। सयोगी जिन भगवान के द्वय प्रकृतियों का सङ्काव कहा गया है, अतः १४८ में ६३ प्रकृतियों का ज्यु होने पर शेष द्वय प्रकृतियाँ रहती हैं। पूर्वोक्त कर्म प्रकृतियों के ज्युण कर्म के अनुसार साठ प्रकृतियों का ज्यु बताया है।

विचारणीय विषय

इस कारण यह बात विचारणीय है कि तीन प्रकृतियों के ज्यु का क्यों नहीं उल्लेख किया गया?

आगम में कहा है “कर्माभावो द्विविधः—यज्ञसाध्योऽयज्ञ-साध्यश्चेति तत्र चरमदेहस्य नारकतिर्यग्देवाद्युषामभावो न यज्ञसाध्यः

रहस्य को स्पष्ट करने के लिए यम से अनुग्रेष्ठ बरता है; मैथ्रेयी यज्ञवल्क्य से धन के प्रति निष्पुहता च्यता करती हुई अग्रूतत्व की उज्ज्वल चर्चा करती है। इस प्रकार उपनिषद् कालीन व्यक्ति के दृष्टिकोण में अद्भुत परिवर्तन का क्या कारण है ? त्वामी समन्तभद्रके कशन से इस विषय में महत्वपूर्ण प्रकाश प्राप्त होता है। भगवान् महावीर से २५० वर्षं गूर्वकर्ता भगवान् पाश्वनाथ की रापेमर्या श्रेष्ठ साधना के द्वारा अरण्यवासी तपस्त्रियों को सत्य-तत्त्व की उपलब्धि हुई थी तथा उन्ने पाश्वनाथ भगवान् का शरण ग्रहण किया था। उनके खंडभूस्तोत्र में आगत वह पद्म मनन योग्य है:—

यमीश्वरं वीक्ष्य विघृतकल्पमयं तपोधनास्तेष्यि तथा दुष्पूचुः ।

वनौकसः स्वश्रमकेव्यं तुद्युः शमोपदेशं शरणं प्रपेदिरे ॥

‘दोष सुक भगवान् पाश्वनाथ को देख कर बनवासी तपस्त्रियोंने, जिनका अप व्यर्थ जा रहा था तथा जो पाश्वनाथ प्रसु के समान निर्दीष्ट स्थिति को प्राप्त करना चाहते थे, भगवान् के शान्तिनाथ अहिंसा पूर्ण उपदेश का शरण ग्रहण किया।’ पद्म में आगत “वनौकसः” शब्द वन में निवास करने वाले आरण्यक, ‘तपोधनाः’ तपस्त्रियों की भूचित करता है। बाल-बहाचारी उप्र तपस्वी पाश्वनाथ लीर्थकर का प्रभाव उपनिषद् कालीन भारतीय के जीवन पर स्पष्टतया सूचित होता है।

शान्त भाव से चिन्तन तत्पर सत्यान्वेषी इल तत्य को भी स्वीकार करेगा कि ब्रह्मसबै तीर्थकर भगवान् नेमिनाथ का भी महान् प्रभाव रहा है। बालबहाचारी तथा कल्पा के सामर भगवान् नेमिनाथ को अरिष्टनेति कहकर उनकी वेद में सुनिए की गई है:—

स्वस्ति न इद्रोऽवृद्धश्चावा, स्वस्ति नः पूषा, विश्ववेदा, स्वस्ति नस्तादर्थे
अस्तिष्टेमि, स्वस्ति चो वृहस्पतिर्द्युधातु ॥ ऋग्वेद अष्टक १ अध्याय ६

वे अस्तिष्टेमि हमारा कल्पाण करे, जो इद्र (परमेश्वर) हैं, जो वृद्धश्चावा (जिनका वश बृद्धों में विल्यात है) हैं, तर्थ के समान पौषण प्रदाता होने से पूषा हैं, विश्व के राता सर्वज्ञ हैं, जो तार्थर्थ अर्थात् महाशानियों के बंश वाले हैं, तथा जो त्रुहस्ति हैं अर्थात् महान् देवों के अधिपति हैं।

मंत्र में आगत शब्द ‘वृद्धश्चावा’—बृद्धों में जिनका वश वर्तमान हैं, महत्वपूर्ण है। इससे वह स्वनित होता है कि इस मंत्र वे रथना के पूर्व भर्गवान् अस्तिष्टेमि विथ्यावान् थे।

तीर्थेकर

असत्वान्” (सर्वार्थसिद्धि अध्याय १३, सूत्र २) कर्मों का अभाव यज्ञसाध्य तथा अयज्ञसाध्य रूप से दो प्रकार कहा गया है। चरमदेह वाले जीव के नरक, तिर्यच तथा देवायु का अभाव अयज्ञसाध्य है, क्योंकि वे तीन आयु की सत्ता रहित हैं। शेष साठ प्रकृतियों का ज्यय यक्ष साध्य कहा गया है।

सामान्य दृष्टि से कहा जाता है कि ब्रेसठ प्रकृतियों का ज्यय करके केवली भगवान् होते हैं। इनमें धातिया कर्म सम्बन्धी सैलालीस प्रकृतियाँ रहती हैं। अत्रातिया की सौलह प्रकृति रहती हैं।^१

भगवान् ने मोह का ज्यय करने के इपरान्त जब वारहों कीण मोह गुणात्मान पर आरोहण किया था, उस समय वे परमार्थ सूप में निर्यन्त्र-पदवी के स्वामी बने थे। इसके पूर्व उसको निर्यन्त्र शब्द से कहते थे, उसमें नैगम नय की दृष्टि प्रधान थी। सर्वार्थसिद्धि में लिखा है “चारित्रपरिणामस्य प्रकर्त्त्वप्रकृत्यभेदे सत्यपि नैगमसंग्रहादिनयापेक्ष्या सर्वेषि ते निर्यन्त्या इत्युच्यन्ते” (अ. ६ सूत्र ४७) — चारित्र के परिणामन की अधिकता, न्यूनता कृत मेद होते हुए भी नैगम, संग्रह आदि नवों की अपेक्षा पुलाकादि सभी मुनियों को निर्यन्त्र कहते हैं। निर्यन्त्र शब्द का वाच्यार्थ है ‘प्रन्थ रहित’। प्रन्थ का अर्थ है मूलज्ञी वाथवा ममत्व परिणाम। ये परिणाम मोहनीय कर्मजन्य हैं। अतएव मोह का अत्यन्त ज्यय होने पर अन्वर्थी रूप में निर्यन्त्र अवस्था प्राप्त होती है।

मोह ज्यय के पश्चात् धातिया ज्यय का क्षय

मोहनीय कर्म के ज्यय होने पर ज्ञानावरण, दृश्यनावरण तथा अन्तराय ये तीन धातिया कर्म अन्तर्युहूर्ति में नाश को प्राप्त होते हैं। यही बात पूज्यपाद स्वामी ने इस प्रकार स्पष्ट की है “प्रतेर्व मोहं ज्ययमुपनीयान्तर्मुदूर्ते क्षीणकपाथव्यापदेशसवाप्य ततो तुशपञ्चान-दर्शन-

^१ देव-शास्त्र-गुह की पूजा में लोग पढ़ते हैं “नूउ करम की त्रैरात्र प्रकृति नाए,” यह ठीक नहीं है। चार धातिया कर्मों की सैलालीस प्रकृतियाँ होती हैं। ज्ञानावरण की पांच, दृश्यनावरण की नी, अगराय की पांच तथा मोहनीय की अद्वाईस भिलदर ४७ होती है। इनसे पूजा में यह पढ़ना नाहिय, “करमन की ब्रेसठ प्रकृति नाए” वा “नूउ करम, ब्रेसठ प्रकृति नाए”, क्योंकि वार कर्म सुख्य है।

तौरेकर

वरणान्तरयाणां ज्यं कुत्वा केवलमवाप्नोति” (सर्वीर्थसिद्धि, अध्याय १०, सूत्र १) — पहले मोहनीय कर्म को ज्ञव करके अन्तमें तत्काल पर्यन्त तीएकवाच नाम को प्राप्त करके मुगपत ज्ञानावरण, दर्शनावरण तथा अन्तराय कर्म का विनाश करके केवलज्ञान को प्राप्त करते हैं। सर्वज्ञता की उपलब्धि में ज्ञानावरण का ज्यं साक्षात् कारण है, किन्तु इसके पूर्व मोहनीय कर्म का विनाश अनिवार्य है।

मोहक्षय द्वारा वीतराग विज्ञानता का लाभ

मोहक्षय के उपरान्त वीतराग विज्ञानता की प्राप्ति होती है। गृहस्थों को कभी-कभी वीतराग बनने को कहा जाता है। गृहस्थाचस्था में मोहक्षय असंभव है। युनि पदवी को प्राप्त करके ही वीतराग विज्ञानता की प्राप्ति होती है। गृहस्थ अपना लक्ष्य जैसे परमात्म पदवी को बनाता है, उसी प्रकार वह ध्येय रूप में वीतराग विज्ञानता को बना सकता है।

आज के इस दुष्प्राप्ति काल में उत्पन्न हुआ गृहस्थ हो, या मुनि हो, उनको वीतराग विज्ञानता की प्राप्ति तो दूर उस वीतराग विज्ञान ज्योति युक्त आत्मा का दर्शन भी शक्य नहीं है। यदि कोई विदेह जाने थोस्य तपस्या द्वारा चारण सर्वाद्रिप्राप्त कर ले, तो अब यह वीतराग विज्ञानता से सम्लिङ्गित साधुराज के दर्शन कर सकता है। वर्तमान युग में प्रवर्धमान मोह का साम्राज्य देख उक्त कथन कल्पना मात्र है।

आजकल वीतराग का दर्शन भी दुर्लभ है

अतः कोई-कोई गृहस्थ ऐसी वातें करते हैं, मानो वे वीतराग बन गए हों, वह मिथ्या है। वीतरागाचस्था बालविनोद की वात नहीं है। कुछ पुरुषार्थी करना, धर्म तथा सदाचरण से दूर भागना, सदाचार बालों की निंदा करना ही अपना ध्येय बनाने वाले वीतराग विज्ञानी बनने का स्वप्न भी देखने में असमर्थ हैं। स्व० आचार्य वीरसामर महाराज ने कहा था ‘मनो वसे, स्वप्नो दिसे’—जो बात मन में निवास करती है, वह स्वप्न में दृष्टिगोचर होती है। जिनके

हंदूय में वीतरागता की भावना ही उनका चरित्र बकराज की भाँति न होकर राजहेस सहश द्वेष होता है।

मासिक समीक्षा

इस प्रसंग में आचार्य समंतभद्र की एक मासिक चर्चा ध्यान देने योग्य हैं। सर्वत्य दर्भुन कहता है, “ज्ञानेन चापवर्गे विषयेणादिष्यते वंधः” ज्ञान के द्वारा सौख्य प्राप्त होता है, अज्ञान के द्वारा वंध होता है। इस सिद्धान्त का समर्थन अन्य भारतीय दर्शन भी करते हैं। इस विचार की समीक्षा करने हुए समंतभद्र स्वामी देवागम स्तोत्र में कहते हैं :—

अज्ञानाच्चे द्वधु वेदो वेदो देयान्तरयन्त्रे केवली ।

ज्ञानस्तोकादिमोक्तश्चे दज्ञानाद्वहुतोऽन्यथा ॥ ६६ ॥

अज्ञान के द्वारा नियम से वंध होता है, तो कोई भी केवल ज्ञानी नहीं बनेगा, कारण ज्ञेय पदार्थ अनंत हैं। इससे बहुमाग रूप ज्ञेय पदार्थों का अज्ञान रहने से वंध छोड़ा। कदाचित् यह कहा जाय, कि अल्प भी ज्ञान के द्वारा मोक्ष की रूपता होती है, तो विद्यमान महान् अज्ञान के कारण वंध भी होगा, अतएव उक्त एकान्त मान्यता स्पष्टतया सदोष है।

जैन विचार

आचार्य जैन दृष्टि को स्पष्ट करते हुए कहते हैं :—

अज्ञानान्मोहतो बन्धो नाज्ञानाद्वीपोऽपोहतः ।

ज्ञानस्तोकाच्च मोक्षः स्यादमोहामोक्षः ऽन्यथा ॥६८॥

मोहयुक्त अज्ञान से वंध होता है, मोहरहित अज्ञान से वंध नहीं होता है। मोह रहित अल्पज्ञान के द्वारा मोक्ष होता है। मोहयुक्त अल्पज्ञान के द्वारा वंध होता है।

इस कथन के द्वारा यह बात स्पष्ट की गई है, कि वंध का अन्वय-व्यतिरिक्त मोह के सद्गुब-असद्गुब के साथ है। अल्प ज्ञान की विद्यमानता, अविद्यमानता पर वह आन्तित नहीं है। इससे मोह कर्म प्रबलता ज्ञात होता है। असा में कर्म के वंध करने वाले

तीर्थकर

सिद्धात्म, अविरुद्धि, प्रमाण, कषाय तथा योग हैं। इनमें योग को छोड़कर शेष सभी कारण भोहन्ताय कर्म के रूप हैं। इसके कारण स्थितिक्लब्ध तथा अनुभाग बन्ध होता है। इसके अभाव में दीणमाह तथा सयोगी जिन गुणस्थानों में योग के कारण ईर्यापिय आस्था दोकर प्रशुति और ग्रदेश बन्ध होते हैं। स्थिति तथा अनुभाग बन्ध के अभाव में वे दोनों बन्ध प्रायः अकार्यकारी हैं। शून्य सदश हैं।

मोह विजय की मुख्यता

जैन धर्म में मोह विजय की पूज्यता का कारण माना है। अल्पज्ञानी पुरुष भी मोह को जीतने के कारण पूज्यता को प्राप्त करता है। शिवभूलि मुनि अज्ञान की पराकाशा को प्राप्त होते हुए भी मोह विजय के कारण केवलों बन गए थे। जो शास्त्रज्ञान के अहंकार में लिपि होने से यह सोचते हैं कि अल्पज्ञानी तपस्वी साधु हमारे सामने कुछ नहीं हैं, वे बिल्कुल परिणाम बाले हैं। मोह विजय का कार्य अत्यन्त कठिन है। इसे कोई भी बीर संपादित नहीं कर सकता। उसके जीतने सक्ता वाला भद्राचीर होता है।

केवलज्ञान का समय

हरिवंश पुराण में लिखा है :—

वृषभस्य श्रेयसोमल्लोः पूर्वान्वेत्तेमिपाश्वर्योः ।

केवलोत्पत्तिरन्येषामपाहो जिमेशिनां ॥६०—२५६॥

वृषभनाथ, श्रेयसनाथ, मल्लिनाथ, नेमिनाथ तथा पाश्वनाथ इन पांच तीर्थकरों ने पूर्वान्वेत्ते में केवलज्ञान प्राप्त किया था। शेष जिनेन्द्रों ने अपराह्नकाल में केवलज्ञान प्राप्त किया था।

महापुराण में लिखा है :—

फाल्गुनेभासि तामिसपद्मस्त्रैकादशी तिथौ ।

उत्तराषाढनकूत्रे कैवल्यमुद्भुद्धिरोः ॥२०—२६८॥

फाल्गुन कृष्णा एकादशी के दिन उत्तराषाढ़ नक्षत्रमें भगवान ऋषभदेव को केवलज्ञान उत्पन्न हुआ था। केवलज्ञान ज्योति के कारण अब भगवान यथार्थ में भद्रानंदेव, भद्रादेव या देवाधिदेव बन गए।

अकलंक स्थानों की यह बाणी अर्थपूर्ण है :—

तीर्थकर

त्रैलोक्यं सकलं त्रिकालविषयं सालोक्यमालोकितम् ।
साक्षात्वे न यथा स्वयं करतले रेखाक्रिं लंगुले ॥
राम - द्वैष - भग्यमयान्तर्जन्म - लोकत्य - लोभादयो ।
नालं यत्पदलंघनाय स महादेवो भग्य वंचते ॥

जिनने करतल की अंगुलियों सहित तीन रेखाओं के समान त्रिकालवर्ती लोक तथा अलोक का प्रत्यक्ष ज्ञान प्राप्त किया है, जिनके पद का उल्लंघन करने में राम, द्वैष, भग्य, रोग, मृत्यु, बुद्धिपा, चंचलता, लोभादिक समर्थ नहीं हैं, मैं उन महादेव को प्रसाण करता हूँ ।

पहले संश्यम ने केवलज्ञान की प्राप्ति का सच्चा बचन देकर भगवान को मनः पर्यावरण रूप व्याना दिया था । अब केवलज्ञान की उपलब्धि द्वारा बहु प्रतिज्ञा भी पूर्ण हो गई ।

अहंत पद

भगवान धातिया चतुष्प्रय का क्षय करने से अरिहंत हो गए । उनमें “अरिहननादरिहन्ता” कर्मारि के नाश करने से अरिहंत होते हैं यह लक्षण पाया जाता है । ‘अतिशयपूजाहृत्वादाहंतः— अतिशय पूर्ण पूजा को प्राप्त होने से ‘अहंत है’ । यह पदं प्रभु में चरितार्थ होंगा, जब समवशरण में वे शत इन्द्रों के द्वारा अलौकिक पूजा को प्राप्त करेंगे । इस दृष्टि से सूक्ष्म विचार करने पर यह कथन अनुचित नहीं है, कि भगवान पहले अरिहंत होते हैं, पश्चात् अरहंत या अहंत होते हैं ।

एमो अरिहंताण



गोन-कृष्णाणक

समवशरण शंखित जि-राजा ।

भवदधि, लारन-तरन जिहाजा ॥

समन्तभद्र स्वामी ने पार्वत्मु के स्तवन में लिखा है—

स्वयोग-निर्लिप्तनिशात्तवारथा ।

निशात्य यो दुर्जय-मोह विद्विषम् ।

अवपदाहन्त्यमच्छियमद्भूतम् ।

त्रिलोक-पूजातिशयास्थदं पदम् ॥ १३३ ॥ स्वयंभूतोत्र

शुक्लध्यान रूपी तलबार की तीर्ण धारा के द्वारा जिनने बड़े कष्ट से जीतने थे व्य मोह रूपी शत्रु को मारकर अचित्य अर्थात् जो चित्तन के परे हैं, जो अद्भुत है तथा जो त्रिलोक के जीवों द्वारा पूजा के अतिशय का स्थान है ऐसी अहंत पदवी प्राप्त की, (मया सदा पार्वत जिनः प्रणम्यते) उन पार्वतात्म भगवान को मैं सर्वदा प्रणाम करता हूँ ।

आदिनाथ भगवान की अभिवंदना करते हुए आचार्य समन्तभद्र स्वयंभू स्तोत्र में कहते हैं :—

स्वदोषमूलं स्वसमावितेजसा निनाय यो निर्दय भस्मसात्क्रियाम्

जगाद तत्वं जगते उर्ध्वनेत्रासा वभूव च ब्रह्मपदामृतेऽत्रः ॥ ४ ॥

भगवान ने आत्म ध्यान के तेज द्वारा अपनी आत्मा के दोषों को जड़ मूल से निर्दयता पूर्वक नष्ट कर दिया तथा उपदेशामृत के आकांक्षी जगत् को घास्तविक तत्व का उपदेश दिया और ब्रह्मपद अर्थात् शुद्धात्म रूप अमृत पदवी के स्वामी हुए ।

इन पदों में सर्वज्ञावस्था प्राप्त तीर्थकर के जीवन की एक भलाक प्राप्त होती है । भगवान ने अहंत पदवी प्राप्त की । वह अचित्य है, अद्भुत है तथा विश्व की अभिवंदना का स्थल है ।

विशेष बातें

उस समय कौन सी अपर्याप्ति बातें होती हैं, इसका उल्लेख करते हुए महापुराणकार कहते हैं।

अथ घातिजये जिष्ठणोरनुश्लीकृत विष्टुपे ।

त्रिलोकयामभवत् द्वौभः कैवल्योत्पत्तिवात्यथा ॥ २२-१ ॥

जब जिनेन्द्र भगवान ने घातिया कर्मों पर विजय प्राप्त की, उस समय संसार भर का संताप दूर हो गया। केवलज्ञान की उत्पत्ति रूपी महान वायु के द्वारा तीनों लोकों में हलचल मच गई।

उस समय कल्पवासी देवों के यहाँ घटानाद, व्योतिष्ठी देवों के यहाँ सिंहाद, व्यंतरों के यहाँ मेघ गर्जना सदृश नगाङों की ध्वनि तथा भवनवासी देवों के यहाँ शंखध्वनि हो रही थी। “विष्टुराण्यमरेशानां अशनैः प्रचकंपिरे” समस्त हंद्रों के आसन बड़े जोर से कंपित हुए।

बातावरण

पुष्पांजलि मिवातेनुः समन्तात् सुरभूद्वाः ।

चलन्त्याकाकरै-दीघै-किंगलत्कुसुमोत्करैः ॥ २२-८ ॥

अपने दीर्घ शाखा रूपी हाथों से चारों ओर पुष्पबृशि करते हुए कल्पवृक्ष पेसे शोभायमान हो रहे थे, मानों भगवान को पुष्पांजलि ही अर्पण कर रहे हों।

दिशः प्रसर्ति मासेदुः वध्राजे व्यभ्रमस्त्रम् ।

त्रिरजीकृत भूलोकः शिशिरो मरुदात्रवौ ॥ ९ ॥

समस्त दिशाएँ निर्मल हो गई थी, नभो मंडल मेघ रहित शोभायमान होता था, पुष्पी मण्डल धूलिरहित हो गया था, तथा शीतल पचन बह रही थी।

इति प्रमोद मातन्त्रन् अकर्मात् भुवनोदरे ।

केवलज्ञान पूर्णेन्दुः लगदञ्चिद्म् अवीकृधत् ॥ १० ॥

इस प्रकार समस्त संसार के भीतर अकर्मात् आनन्द की

तीर्थकर

बद्धाता हुआ केवल ज्ञान रूपी पूर्णचन्द्रमा संसार रूपी समुद्र को बद्धा रहा था अर्थात् आनन्दित कर रहा था।

पूजार्थ प्रस्थान

पूर्णे के विनामों से हँडे ने भगवान के केवलज्ञानोत्पत्ति का वृत्तात् अवगत कर परम हर्ष को प्राप्त किया। इंद्र अनेक देवों के साथ भगवान के केवलज्ञान की पूजा के लिए निकला। सौधर्मेन्द्र ने अपनी इन्द्राणी तथा ईशान इन्द्र के साथ-साथ, विक्रिया शृंदि के कारण नागदत्त अभ्योग्य देव द्वारा निर्मित, ऐरावत हाथी पर आरुद्ध हो सर्वज्ञ ऋषभनाथ तीर्थकरके दर्शनार्थ प्रस्थान किया। सबके आगे सर्वज्ञ ऋषभनाथ तीर्थकरके शब्द करते जाते थे। उनके किलिकिल देव जोर-जोर से नगाड़ों के शब्द करते जाते थे। उनके पीछे इन्द्र, सामानिक, त्रायस्त्रिश, पारिषद्, आत्मरक्ष, लौकपाल, अनीक तथा प्रकीर्णक जाति के देवगण अपने-अपने बाहनों पर आरुद्ध हो प्रभु के पास जा रहे थे।

समवशरण रचना

कुबेर ने इन्द्र की आज्ञा से भगवान की धर्मसभा अर्थात् समवशरण की अद्दुत रचना की थी। उस काये में देवताओं की अपूर्व कुशलता के साथ तीर्थकर प्रकृति का निर्मित कारण भी सहायक था। वह सौन्दर्य, वैभव तथा श्रेष्ठकला का अद्दुत केन्द्र था। इन्द्र ने इन्द्र-नीलमणियों से निर्मित गोल आकार वाले मनीज्ञ समवशरण की देखा।

मंगलमय दर्पण

आचार्य कहते हैं :—

सुरेन्द्रनीलनिर्मणं सम्बृतं तदा वभौ ।

त्रिजगच्छ्री मुखालोक-मंगलादर्शं विभ्रमम् ॥ २२-७८ ॥

इन्द्र-नीलमणि निर्मित तथा चारों ओर से गोलाकार वह समवशरण ऐसा लगता था मानो त्रिलोक की लक्ष्मी के मुख दर्शन का मंगलमय दर्पण ही हो।

आस्थान-मंडलस्यास्य विन्यासं कोऽनुवर्णयेत् ।

सुत्रामा सूत्रधारोऽसून्निर्माणे यस्य कर्मठः ॥ ७८ ॥

तीर्थकर

भला, उस समवशरण की रथना का कौन बर्णन कर सकता है, जिसके निमाण कार्य में कर्मशील इन्द्र महाराज स्वयं सूत्रधार थे ?

समवशरणबर्णन

समवशरण के बाहर रहनों की धूलि से निर्मित परकोटा था, जिसे धूलीसाल कहते हैं। इस धूलीसाल के बाहर चारों दिशाओं में सुवर्णमय खम्भों के अग्रभाग पर अवलम्बित चार द्वारा शोभायमान हो रहे थे। धूलीसाल के भीतर जाने पर कुछ दूरी पर चारों दिशाओं में एक-एक मानस्तंभ महा प्रमाण के धारक थे। घटाओं से ऊपर हुए थे; चामर तथा अजाओं से शोभायमान थे।

मानस्तंभ

उन सतर्णिया मानस्तंभों के मूलभाग में जिनेन्द्र भगवान की सुवर्णमय प्रतिमाएँ विराजमान थीं, जिनकी इन्द्र आदि हीर सागर के जल से अभिषेक करते हुए पूजा करते थे। 'उन मानस्तंभों' के मस्तक पर तीन छत्र फिर रहे थे। इन्द्र के द्वारा बनाए जाने के कारण उनका दूसरा नाम 'इन्द्रब्धज' भी रुद्ध हो गया था।

मानस्तंभान् महामानयोगात् त्रैलोक्यमाननात् ।

अन्वर्थसंज्ञया तउज्जै मीनस्तम्भः प्रवृत्तिः ॥२२—१०२॥

उनका प्रमाण बहुत ऊचा था, त्रैलोक्य के जीवों द्वारा मान्य होने से विद्वान् लोग उन मानस्तंभों को सार्थक रूप से मानस्तंभ कहते थे।

विजय स्तम्भ

मुनिसुष्रवकाष्ठ में कहा है कि घातिया कर्मों का क्वयकरके जिनेन्द्र ने सानस्तम्भ के रूप में प्रत्येक दिशा में विजयस्तम्भ स्थापित किए थे। कहा भी है :—

दुःखैयसर्जनपद्मं स्त्रिजगत्यजेयान् ।

सद्गच्छित्य चतुर्मुखि च वतिशत्रून् ।

१ द्विरमयी जिनेन्द्राच्याः तं पां बुग्र-प्रतिष्ठिताः ।

देवेन्द्राः पूर्णंतिर्मम लीयोदामोभिप्रेत्तैः ॥११—६८॥

स्तम्भाः जयादय इव प्रभुणा निखातः ।

स्तम्भाः वमुः प्रतिदिशः किल मनमूर्तीः ॥१०—३१॥

विभुवन में दुखों के निर्माण करने में प्रबीण तथा अजेय जो धातिया कर्मच्छ्व चार शत्रु हैं उन्हें साक्षात् नष्ट करके ही मानो जिनेन्द्रदेव से आरोपित किए गए विजयस्तम्भ सद्शा मानस्तम्भ प्रत्येक दिशा शीभायमान होते थे ।

संक्षिप्त परिचय

समवशरण की रचना का संक्षेप में परिचय इस ग्रन्ति दिया है :—

मानस्तम्भः सर्वांि प्राविमलजल-स्तुतातिका-पुष्पवाटी ।

प्राकारो नाट्यशालान्द्वितप्रमुपवनं वेदिकान्तर्वर्जाद्वा ।

सालः कल्पद्रुमाणां परिवृतवनं स्तूप-दृम्यीवली च ।

प्राकारः रफटिकोन्त-नृ-सुर-मुनिसभा पीठिकाये स्वयंभू ॥२६—१६३॥

सर्व प्रथम धूलीसाल के बाद चारों दिशाओं में चार मानस्तम्भ हैं, सालस्तंभों के चारों ओर सरोवर हैं, फिर निर्मल जल से भरी हुई परिखा है, फिर पुष्पवाटिका है, उसके आगे पहला कोट है, उसके आगे दोनों ओर दो-दो नाट्यशालाएँ हैं, उसके आगे दूसरा अशोक आदि का बन है, उसके आगे वेदिका है, तदनन्तर व्यजाओं की पंक्तियाँ हैं, फिर दूसरा कोट है, उसके आगे वेदिका सहित कल्पवृक्षों का बन है, उसके बाद स्तूप और स्तूपों के बाद मकानों की पंक्तियाँ हैं, फिर रफटिकमणिमय तीसरा कोट है, उसके भीतर मनुष्य, देव और मुनियों की बारह सभाएँ हैं । तदनन्तर पीठिका है और अग्रभाग पर स्वयंभू भगवान अरहंत देव विराजमान हैं ।

भगवान के मुख की दिशा

अरहंत देव स्वभाव से ही पूर्व अथवा उत्तर दिशा की ओर मुख कर विराजमान होते हैं । कहा भी है :—

“वेदोऽहंन्प्राष्टमुखो वा नियतिमहुसर्व उत्तराशामुखो वा ॥”

इन तीर्थकर नेमिनाथ की आत्मनिर्भरता की शिक्षा का साध प्रति विम्ब हस्त पद्म में पाया जाता है ।

उद्गोदात्मनात्मानं नात्मानमवसादयेत् ।

आत्मैव द्यात्मनोबेद्युः आत्मैव रिपु आत्मनः ॥

उक्त पद्म के साथ पूर्णपाद स्वामी के समाधि शतक का यह श्लोक द्वालना के योग्य है :—

नयत्यात्मानमात्मैव जन्म-निर्वाणमेव च ।

शुरुरात्मात्मनस्तस्मान्वान्वेस्ति परमार्थतः ॥७५॥

यह आत्मा ही जीव को संसार में भ्रमण करता है तथा निर्बाण प्राप्त करता है । इससे परमार्थ दर्शि से आत्मा का कोई अन्य गुण नहीं है ।

आत्म-निर्भरता का भाव गीता के इस पद्म द्वारा भी व्यक्त होता है :—

न कर्तृत्वं न कर्मणि लोकस्य सूजति प्रभुः ।

न च कर्मफलसयोगं स्वभावस्तु प्रवतते ॥

भादर्ते कस्यचित्पापं न चैव सुकृतं विभुः ।

अज्ञानेनावृतं द्वाजं तेन मुहूर्नित जन्तवः ॥

प्रभु लोक के कर्तृत्व अधिकार कर्मल की सृष्टि नहीं करते । वह परमात्मा कर्मों के फल का संयोग भी नहीं लुटाता है । यह सब अपने भावों के अनुसार होता है । वह भगवान किरणी के वाय का आदान नहीं करता है और न पुरुष का आदान करता है । अज्ञान (जड़ कर्म) के द्वारा ज्ञान ढँक गया है; इससे जीव भोह युक्त हो जाते हैं ।

यह गीता का इच्छा जैन विचारों से पूर्णतया अभिन्न प्रसीत होता है :—

विहाय कामान्यः सवौन्पुमांश्चरति निस्पृहः ।

निर्ममः निरहंकारः स शांतिमत्रिगच्छति ॥ ७६ ॥

जो पुरुष समस्त कामनाओं का स्थागकर निस्पृह होता है तथा ममता और अहंकार का स्थग करता है, वह शान्ति को प्राप्त करता है ।

द्वादश सभा

भगवान के चारों ओर प्रदक्षिणा रूप से द्वादशसभाओं में इस क्रम से भव्यजीव बैठते हैं। प्रथम कोठे में गणधरदेवादि मुनीन्द्र विराजमान होते हैं, दूसरे में कल्पवासिनी देवियाँ, तीसरे में आर्यिकाएँ तथा मनुष्यों की स्त्रियाँ, चौथे में द्योतिषी देवियाँ, पाँचवे में व्यंतरनी देवियाँ, छठवे में भवनवासिनी देवियाँ, सातवें में भवनवासी देव, आठवें में व्यन्तरदेव, नवमे में द्योतिषी देव, दसवें में कल्पवासी देव, चारहवें में गुरुपवर्ग तथा बारहवें में पशुगण बैठते हैं।

श्रीमंडप

भगवान रत्नमय स्तम्भों पर अवस्थित श्री मंडप में विराजमान रहते हैं। वह उज्ज्वल सफटिकमणि का बना हुआ श्रीमंडप अनुपम शोभायुक्त था। आचार्य कहते हैं :—

सत्यं श्रीमंडपः सोऽयं यत्रासौ परमेश्वरः ।

नमुरामुरसनिध्ये स्तीचक्रे त्रिजपच्छ्रियम् ॥२२—२८॥

वह श्रीमंडप यथार्थ में श्री आर्थात् लक्ष्मी का मंडप ही था, कारण वहाँ परमेश्वर ऋषभनाथ भगवान ने मनुष्य, देव तथा असुरों के समीप तीनों लोकों की श्री (लक्ष्मी) को स्वीकार किया था। इस श्रीमंडप के ऊपर यदों द्वारा बर्षीया गया सुभन समूह बड़ा सुन्दर लगता था।

योजनप्रमिते यस्मिन् सम्ममु-नृसुखमुराः ।

स्थिताः सुखमसंबाधं अहो माहात्म्य संशितुः ॥२२—२८॥

अहो ! जिन भगवान का यह कैसा माहात्म्य था कि केवल एक योजन लम्बे चौड़े श्रीमंडप में मनुष्य, देव और असुर एक दूसरे की बाधा न देते हुए सुख से बैठ सकते थे।

पीठिका

इस श्रीमंडप की भूमि के मध्य में वैद्युतमणि की प्रथम पीठिका थी। इस पीठिका पर स्थित अष्ट मैण्डल द्रव्य रूपी सम्पदार्थ

और यहाँ के उन्नत मस्तकों पर शित धर्म-चक्र ऐसे लगते थे, मानों पीठिका रूपी उदयाचल से उदय होते हुए सूर्य विव ही हों। धर्म-चक्रों में हजार-हजार आराओं का समुदाय था। उस प्रथम पीठिका पर सुवर्ण निर्मित प्रकाशमाल दृश्यरा पीड़ था।

उसके ऊपर चक्र, गज, बृषभ, कमल, वस्त्र, सिंह, गरुड़ और माला के चिन्ह युक्त निर्मल व्यजाएँ शोभायमान होती थी। दुसरे पीठ पर तीसरा पीठ विविध रक्तों से निर्मित था। वह तीन कटनियों से युक्त था और ऐसा सुन्दर दिखता था मानों पीठ का रूप धारण कर सुमेह पर्वत ही प्रभु की जपासना के लिए आया हो। उस पीठ के ऊपर जिनेन्द्र भगवान विराजमान थे। आचार्य लिखते हैं :—

ईदृक् त्रिमेष्वलं पीठं ऋस्योपरं जिनाधिपः ।

त्रिलोकशिखरे सिद्धपरमेष्ठीव निर्बेमौ ॥ २२-३०४

इस प्रकार तीन कटनीदार पीठ पर जिनेन्द्र भगवान इस प्रकार शोभायमान होते थे, जिस प्रकार त्रिलोक के शिखर पर सिद्ध परमेष्ठी सुशोभित होते हैं।

गंध-कुटी

तीसरे पीठ के अग्रभाग पर गंधकुटी थी। तीन कटनियों से चिन्हित पीठ पर वह गंधकुटी ऐसी सुशोभित होती थी, मानो नन्दन-वन, सौमनसवन और पांडुकवन के ऊपर सुमेह की चूलिका ही सुशोभित हो रही हो। चारों ओर लटकते हुए स्थूल मोतियों की भालर से वह ऐसी सुशोभित हो रही थी मानों समुद्रों ने उसे मुक्ताओं का उपहार ही अर्पण किया हो। वह गंधकुटी सुवर्ण निर्मित मोटी और लम्बी जाली से ढलकृत थी। रक्तमय मालाओं से वह गंधकुटी शोभायमान थी। सब दिशाओं में फैलती हुई सुगंध से वह गंधकुटी ऐसी मालूम होती थी मानों सुर्गव के द्वारा उसका निर्माण हुआ हो। सब दिशाओं में फैलती हुई धूप से वह ऐसी प्रतिभासित होती थी मानों धूप से ही बनी हो। वह सब दिशाओं में फैले हुए फूलों से ऐसी मालूम होती थी मानों वह पुष्प निर्मित ही हो। यही बात महापुराण-कार ने इन शब्दों में प्रगट की है :—

गन्धेरनिधमयी वासीत् सृष्टिः पुष्यमयीत् च ।

पुष्पै धूपमयी वाभात् धूपेयी दिग्निरसिंहिः ॥ २३-२० ॥

सिंहासन

गन्धकुटी के मध्य में एक रक्षजटित सिंहासन सुर्वणमय था। उस सिंहासन पर प्रभु विराजमान थे :—

विष्णुरं तदलंचक्रो भगवान्नादितेर्थकृत् ।

चतुर्मिंशगुलैः स्वेन महिमा ५ सृष्टतत्त्वाः ॥२३-२६ ॥

भगवान् वृषभदेव उस सिंहासन को अलंकृत कर रहे थे। उन्हे अपनी महिमा से उस सिंहासन के तल को स्पर्श नहीं किया था और वे उससे चार अंगुल ऊँचे विराजमान थे।

सौधर्मेन्द्र का आनन्द

सौधर्मेन्द्र आदि ने समवशरण में प्रवेश किया। उनके आनन्द का पारावार नहीं था। सौधर्मेन्द्र के अपूर्व आनन्द का एक रहस्य था। वह स्वयं को कृतार्थ समझता था। जब भगवान् गृहस्थायस्था में थे और जगत् का मोह उन्हें घेरा हुआ था, उस समय चतुर इन्द्र ने अत्यायुवाली नीलांबना अप्सरा के नृत्य द्वारा भगवान् के मन को भोगों से विरक्त करने का उद्दीग रचा था, ताकि भगवान् दीक्षा लें और शीत्र ही भोद्वारिन्विजेता बन कर समस्त संसार-सिधु में हृद्रवते हुए जीवों को निकालकर कल्याणपथ में लगायें। आज समवशरण में विराजमान भगवान् का दर्शन कर उस सुरराज की बड़ा हृषि हुआ। हृदय में भक्ति प्रवाहित हो रही थी।

मण्डल रचना

उस समय इन्द्राणी ने रक्षों के चूणे से प्रभु के समक्ष मनोहर मण्डल बनाया।

ततो नीरधारां शुचिं स्वानुकासां ।

लसद्रलभृंगरनालन्तु ताम् ताम् ।

निजां स्वान्तवृत्तिं प्रसन्नामिवाच्यां ।

जिनोपांगि संपत्त्यमास भक्त्या ॥ २३-२०८ ॥

तीथकर

तदूनन्तर इन्द्राणी ने भक्तिपूर्वक भगवान के चरणों के समीप दैदीत्यमान रत्नों के खङ्गार की नाल से निकलती हुई पचित्र जलधारा छोड़ी, जो शची के समान ही पचित्र थी और उसकी अंतःकरणवृत्ति के समान स्वरूप तथा निर्मल थी।

इद्रों द्वारा पूजा

अथोत्थाय तुष्ट्या सुरेन्द्राः स्वहस्तैः ।

जिनसः प्रिपूजाः प्रत्यक्तुः प्रतीताः ॥

समंधैः समाल्यैः मुधैः सदीपैः ।

सदिव्याद्यतैः प्रात्ययीश्वरपिण्डैः ॥ २३-१०६ ॥

इन्द्रों ने खड़े होकर बड़े सन्तोष के साथ अपने हाथों से गंध, पुष्पमाला, धूप, दीप, दिव्य अक्षत तथा उत्कृष्ट अमृत पिंडों से जिनेन्द्र भगवान के चरणों की पूजा की।

सामग्री

पूजा की उत्तरवल तथा अपूर्व सामग्री ऐसी प्रतीत होती थी, जानों संसार की द्रव्यरूपी सम्पत्ति भगवान के चरणों की पूजा के हेतु वहाँ आई हो। महापुराणकार कहते हैं कि इन्द्राणी ने विविध सामग्री से पूजा करने हुए दीपकों द्वारा पूजा की। इस विषय में आचार्य का कथन बड़ा सुन्दर है—

लतो रत्नदीपै जिनांसद्युतीनां ।

प्रसर्पेण मन्दीकृत्तत्सप्रकाशैः ॥

जिनाकीं शचीं प्रतिच्छद् भक्तिमिळा ।

न मत्ता हि युक्तं विदंत्यप्ययुक्तम् ॥ ११२ ॥

भक्ति के वशीभूत शची ने जिनेन्द्रदेव के शरीर की कींति द्वारा जिनका प्रकाश मन्द पड़ गया है, ऐसे रत्नदीपकों के द्वारा जिनसूर्य की पूजा की। भक्तप्राणि युक्त तथा अयुक्तपद्मे का विचार नहीं रखते।

देव-देवेन्द्रों ने सर्वज्ञ भगवान की पूजा की। महापुराणकार कहते हैं :—

तीर्थकर

द्वीप्यं स्वभक्त्या सुरैर्चितेऽहन् ।
 किमेभिस्तु ब्रह्मं कृतार्थस्य भर्तुः ॥
 विरागो न तुष्ट्यत्यपि द्वे ष्ठि वासौ ।
 फलैश्च स्वभक्तानहो योयुजीति ॥ २३—११५ ॥

इस प्रकार भक्तियुर्वक देवों ने अहंत भगवान की पूजा की । भगवान नों कृतकृत्य थे, इस पूजाभक्ति से उनका क्या प्रयोगन है? मोह का लब्ध करने से वे बीतराग ही चुके थे, अतः किसी से न संतुष्ट होते थे, और न अप्रसन्न होते थे, तथापि आपने भक्तों को हृष्ट फलों से बुक्त कर देते थे, यह आरचर्य की बात है ।

स्तवन

इन्द्रो ने बड़ी भावपूर्ण पदावली द्वारा साक्षात् तीर्थकर केवली की स्तुति की । इन्द्र कहते हैं :—

त्वमसि विश्वहग् ईश्वर विश्वसृष् त्वमसि विश्वगुणांविवरद्यः ।

त्वमसि देव जगद्वितयासनः स्तुतिमतोऽनुगृहाण जिनेश नः ॥२३—१२२

हे ईश्वर ! आप केवलब्रान नेत्र द्वारा समस्त विश्व को जानते हैं, कर्मभूमि स्वयं जगत के निमीता होने से विश्वसृष्ट हैं । विश्व अर्थात् समस्त गुणों के समुद्र हैं, जब रहित हैं, आपका शासन जगत का कल्याण करनेवाला है, इसलिए हे जिनेश ! हमारी स्तुति को स्वीकार कीजिए :—

मनसिजशत्रुमज्ज्यमलद्यम् वितिभ्यो शितदेति-तिर्त्स्ते ।

उभरमें विनिपत्तवितिस्म त्वमसि ततो भुक्नैक गरिष्ठः ॥२३—१२७॥

हे भगवान ! आपने दूसरों के द्वारा अज्ञेय तथा अदर्शरूप गुक्त काभेशाग्रु को चरित्ररूपी तीक्ष्ण रास्त्रों द्वारा युद्ध में नष्ट कर दिया है, अतएव आप त्रिभुवन में अद्वितीय तथा श्रेष्ठ गुरु हैं ।

जितपद्मस्य तत्रेष महत्वं विपुरिद्देवत हि शास्ति मनोऽज्ञ ।

न विवृतिभास्म कठाक्षनिरीक्षापरम-विकारमनामरणोदधम् ॥२३—१२८॥

हे ईश ! जो कभी भी विकार को नहीं प्राप्त होता है, न कठाक्ष से देखता है, जो विकार रहित है और आभूषणों के बिना

सुशोभित हीता है ऐसा यह आपका प्रस्तुत नथनगोचर सुन्दर शरीर ही कामदेव को जीतने वाले आपके महत्व को प्रगट करता है।

त्वं मित्रं त्वमसि गुरुस्त्वमेव भर्ते ।

त्वं स्त्रष्टा भवनपिता-महस्त्वमेव ।

त्वां ध्यायन् अमृतिसुखं प्रयतिं जन्तुः ।

आथस्व त्रिजगदिदं त्वमद्य पातात् ॥२३—५४॥

हे प्रभो ! इस जगत् में आपही प्राणीमात्र के मित्र हैं । आप ही गुरु हैं । आप ही स्वाभी हैं । आपही विद्वाता हैं । आप जगत् के पिता मह हैं । आपका ध्यान करनेवाला जीव अमृत्यु के आनन्द को प्राप्त करता है । इसलिए हे देवाधिदेव भगवन् ! आज आप तीन लोकों के जीवों की संसार-सिद्धि में पतन से रक्षा कीजिए ।

यह स्तुति मुख्य मुख्य इन्द्रों ने (भवनवासी १०, व्यंतर ८, व्योतिषी २ और कल्पवासी १२) सुर, असुर, मनुष्य, नागेन्द्र, यज्ञ, सिद्ध, गन्धर्व तथा चारणों के समूह के साथ की थी । इसके अनन्तर सब यथाधीग्व स्थानों में बैठ गए ।

अद्भुत प्रभाव

भगवान् की धर्मसभा में उनके अद्भुत प्रभाव के कारण सभी जीवों को अवकाश मिलता था । तिलोमपरणति में लिखा है :—

कोट्याणुं स्वेत्तदो जीवक्षेत्रं फलं असंख्युण् ।

द्वेदूणु अपुदृष्टि हु जिणमाहप्येण ते सब्वे ॥४—६३॥

समवशरण में स्थित जीवों का चेत्रफल कोठों (सभाओं) के चेत्रफल से वद्यपि असंख्यात गुणा है, तो भी सब जीव जिन भगवान् के माहात्म्यवश परम्पर में अरुपुष्ट अर्थात् पृथक्-पृथक् रूप से बैठे हुए रहते हैं ।

संखेजज्जोषणाश्च जलापहुदो पवेस-णिगमसदो ।

अंतोमुहुरुक्तले जिणमाहप्येण गच्छन्ति ॥४—६४॥

जिनेन्द्र भगवान् के प्रभाववश बालक आदि जीव प्रवेश

तीर्थकर

करने तथा निकलने में अंतर्मुहूर्तकाल के भीतर संख्यात् योजन चले जाते हैं।

मित्राद्विष्टि-आभवा तेसुमस्तरणी न होति कहाहाइ ।

तद्य आशुभवसाया संदिद्धा विविह-विवरोदा ॥६३२॥

इन कोठों में मिथ्याद्विष्टि, अभव्य, असंज्ञी जीव कदापि नहीं होते। अनध्यवसाय युक्त, संदेह युक्त तथा विविध विपरीतताओं सहित जीव नहीं रहते हैं।

आतंक रोग-मरणाद्यप्तीन्मो वेरकामवादात्री ।

तरहा-चूह-पीड़ाओं जिणामाहप्पेण ए हर्वति ॥६३३॥

जिन भगवान की महिमा के कारण वहाँ जीवों को आतंक, रोग, मरण, उत्पत्ति, बैर, कामवादा, पिपासा तथा जुधा की पीड़ा नहीं होती है। मुनिसुब्रतकाव्य में लिखा है :—

मिथ्याद्वशः सदसि तत्र न संति मिथ्राः ।

सासादनाः पुनरसंज्ञितदप्यभव्याः ॥

भव्याः परं विच्चित्तजलयः सुचित्ताः ।

तिष्ठति देवददनाभिमुखं गणेव्याम् ॥१०—४६॥

जिन भगवान के उस समवशरण में अभव्य जीव, मिथ्याद्विष्टि, सासादन गुणस्थानबाले तथा मिश्र गुणस्थानबाले जीव नहीं रहते हैं। द्वादश सभा में निर्मल चित्तबाले भव्य जीव ही बद्धांजलि होकर जिनेन्द्र के समक्ष रहते हैं।

वापिकाओं का चमत्कार

समवशरण में नंदा, भद्रा, जया तथा पूर्णा ये चार वापिकाओं काएँ होती हैं। जिनेन्द्र भगवान का अद्भुत प्रभाव उन वापिकाओं में दिखता है। हरिवंशपुराण में कहा है :—

ताः पवित्रजलापूर्ण-सर्वपाप-रुजाहराः ।

परापरभवाः सप्त इश्यते यासु परयताम् ॥५७—७४॥

ये वापिकाएँ पवित्र जल से परिपूर्ण हैं तथा समस्त पाप

तीर्थकर

और रोग को हरण करती है। उनमें देखनेवालों को अपने भूल तथा आगामी सप्रभव दिखाई पड़ते हैं।

स्तूप समूह

भगवान् के समवशरण में स्तूपों का समुदाय बड़ा सनोरम होता है। तिलोयपण्णति में लिखा है “भवनभूमि के पाश्वभागों में प्रत्येक बीथी के मध्य में जिन तथा सिद्धों की प्रतिमाओं से व्याप्र नीनौ स्तूप होते हैं।” (४—८४४)। ये स्तूप छत्र के ऊपर छत्र से संयुक्त, फहराती हुई व्यजाओं के समूह से चंचल अष्ट मङ्गल द्रव्यों से सहित और दिव्य रत्नों से निर्मित होते हैं। एक-एक स्तूप के बीच में मकर के आकार के सौ तोरण होते हैं। भव्य जीव इन स्तूपों का अभिषेक, पूजन तथा प्रदक्षिणा करते हैं (८४५—८४७)।

भव्यकूट का चमत्कार

दरिवंशपुराण से ज्ञात होता है कि भव्यकूट नाम के स्तूपों का दर्शन भव्यजीव ही कर सकते हैं। उस भव्यकूट के द्वारा भव्य, अभव्य का भेद स्पष्ट हो जाता है। यह तीर्थकर भगवान् का दिव्य प्रभाव है, जो ऐसी कल्पनातीत बातें बहाँ प्रत्यक्ष दृष्टिगोचर होती हैं।

भव्यकूटाल्यथा स्तूपा भास्वत्कूटास्त्वोऽप्ये ।

यानभव्या न पश्यन्ति प्रभावादीकृतेजरणः ॥५७—१०४॥

भव्यकूट तथा भास्वत्कूट नाम के स्तूप होते हैं। भव्यकूट के तेज के कारण अभव्यों की हप्तिबन्द हो जाती है, इससे वे उनका दर्शन नहीं कर पाते हैं। इस वर्णन से यह स्पष्ट होता है कि स्तूप-पर्यन्त अभव्य जीव भी समवशरण में पहुँच सकते हैं। वे भगवान् के समीप पहुँचकर कोठों में नहीं बैठते हैं। जीव के भावों की विचित्रता के कारण इस प्रकार का आश्चर्यप्रद परिणामन होता है। वस्तु का स्वभाव अपूर्व होता है। वह तर्क के अगोचर कहा गया है।

प्रश्न

समवशरण के महान् प्रभाव को व्याज में रखकर कभी-कभी यह शब्द का उत्पन्न होती है कि महावीर भगवान् के समकालीन गौतम

बुद्ध पर भगवान के समवशरण का दिव्य प्रभाव क्यों नहीं पड़ा ?
दोनों राजगिरि में रहे हैं ।

समाधान

इस प्रश्न का उत्तर सरल है । भगवान का समवशरण पृथ्वीतल पर स्थित सभा-भवन के समान होता, तो बुद्ध का वहाँ पहुँचना संभव था, किन्तु आगम से ज्ञात होता है कि समवशरण भूतल से पांच हजार धनुष अर्थात् बीस हजार हाथ प्रमाण ऊँचाई पर रहता है । यह पांच मील, पांच फ्लांग, सौ गज अमाण है । तिसोयपरणसि में कहा भी है :—

जादे केवलशणे प्रमेषालं जिष्णाण सव्याण ।

गच्छदि उदरि चावा पञ्चसहस्राणि व्युहाश्रो ॥ ४-७०५ ॥

केवलशान उत्पन्न होने पर संतुर्ण जिमेन्द्रों का भरमोदारिक शरीर पृथ्वी से पांच हजार धनुष प्रमाण ऊपर चला जाता है । दिव्य प्रभाववरा अत्यंत शीघ्र भव्य जीव बीस हजार प्रमाण सीढ़ियों पर उटकर समवशरण में सर्वदा देव के दर्शनार्थी जाते हैं, किन्तु जिनका संसार परिग्रामण शेष है तथा मिथ्यात्म का जिनके तीव्र उद्य है, ऐसे जीव समवशरण की ओर जाने की कामना ही नहीं करते हैं । अनेक जीव तो समवशरण को इन्द्रजाल कहते हुए सरल जीवों को बहकाते फिरते हैं । इस प्रकार विचार करने पर बुद्धादि का समवशरण में न जाना पूर्ण स्वाभाविक दिखता है । यही कारण है कि बुद्ध की वृष्टि एकान्त पक्ष से बच न सकी ।

सीढ़ियाँ

भुर गार-तित्यरोहण सोदाशा चूर्दिसासु पक्षेकर्क ।

धीर-सहस्रा गयणे कण्यमया उद्गुउद्गुमि ॥ ४-७२० ॥

भुर, नर तथा तिर्थों के चढ़ने के लिए चारों दिशाओं में से ग्रन्थेक दिशा में ऊपर-ऊपर सुवर्णमय बीस हजार सीढ़ियाँ होती हैं । ये सीढ़ियाँ एक हाथ ऊँची और एक हाथ विस्तार वाली थीं ।

आगम का आधार

शंकाशील व्यक्ति सोचता है, समवशारण में जहाँ देखो वहाँ रखो, मणियों, सुवर्णादि वहुमूल्य वस्तुओं का उपयोग हुआ है, यह कैसे खंडर प्री सकता है? इस रुद्र तीर्थकर अवामा साक्षात् विराजमान रहते हैं, उस समय तो 'हाथ ककण को आरसी क्या' के नियमानुसार प्रत्यक्ष दर्शन द्वारा शंका का निवारण हो जाता है। आज जब यहाँ तीर्थकर का अभाव है, तब उन लोकोंतर बातों की प्रामाणिकता का मुख्य आधार है आगम की जाणी।

आगम बताता है कि तेरहवें गुणस्थान में तीर्थकर प्रकृति का उदय होता है। समस्त पुण्य प्रकृतियों में तीर्थकर प्रकृति का सर्वोपरि स्थान है। वह प्रकृति बड़ी विलक्षण होती है। उसके प्रभाव से सभी बातें तीर्थकर में चमत्कार पूर्ण प्रतीत होती हैं। बास्तव में यह दयामयी जीवन वृत्ति का चमत्कार है। अहिंसा की सामर्थ्य तथा महिमा का यह झापक है।

जिन सिद्धान्तों में शुकवत् दया का पाठ किया जाता है, किन्तु जीव वध का त्याग नहीं किया जाता, वे दया कल्पतरु के अलौकिक फलों की क्या कल्पना कर सकते हैं? युक्ति और सद्विचार द्वारा भी तीर्थकरत्व का परिपाक उसकी बीज रूप भावनाओं को ध्यान में रखने पर स्वाभाविक लगता है। योग तथा तपस्या का अवलंबन लेकर आत्मा तीन लोक में अपूर्व कार्य करने में समर्थ होती है। रासी देवी, भोही तथा पाप पंक में निमग्न प्राणी के द्वारा पुद्गल का कुत्सित खेल देखने में आता है, वही पुद्गल चीतराग का निमित्त पाकर अत्यन्त मधुर, प्रिय तथा अभिवैदनीय वैभव और विभूति का दृश्य दिखाता है।

पवित्रता का प्रभाव

अंतःकरण में पवित्रता की प्रतिष्ठा होने पर बाह्य प्रकृति दासी के समान पुण्यबान की सेवा करती है। भगवान के गर्भ में आने के छह माह पूर्व से इन्द्र सहस्र प्रतापी, समर्थ, वैभव के अधीश्वर भी प्रभु की सेवार्थ आते हैं। असंख्य देवी देवता सेवा करते हैं,

समस्त जैन बाण्डमय इस प्रकार की आत्मनिर्भरता तथा संघम-शीतलता की शिक्षा से परिपूर्ण है। अतः तुलनात्मक तत्वज्ञान के अभ्यासी को यह सत्य स्वीकार करना होगा, कि तीर्थेकरों की पवित्र शिक्षा का विश्व की विचारधारा पर गहरा प्रभाव पड़ा है।

गौतमबुद्ध भगवान् महावीर की सर्वज्ञता की चर्चा करते हुए, उसके प्रति शंकाया अबज्ञाका भाव न प्रगट कर उसके विषय में अपनी आकृत्या रूप रूपि का भाव व्यक्त करते हैं। मल्फमनिकाय ने बुद्धदेव कहते हैं, “हे महानाम ! मैं एक समय राजग्रह में रुद्रकृष्ण नामक पर्वत पर विद्वार कर रहा था। उसी समय शृणिगिरि के पास काल शिला (नामक पर्वत) पर बहुत से निर्गन्ध (जैन मुनि) आसन छोड़ उपक्रम कर रहे थे और तीव्र तपस्या में प्रवृत्त थे। हे महानाम ! मैं साथेकाल के समय उन निर्देशों के पास गया और उन से बोला, अहो निर्गन्ध ! तुम आसन छोड़ उपक्रम कर क्यों ऐसी धोर तपस्या की वेदना का अगुभव कर रहे हो। हे महानाम ! जब मैंने उनसे ऐसा कहा तब वे निर्गन्ध इस प्रकार बोले:—अहो, निर्गन्ध शालू पुञ्च (महावीर) सर्वज्ञ और सर्वदर्शी हैं, वे अशेष ज्ञान और दर्शन के ज्ञाता हैं। हमारे चलते, ठहरते, सोते, जागते समस्त अवस्थाओं में सदैव उनका ज्ञान और दर्शन उपस्थित रहता है। उन्होंने कहा है:—निर्गन्धो ! तुमने पूर्व (जन्म) में पाप कर्म किए हैं, उनकी इस धोर हुश्चर तपस्या से निर्जरा कर डालो। मन, बचन और काय की रंगूनि से (नये) पाप नहीं बंधते और तपस्या से पुराने पापों का लब्ध हो जाता है। इस प्रकार नये पापों के रुक जाने से कर्मों का लब्ध होता है, उम्भल्य से दुःखल्य होता है। दुःखल्य से वेदनाल्य और वेदनाल्य से उर्व दुःखों की निर्जरा हो जाती है।” इस पर बुद्ध कहते हैं कि “थह कर्म हमारे लिए रुक्षिकर है और हमारे मन को ठीक जंचता है।” पाली रचनाएँ आगत बुद्धदेव के ये शब्द विशेष ध्यान देने योग्य हैं, “ते च पन् अम्हाकं रुचति चेव खमति च तेन च अम्हा अत्तमना ति” (भजिक्लमनिकाय, P. T. S. P. ६२-६३)। बुद्धदेव की महावीर भगवान् की सर्वज्ञता के प्रति दचि का भाव मनोवैज्ञानिक तथ्य विशेष धर आकृत है, कारण राजा मिलिन्द के प्रश्न का उत्तर देते हुए भिक्षु नागसेन ने कहा है कि बुद्ध का ज्ञान सदा नहीं रहता था। जिस समय बुद्ध किसी बात का विचार करते थे, तब उस पदार्थ की ओर मनोवृत्ति

भक्ति करते हैं, इसका कारण तीव्रतम् पुण्योदय है। जैसे चुंबक के द्वारा लोह आकर्षित होता है, इसी प्रकार इस तीर्थकर प्रकृति के उदय युक्त आत्मा की आकर्षण शक्ति के कारण श्रेष्ठ निधियाँ तथा विभूतियाँ स्वयं समीप आती हैं और अपना मधुरतम् मोहन प्रदर्शन करती हैं। अतः तत्त्वज्ञ तीर्थकर प्रमुख की लोकोन्नतरता के विषय में प्रगाढ़ अद्वा द्वारा अपने सम्बन्धत्व को उत्त्वेत रखता है।

अतिशय

तीर्थकर भक्ति में भगवान के चौतीस अतिशय कहे गए हैं। उनके लिए 'चउतीस-अतिशय-विसेस-संजुलाण' पद का प्रयोग आया है। अतएव उनके विषय में विचार करता उचित है। चौतीस अतिशयों में जन्म संबंधी दश अतिशयों का वर्णन किया जा चुका है। फिर भी उनका नामोल्लेख उचित है।

जन्म के अतिशय^१

अतिशय रूप, सुगंधतन, नाहि परेव, निहार ।

प्रिय हित वन्धन अतुल्यवल्ल सुधार स्वेत आकार ॥

लक्षण सहस्र ऋषि तन्, समचतुष्क ऊठान ।

वज्रवृषभनाराज् दृढ़ ये जन्मत दशजान ॥

तीर्थकरों के केवलज्ञान होने पर घातिथा कर्मक्रय करने से ये दश अतिशय बत्यन्न होते हैं :—

गव्यतिशयतच्छृष्ट-सुभिकृता-गणनगमन-मप्राप्तिवधः ।

भुक्त्युपसर्गभाव श्रातुगस्यत्वं च सर्वयिधे इत्रता ॥ ३ ॥

(१) भगवान के दस लगातिशयों का पूज्यपाद स्वर्गी ने नंदीश्वर भक्ति में इस प्रकार वर्णन किया है :—

नित्यं स्तः स्वेदत्वं निर्मलता क्षण्यौरुधित्वं च ।

स्वाद्याकृतिसंइनने सौहप्यं सौरभं च सौलक्ष्यम् ॥ १ ॥

अप्रभित्वोर्थता च ग्रिव-हित-बद्धित्वमन्यदमित्तुणस्य ।

प्रथिता दश ख्याता स्वतिशयधर्मा ल्ययंसुवो देहस्य ॥ २ ॥

तीर्थकर

अन्त्युप्रसिद्ध-भवद्वमसंदश समप्रसिद्ध-नखकेशरत्वं ।
स्वतिशशधरुणा भगवतो घातिक्षयजा भवति नेति दैव ॥ ४ ॥

नन्दीश्वर भक्ति

(१) चार सौ कोश भूमि में सुभित्ता । श्लोक में आत्म-
मव्यूहि का अर्थ आचार्य प्रभाचन्द्र ने एक कोस 'गव्यूतिः कोशमेकं'
अर्थ किया है । तीर्थकर दैव के द्वयमय प्रभाव से सभी संतुष्ट, सुखी
तथा स्वस्थता संपन्न होते हैं । इस जिनेन्द्र दैव के आत्म-प्रभाव से
बनस्पति आदि को स्वयमेव परिपूर्णता प्राप्त होने से पृथ्वी धन धान्य
से परिपूर्ण हो जाती है । थेषु अहिसामयी एक आत्मा का यह प्रभाव
है । इससे यह अनुभान स्वयं निकाला जा सकता है कि पापी तथा
जीव वध में तत्पर रहने वालों के चारों ओर दुर्भिज्ञता आदि का
प्रदर्शन रोती हुई पृथ्वी पृथ्वी के प्रतीक स्व प्रतीत होता है ।

(२) आकाश में गमन होना । योग के कारण भगवान के
शरीर में विरोध लघुता (हल्कापन) आ जाता है, इससे उनके शरीर
की गुरुता के कारण भूतल पर अवस्थित नहीं होना पड़ता है । पक्षियों
में भी यह गमन गमन यादी जाती है, किन्तु इसके लिए पक्षियों को अपने
पक्षों का (पंखों का) संचालन करना पड़ता है ।

केवलो भगवान का शरीर स्वयमेव पृथ्वी का स्पर्श नहीं
करके आकाश में रहता है । उनका गमन-गमन देखकर यह स्पष्ट हो
जाता है, कि हतर संसारी जीवों के समान अब ये योगीन्द्र-चूडामणि
भूतल के भार स्वरूप नहीं हैं ।

दया का प्रभाव

(३) अप्राणिवध अर्थात् अहन्त के प्रभाव से उनके चरणों
के समीप आने वाले जीवों को अभयत्व अथोत् जीवन प्राप्त होता है ।
तीर्थकर भगवान अहिसा के देवता हैं । उनके समीप में हिंसा के
परिणाम भाग जाते हैं और कर प्राणी भी करणामूर्ति बनता है । कूरता
का उदाहरण रौद्रमूर्ति सिंह, सिंहासन के बहाने से इन दया के देवता
को अपने कपर धारण करता हुआ प्रतीत होता है ।

भव्य कल्पना

इस सम्बन्ध में उत्तर पुराण की यह उल्टेका वही भव्य तथा मार्मिक प्रतीन होती है। चंद्रप्रभ भगवान के सिंहासन को दृष्टि में रख आचार्य कहते हैं:—

क्रौर्यमुर्येण शैर्येण यदहुः संचितं परम् ।

सिंहै हृतुं स्वजाते थौ व्यूहं तस्यासनं व्यधात् ॥ ५४—५५.

उम चंद्रप्रभ जिनेन्द्र का सिंहासन ऐसा शोभायमान होता था, मानो क्रतोप्रधान पराक्रम के द्वारा संचित गांवों के लक्ष्य के हेतु वे सिंह उनके आसन में लग गए हों।

इसलिए ब्रेत्तु अहिसा के शिखर पर विधित इन तीर्थकर प्रभु के ग्रसाद से प्राणियों को परित्राण प्राप्त होता है

(४) केवली भगवान के कबलाहार का अभाव पर्या जाता है। उनकी आत्मा का इतना विकास हो जुका है, कि स्थूल औजन हो द्वारा उनके दृश्यमान देह का संरक्षण अनावश्यक हो गया है। अब शरीर रक्षण के निमित्त बलप्रदान करने वाले सूक्ष्म पुद्गल परमाणुओं का आगमन बिना प्रयत्न के हुआ करता है।

(५) भगवान के वातिया कर्म का लक्ष्य होने से उपसर्ग का बीज बनते बाला असाता वेदनीयकर्म शक्ति शुद्ध बन जाता है, इसलिए केवल ज्ञान की अवस्था में भगवान पर किसी प्रकार की उपसर्ग नहीं होता।

महत्व की वात

यह व्यान देने वोग्य वात है, कि जब प्रभु के शशण में आने वाला जीव यम के प्रचंड प्रहार से बच जाता है तब उन जिनेन्द्र पर दुष्ट व्यंतर, कर मनुष्य अथवा हिंसक पशुओं द्वारा शंकट का पहाड़ पटका जाना नितात असंभाव्य है। जो लोग भगवान पर उपसर्ग होना मानते हैं, वे वर्तुतः उनके केवलज्ञानी होने की अलौकिकता को विलकुल सुला देते हैं।

चतुराननपने का रहस्य

(६) समवशरण में भगवान का सुख पूर्व या उत्तर दिशा की ओर रहता है, किन्तु उनके चारों ओर बैठते बाले बारह सभा के जीवों को ऐसा दिखता है कि भगवान के सुख चारों दिशा में ही हैं। अन्य संप्रदाय में जो कश्मदेव को चतुरानन कहने की पौराणिक मान्यता है, उसका वास्तव में मूल बीज परम-ब्रह्म रूप सर्वज्ञ जिनेन्द्र के आत्म तेज द्वारा समवशरण में चारों दिशाओं में गुरुक् पुरुषक् रूप से शशु के मुखे का दर्शन होता है।

(७) भगवान सर्व विद्या के ईश्वर कहे जाते हैं क्योंकि वे सर्व पदार्थों की अहण करने वाली केवल्य ज्योति से समलंकृत हैं। आचार्य प्रभार्चद ने द्वादशांग रूप विद्या को 'सर्वविद्या' शब्द के द्वारा अहण किया है। उस विद्या के मूलजनक ये जिनराज प्रसिद्ध हैं। दीकाकार के शब्द ध्यान देने योग्य हैं :—

"सर्वविद्ये शब्दता—सर्वविद्या द्वादशांग-न्युर्दशपूर्वीरिणि तप्सां स्वामित्वे ।
यदिद्या सर्वविद्या केवलब्राह्म तस्या ईश्वरता स्वामिता" (जित्याकलाप पृ० २४०)

(८) श्रेष्ठ तपश्चर्या रूप अग्नि में भगवान का शरीर तप्त हो जुका है। केवली बनने पर इन हा शरीर निर्गोदिधा जीवों से रहित हो गया है। वह स्फटिक सदृश बन गया है, मानों शरीर भी आत्मा की निर्मलता का अनुकरण कर रहा है। इससे भगवान के शरीर की छाया नहीं पड़ती है। राजत्रातिक में प्रकाश को आवरण करने वाली छाया है "ध्याया प्रकाशावरणनिर्मित्ता" (पृ० २३३) यह लिखा है। भगवान का शरीर प्रकाश का आवरण न कर स्वयं प्रकाश प्रदान करता है। उनका शरीर सामान्य मानव का शरीर नहीं है।

जिस शरीर के भीतर सर्वज्ञ सूर्य चिद्यमान है, वह तो ग्राही दिशा के सभीन् अभाव में स्वयं प्रकाश परिपूर्ण दिखेगा। इस कारण भगवान के शरीर की छाया न पड़ना कर्मों की छाया से विमुक्त तथा निर्मल आत्मा के पूर्णतया अनुकूल प्रतीत होती है।

—पुर्वव अदि चउरहे किवलियाद्वरदेवयित्यंगा ।

अपदृष्टहत-यित्याद्विदि पतिष्ठिदेगा हवे रेता ॥

—गोम्बटसारजीवकाशड २००

तीर्थकर

(६) अपदमस्तंदता अथात् नेत्रों के पलकों का वंद न होना। शरीर में शक्तिहीनता के कारण नेत्र पदार्थों की देखते हुए जग्ण भर विश्रामार्थ पलक बन्द कर लिया हरते हैं। अब वीर्यान्तराय कर्म का पूर्ण ज्ञय हो जाने से ये जिनेन्द्र अनंत वीर्य के स्वामी बन गए हैं। इस कारण इनके पलकों में निर्बलता के कारण होने वाला बन्द होना, खोलना रूप कार्य नहीं पाया जाता है। दर्शनाधरण कर्म का ज्ञय हो जाने से निद्रादि विकारों का अभाव हो गया है, अतः सरागी देवों के समान इन जिनदेव को निद्रा लेने के लिए भी नेत्रों के पलकों को बन्द करने की आवश्यकता नहीं पड़ती है।

स्वामी समन्तभद्र ने कहा है^(१) कि जगत् के जीव अपनी जीविका, काम सुख तथा तृष्णा के वरीभूत हो दिन भर परिश्रम से थक कर रात्रि को नींद लेते हैं, किन्तु जिनेन्द्र भगवान् सदा प्रभाद् रहित होकर विशुद्ध आत्मा के द्वेष में जागृत रहते हैं। इस कथन के प्रकाश में भगवान् के नेत्रों के पलकों न लगना उनकी श्रेष्ठ स्थिति के प्रतिकूल नहीं है।

(१०) सम-प्रसिद्ध-नखकेरत्व—भगवान् के नख और केश वृद्धि तथा हास शून्य होकर समान रूप में ही रहते हैं। प्रभातेन्द्र आचार्य ने टीका में लिखा है—“सनत्वेन वृद्धिं-ह्वासदीनतया प्रसिद्धा नखाश्च केशाश्च यस्य देहस्य तस्य भवस्तस्वं” (पु. २४७) भगवान् का शरीर जन्म से ही असाधारणता का पुंज रहा है। आहार करते हुए भी उनके नीहार का अभाव था। केवली होने पर कवलाद्वार रूप स्थूल भोजन ग्रहण करना बन्द हो गया। अब उनके परम पुण्यस्थान देह में ऐसे परमाणु नहीं पाए जाते तो नख और केश रूप अवस्था को प्राप्त करें। शरीर में मज़ रूपता धारण करने वाले परमाणुओं का अब आगमन ही नहीं होता। इस कारण नख और केश न बढ़ते हैं और न घटते ही हैं।

(१) स्वजीविते कामलुके च तुष्ट्या दित्रा अमातां निश्चि शेरते प्रजाः।

त्वयाद् तदत् दिवमगमत्वात्प्रेवत्य-विशुद्धत्वमिति ॥ २८ ॥

—रक्षयन्मूलोन्न

तीर्थंकर

भव्य समवशारण में विराजमान जिनेन्द्र देव को प्रणाम करते हैं, वे जीव पवित्र भाव युक्त होकर इन चामरों के समान अधर्षगति युक्त होते हैं अर्थात् मोक्ष को प्राप्त करते हैं।

छत्र

(४) भगवान के छत्रब्रह्म अत्यंत रमणाय दिखते थे। उनके विषय में आचार्य सानतुंग कहते हैं :—

छत्रब्रह्म तद विभूतिशशांककान्त ।

मुद्धैः स्थितं स्थागितभानुकृप्रतापम् ।

मुक्तोफलाप्रकरजालविवृद्ध शोभम्

प्रख्यापयत्रिजग्नः परमेश्वरत्वम् ॥ ३१ ॥ भक्तामरस्तोत्र

हे भगवन ! चन्द्रमा के समान शोभायमान, सूर्य किरणों के संताप को दूर करने वाले आपके मस्तक के ऊपर विराजमान मोतियों के पुंज की भालरी से जिनकी शोभा वृद्धि को प्राप्त हो रही है ऐसे छत्रब्रह्म आपके तीन लोक के परमेश्वरपने को प्रगट करते हुए शोभायमान होते हैं।

दिव्य ध्वनि

(५) दिव्यध्वनि के विषय में ये शब्द बहु भार्मिक है :—

स्थाने गभीर-हृदयोदयिरसंभवायाः ।

पीयूषतां तद मिरः समुद्दीरयेति ।

पीत्वा यतः परमसंमद-संगमजो ।

मव्याः त्रजन्ति तस्साप्यजरामरत्वम् ॥ २६ ॥ कल्याणमंदिर स्तोत्र

हे जिनेन्द्र देव ! गंभीर हृदय रूप सिंघु में उत्पन्न हुई आपकी दिव्यबाणी को जगत असृत नाम से पुकारता है। यह कथन पूर्ण योग्य है, क्योंकि भव्य जीव आपकी बाणी का कण्ठेन्द्रिय के द्वारा रसपान करके अत्यंत आनंद युक्त होकर अमर पद को प्राप्त करते हैं।

अशोक तरु

(६) अशोक वृक्ष के नीचे विराजमान आदिनाथ प्रभु की

तीर्थकर

मनोङ्ग छबिंदुका सानकंगचार्ये इस प्रकार वर्णन करते हैं :—

उच्चैशोकन्तरसंश्लिष्टमृग्यूख—
भासातिरप्ममलं भवते नितान्तम् ।
स्पष्टेल्लासत्क्रिरणमस्त - तमोवितानम् ।
बिस्बं ग्रेस्वि ! पदोधर - पार्श्वर्यविनि ॥ २८ ॥

हे देव ! दैदीप्यमान किरणों के द्वारा अन्धकार पटल का नाश करने वाले, मेघ के समीपवर्तीं सूर्य - ग्विंब के समान अस्यंत तेज युक्त अशोक वृक्ष का आश्रय अहण करने वाला आपका रूप अत्यंत शोभायमान होता है ।

सिंहासन

(७) भक्तामर स्तोत्र में सिंहासन पर शोभायमान जिन-भगवान के विषय में कहा है :—

सिंहसने भणिमवूख - शिखा - विचित्रे ।
विभ्राजते तद वपुः कनकावदातम् ।
विम्बं विशद-विलसदंशुलता-वितानम् ।
तुंगोदयादिशिरसीव रहस्यरश्मे : ॥ २६ ॥

हे भगवन ! भणिथों की किरण जाल से शोभायमान सिंहासन पर विराजमान सुवर्ण समान दैदीप्यमान आपका शरीर इस प्रकार सुन्दर प्रतीत होता है, जैसे उऋत उदयाचल के शिखर पर नभोमण्डल में शोभायमान किरणलता के विस्तार युक्त सूर्य का विस्त्र शोभायमान होता है ।

ग्रामण्डल

भगवान के प्रभामण्डल की अपूर्व महिमा कही गई है ।

जिनदेह - रुचामृतालिघ - शुचौ ।
सुर-दानव मर्यान्जनः ददशुः ॥
स्व-भवान्तर-संसक्रमात्ममुदो ।
जगतो बहुमंगलदर्पण के ॥ २३—द्विष ॥ महामुराण

तीर्थकर

अमृत के समुद्र सहस्र निर्मल और जगत को अनेक मंगल रूप दर्पण के समान भगवान के देह के प्रभामंडल में सुर, अंसुर तथा मानव लोग अपने सात सात भव देखते थे। (तीन भव भूतकाल के, तीन भव भविष्यत काल के और एक भव वर्तमान का, इस प्रकार सात भवों का दर्शन प्रभु के प्रभामंडल में होता था।)

(८) भामंडल के विषय में मानकुंग आचार्य ने लिखा है :—

शुभ्रद्वयात्मय - शूरिदिवा विमेत्ते,

लोकत्रये द्युतिमां द्युतिमादिपंती ।

प्रोद्धद्विवाकर - निरन्तरभूरिसंख्या ।

दीप्त्या जयत्यपि निशामपि सौमसौम्या ॥३४॥

हे आदिनाथ भगवान् ! परब्रह्म-स्वरूप आप के शोभायमान प्रभामंडल की प्रचुरदीपि तीनों जगत् में प्रकाशमान पदार्थों के तेज को तिरस्कृत करती हुई उदीयमान सूर्यों की एकत्रित बिपुल संख्या को तथा चंद्रमा के द्वारा सौम्य रात्रि के सौन्दर्यों को भी अपनी तेज के द्वारा जीतती है।

अशोक-तरु

तिलोयपर्णपत्ति में अष्टु महा प्रातिहार्यों का वर्णन करते हुए अशोक वृक्ष के विषय में यह विशेष कथन किया है :—

जेसि तर्ल्लप्मूले उप्पररणं जरण केवलं शुराणं ।

उरहप्पहुदि-जिष्णरणं ते चिय अशोयरुक्षति ॥ ४—६१५ ॥

ऋषभादि तीर्थकरों का जिन वृक्षों के नीचे केवलज्ञान उत्पन्न हुआ वे ही उनके अशोक वृक्ष कहे गए हैं।

चौबीस तीर्थकरों के भिन्न-भिन्न अशोक वृक्ष हैं। ऋषभनाथ अजितनाथ आदि जिनेभ्रूओं के क्रमशः निम्नलिखित अशोक वृक्ष कहे गए हैं :—

न्यग्रोद (बट) चतुर्पर्ण (सप्तश्छद) शाल, सरल, प्रियंगु, प्रियंगु, शिरीप, नागवृक्ष, अक्ष (चहेड़ा) धूली (मालिवृक्ष) प्रलाश,

तीर्थकर

तेंदू, पाटल, पीपल, दधिवर्ण, नन्दी, तिलक, आघ्र, कंकेलि (अशोक) चंपक, बकुल, मेषशंग, घब और शाल ये अशोकवृक्ष लटकती हुई मालाओं से युक्त और धंटादिक से रमणीय होते हुए पललब एवं पुष्पों से भुक्ती हुई शाखाओं से शोभायमान होते हैं । (५—६ / ६—६१८)

ऋग्मादिक तीर्थकरों के उपर्युक्त चौबीस अशोक वृक्ष बारह से गुणित अपने अपने जिन भगवान की ऊँचाई से युक्त होते शोभायमान होते हैं (गाथा ४—६१६) महापुराण में अशोकवृक्ष के विषय में लिखा है :—

मरकतहरितः पत्रै मंसिमयकुसुभैश्चत्रिः ।

मरुपविधुताः शाखारिच्चरमधूत महाशोकः ॥ २३—३६ ॥

वह महाशोक वृक्ष मरकतमणि के धने हुए होे हरे पत्ते और रत्नमय चित्र-चित्र मूलों से अलंकृत वा तथा मन्द-मन्द वायु से हिलती हुई शाखाओं को धारण कर रहा था । उस अशोक वृक्ष की जड़ वज्र की बनी हुई थी, जिसका मूलभाग रसों से दीदीप्यमान था । ऋषभनाथ भगवान का अशोक वृक्ष एक योजन विस्तार युक्त शाखाओं को फैलाता हुआ शोक रूपी अन्वकार को नष्ट करता था । भगवान आत्माओं के आश्रय से तुच्छ पदार्थों की भी महान प्रतिष्ठा होती है, इस विषय में वह अशोक वृक्ष सुन्दर उदाहरण है ।

दिव्यध्वनि की विशेषता

भगवान के अष्ट प्रातिहार्यों में उनकी दिव्यध्वनि का मोहमार्ग की दृष्टि से अत्यन्त महत्वपूर्ण स्थान है । तिलोवर्णणति मैं कहा है :—

अहल्य-णवयपत्थे पञ्चत्रीकृत्यनन्ततत्त्वामिषि ।

णाणाविह-हेदूहि दिव्यसुखी भगवृद्ध भव्याण् ॥ ४—६०५ ॥

यह दिव्यध्वनि भव्यजीवों को यह द्रव्य, नव पदार्थ, पंच अस्तिकाय तथा सप्त तत्वों का नाना प्रकार के हेतुओं द्वारा निहपण करती है । यह दिव्यध्वनि अत्यन्त मधुर, गंभीर तथा मूदु लगती है । यह एक योजन प्रमाण समवरणण में रहनेवाले भव्य जीवों को प्रतिबोध प्रदान करती है । यह जिनेन्द्रध्वनि कंठ, तालु आदि शब्दों

तीर्थकर

को उत्पन्न करने वाले अंगों की सहायता बिना उत्पन्न होती है। इसे किसी भी भाषा के नाम से न कहकर ध्वनि सात्र शब्द द्वारा कहा गया है।

भाषा और ध्वनि

देव कृत अतिथियों में 'अर्धमारधी भाषा' का उल्लेख आया है। दिव्यध्वनि का भगवान के अष्ट प्रतिहायों में कथन है। १ भाषा और ध्वनि शब्द रूप से समान हैं, किन्तु उनमें भिन्नता भी है। ध्वनि व्यक्ति विशेष वा वर्ग विशेष की वाणी में सीमित नहीं होती। तीर्थकर भगवान का उपदेश देव, मनुष्य, पशु आदि अपनी अपनी भाषाओं में समझते हैं, इसलिए प्रभु की देशना को भाषान्विशेष रूप न कह कर उसके अलौकिक प्रभाव के कारण दिव्य ध्वनि कहा गया है।

सार्वार्थ-मारधी-भाषा

नन्दीश्वर भक्ति में पूज्यपाद ऋषि ने अर्धमारधी भाषा को 'सार्वार्थमारधीया भाषा' कहा है। सर्व के लिए हितकारी को सार्व कहा है। प्रभाचन्द्र आचार्य ने लिखा है—“सर्वेभ्यो हिता सार्वी । सा चासौ अर्धमारधीया च ।”

मारध देव के सञ्जिधान होने पर जिनेन्द्र की वाणी को सम्पूर्ण जीव भली प्रकार प्रहण करने में तथा उससे लाभ उठाने में समर्थ हो जाते हैं। आज वक्ता की वाणी को ध्वनिवाहक यन्त्र द्वारा दूरवर्ती श्रोताओं के पास पहुँचाया जाता है। इस यन्त्र की सहायता से वाणी समीप में अधिक उच्चस्वर से श्रवण गोचर होती है और कहीं उसका स्वर मन्द होता है। जिनेन्द्र की ध्वनि, प्रतीत होता है, मारध देवों के सञ्जिधान से सभी जीवों को समान रूप से पूर्ण स्पष्ट और अत्यन्त मधुर सुनाई पढ़ती है।

(१) तद अशोक के निकट में सिंहासन छविदार ।

तीन शतसिल दर लासै भामंडल शिष्कार ॥-

दिव्यध्वनि तुलतैं ग्रिरै पुष्पवृष्टि सुर होय ।

दोरैं चौलट अमर जख, वाजैं दुदुभि जोव ॥

जाने से उसे बे जान लेते थे। (१) अतः सर्वकाल विद्यमान रहने वाले तीर्थकर महावीर की सर्वज्ञता के प्रति उनकी पूजा-पूर्व स्मृता इष्टात्मिक है।

रवंज होने के कारण इन तीर्थकरों ने तत्त्व का सर्वोगीण धोष प्राप्तकर जीवों के हितार्थ जो निगलभद्री देशना दी, वह अलौकिक एवं मार्गिक है।

इस पुस्तक के लेखन में पूज्य १०८ आदिसागरजी मुनिराज (दक्षिण) का आसा से मुट्ठिय लड्डुकथ द्वेष्ट “विकालवर्ती महापुरुष” मूल कारण है। लग १५४८ में उक्त मुनि महाराज का सिवनी में चातुर्मास हुआ था। संशोधन द्वेष्ट उक्त मुनि महाराज ने अपना द्रेष्ट हमें दिया। उस रचना की आपूर्णता देख हमने त्वरित रूप से कठीब चार सौ पृष्ठ की रचना बनाई। वह रचना मुनि महाराज को देते रूपय यह विचार उत्तम हुआ कि विकालवर्ती चक्रवर्ती, कामदेव, नारायण, नारद आदि गदापुरुषों के चरित्रादि में से यदि तीर्थकर के विषय की बातों को पृथक करके परिवर्त्तन किया जाय तो तीर्थकर रूप में त्वरित रचना बन जायगी। इस विचार का ही वह परिणाम है, जो यह तीर्थकर पुस्तक बन गई। इस रचना का अन्तरशः बहुभाग मुनि महाराज के नाम से छपी पुस्तक में निवेद हुआ है। इस विषय में भ्रम निवारणार्थ यह लिखना उचित ज़न्दगी है कि पूज्य मुनि महाराज ने हमारी इच्छासुसार ही अपनी संप्रह रूप पुस्तक में हमारी लिखी सामग्री का उपयोग किया है।

जब हम पञ्चकल्याणको का वर्णन लिख रहे थे, तब हमारे पूज्य पिता सिर्वहृ कुवरसेनजी इसे बड़े प्रेम से सुना करते थे। इससे उनका दृढ़य बड़ा अनन्दित होता था। वे जिनेन्द्र पञ्चकल्याणक महोत्सव के महाकु ऐमी थे। उन्होंने बड़े-बड़े पञ्चकल्याणक महोत्सवों में भाग लिका था। तथा बड़े-बड़े विश्रों का अपने शुद्धि कौशल द्वारा निवारण किया था। उनकी इच्छा भी थी कि शाश्वोक पूर्ण विविष्वक एक पञ्चकल्याणक प्रसिद्ध।

1 Venerable Nagasena, was the Buddha's Omniscient? Yes, O King, he was. But the insight of knowledge was not always and continuously present with him. The Omniscience of the Blessed One was dependent on reflection. But if he did reflect, he knew whatever he wanted to know.....(Sacred books of the East, Vol. XXXV P. 154—"Milinda-Panha")

तीर्थकर

जिनेन्द्र देव से उत्पन्न दिव्यध्वनि रूपी जलराशि को मागध देव रूपी सहायकों के द्वारा भिन्न-भिन्न जीवों के कर्ण प्रदेश के समीप सरलता पूर्वक पहुँचाया जाता है। जैसे सरोवर का जल नल (जल-कल) के माध्यम से जनता के समोप जाता है और जनता उसे नल का पानी नाम प्रदान करती है। प्रतीत होता है कि भगवान की बाणी को भिन्न-भिन्न जीवों के समीप पहुँचा कर उसे सुखपूर्वक शबण योग्य बनाने आदि के पवित्र कार्य में अपनी सेवायें तथा सामर्थ्य समर्पण करने के कारण भगवान की सार्वत्राणी को सावर्धिमागधी नाम प्राप्त होता है। जब मागधदेव उस भगवद्बाणी की सेवा करते हैं, तो महान आत्मा की सेवा का उन्हें यह गौरत्र प्राप्त होता है कि उस श्रेष्ठ बाणी में सेवक के नाते उनका भी नाम आता है। समवशरण में जिस बाणी को सुनकर भव्य जीव अपनी भव बाधा को दूर करने योग्य बोध प्राप्त करते हैं, वह जिनेन्द्र देव के द्वारा उद्भूत हुई है और मागध देवों के सहकार्य से भव्यों के समीप पहुँची है। जब उस बाणी की श्रोताओं को उपलिखि द्वितीय कारणों से होती है, तब द्वितीय कारण को उस कार्य का आधा श्रेव स्थूल दृष्टि से दिखा जाना अनुचित प्रतीत नहीं होता।

कल्पना

कोई-कोई यह सोचते हैं कि राजगिरि जिस प्रांत की राजधानी थी उस मगध देश की भाषा के अधिक शब्द भगवान की दिव्य ध्वनि में रहे होंगे अथवा भगवान प्राकृत भाषा के उपभेद रूप अर्धमागधी नाम की भाषा में बोलते थे।

समाधान

लोक रुचि के परितोष के लिए उपरोक्त समाधान देते हुए कोई कोई व्यक्ति देखे जाते हैं, किन्तु आगम की पृष्ठभूमि का उक्त समाधान को आश्रय नहीं है। सूक्ष्म तथा अतीनिद्रिय विषयों पर साधिकार एवं निर्दीय घटकाश डालने की क्षमतासंपन्न आगम कहता है कि भगवान की बाणी किसी एक भाषा में सीमित नहीं रहती। सर्व-विद्या के द्वैश्वर सर्वत्र एक ही भाषा का उपयोग करेंगे और अन्य देश तथा प्रांत की बहुसंख्यक जनता के कल्याणार्थ अपनी पूर्व प्रयुक्त

भाषा में परिवर्तन न करेंगे यह बात अन्तःकरण को अनुशूल प्रतीत नहीं होती। उदाहरणार्थ भगवान जब विपुलाचल पर विराजमान थे तब भगव्य की सागधी भाषा में विशेष जनकल्याण को लक्ष्य कर उपदेश देना उचित तथा आवश्यक प्रतीत होता है, किन्तु महीशूर (मौसूर) प्रांत में भव्य जीवों के एवं से पहुँचने वाले वे परम पिता जिनेन्द्रदेव यदि कन्ही भाषा का आश्रय लेकर तत्त्व निरूपण करें तो अधिक उचित बात हो। जिनेन्द्र देव की संपूर्ण बातें उचित और निर्दोष ही होंगी। ऐसी रिति में सर्वेव सर्वदा सागधी नामकी प्रांत विशेष की भाषा में प्रभु का उपदेश होता है, यह सान्यता सुदृढ़ तर्क पर आश्रित नहीं दिखती।

लोकोत्तर वाणी

महान् तपश्चर्यी, विशुद्ध सम्य-दर्शन, परमयथाख्यात चारित्र, केवलज्ञान आदि श्रेष्ठ सामग्री का सञ्चिधान प्राप्त कर समुद्रतू हीसे वाली संपूर्ण जीवों को शाश्वतिक शांतिदायिनी भगवद् वाणी की सामान्य संसारी प्राणियों की भाषा से संतुलना कर दोनों को समान समझने का प्रथत्व सफल नहीं हो सकता। वह वाणी लोकोत्तर है। लोकोत्तम योगिराज जिनेन्द्र की है। संसारी जन योगिराज की विद्या, विभूति और सामर्थ्य का लेश भी नहीं प्राप्त कर सकते। रेत का एक कण और पवर्त जैसे समान रूप से विशाल कहे जा सकते हैं। महान् तार्किक विद्वान् समंतभद्र जिनेन्द्र की प्रवृत्तियों के गंभीर चित्तन के पश्चात् इस परिणाम पर पहुँचते हैं कि “जिनेन्द्र के कार्य अचित्य हैं”—“धीर ! तावकमचित्यमीहितम्” (७४ स्वर्यम् स्तोत्र)। उनमे जिनेन्द्र के विषय में लिखा है :—

मानुषो प्रकृतिमध्यतीतवान् देवतास्त्वपि च देवता यतः ।

तेननाथं परमासि देवता श्रेयसे जिनवृष्टं प्रसीद नः ॥ ७५ ॥

‘हे धर्मनाथ जिनेन्द्र ! आपने निर्दोष अवस्था को प्राप्त कर मानव प्रकृति की सीमा का अतिक्रमण किया है अर्थात् मानव समाज में पाई जाने वाली अपूर्णताओं तथा असमर्थताओं से आप उन्मुक्त हैं। आप देवताओं में भी देव स्वरूप हैं, इसलिए हे स्वामिन् आप परमदेवता हैं। हम पर कल्याण के हेतु प्रसन्न होंगे।’

महत्व की बात

योगियों की अद्भुत तपस्याओं के प्रसाद से जो फल रूप में सिद्धियाँ प्राप्त होती हैं, उनसे समस्त विश्व विस्मय के सिधु में छवि जाता है। समीक्षक सिद्धियों के अद्भुत परिपाक को देखकर हतवृद्धि बन जाता है। वह यदि इन जिनेन्द्रों की उत्कृष्ट रत्नब्रह्म धर्म की समाराधना को ध्यान में रखे तो चमत्कारों को देख उसका भस्तक अद्वा से विनत भस्तक हुए लिना न रहेगा। दीक्षा लेकर केवलज्ञान पर्यंत महा मौन को स्वीकार करने वाले तीर्थकरों की बाणी में लोकोत्तर प्रभाव पाया जाना तर्क दृष्टि से पूर्ण संगत तथा उचित है। जब भगवान का प्रभामंडल रूप प्रातिहार्य सदस्य सूर्य के तेज को जीतता हुआ समवशारण में दिन रात्रि के भेदों को दूर करता हुआ मन्त्र जीवों को उनके सात भव दिखाने वाले अलौकिक दर्पण का काम करता है, तब भगवान की दिव्यध्वनि महान चमत्कार पूर्ण प्रभाव दिखाने यह पूर्णतया उचित प्रतीत होता है।

आगम का आधार

चन्द्रप्रम काल्य में दिव्यध्वनि के विषय में लिखा है:—

स्वभाषा-स्वभावेन ध्यनिताथ जगद् गुरुः ।

जगाद् गणितः प्रश्नादिति तत्यं जिनेश्वरः ॥२८—१॥

जगत के गुरु चन्द्रप्रभ जिनेश्वर ने गणधर के प्रश्न पर सर्व भाषा रूप स्वभाव द्वाजी दिव्यध्वनि के हारा तत्व का उपदेश दिया। हरिवंशपुराण में भगवान की दिव्यध्वनि को हृदय और कण्ठ के लिए रसायन लिखा है—“चेतः कर्णरसायनं”। उनमें यह भी लिखा है:—

जिनमाषाड्यर - स्वेदमंतरेण विजृभिता ।

तिर्यादेवमनुष्यारणं दृष्टिमोह-मनीनशत् ॥ २—११३ ॥

ओष्ठ कंपन के बिना उत्पन्न हुई जिनेन्द्र की भाषा ने तिर्यच, देव तथा मनुष्यों का दृष्टि सम्बन्धी मोह दूर किया था। पूज्यपाद स्वामी उस ध्वनि के विषय में यह कथन करते हैं:—

ध्वनिरपि थोजनमेवं प्रजायते थोत्रहृदयहरिगंभीरः ।

सरसालिलजलाधरपटलध्वनितमिव प्रवित्तान्तरशावलयं ॥ २१ ॥

तीर्थकर

जिनेन्द्र भगवान की दिव्यध्वनि श्रोत्र अर्थात् कण्ठ तथा हृदय को सुखदाई तथा गम्भीर होती है। वह सलिल परिपूर्ण मेघपटल की ध्वनि के समान दिगंतर में व्यास होती हुई एक योजन पर्यंत पहुँचती है।

महापुराणकार जिनसेनस्वामी का कथन है :—

एकतयोपि यथैव जलौष्ठिचत्ररसो भवति द्रुभमेदात् ।

पश्चिमेष्टवशात्य तथायं सर्वविदो व्यनिराप वहुत्यं ॥७२—२३॥

जिस प्रकार एक प्रकार का पानी का प्रवाह वृक्षों के भेद से अनेक रस रूप परिणित होता है, उसी प्रकार यह सर्वज्ञ देव की दिव्यध्वनि एक रूप होते हुए पात्रों के भेद से विविध रूपता को आप होती है।

कर्नाटक भाषा के जैनव्याकरण में यह उपयोगी श्लोक आया है :—

गम्भीरं मधुरं मनोहरतरं दोषव्यपेतं हितं ।

कंठोष्ठादिवचो-निमित्तरहितं नो वातसोद्युपर्तं ॥

स्पष्टं तत्तदभीष्टवस्तुकथर्कं निःशेष-भाषात्मकं ।

दूरासद्वसमं शुर्म निरूपमं जैनं वचः पातु नः ॥

गम्भीर, मधुर, अत्यन्त मनोहर, निष्कलंक, कल्याणकारी, कंठोष्ठ, तालु आदि वचन उत्पत्ति के निमित्त कारणों से रहित, पबन के रोध विना उत्पन्न हुई, स्पष्ट, श्रोताओं के लिए अभीष्ट तत्त्व का निरूपण करने वाली सर्वभाषा स्वरूप, समीप तथा दूरवर्ती जीवों को समान रूप से सुनाई पड़ने वाली, शांतिरस से परिपूर्ण तथा उपमा रहित जिनेन्द्र भगवान की दिव्यध्वनि हमारी रक्षा करे।

तिलोयपरणत्ति में इस दिव्य ध्वनि के विषय में बताया है कि “यह अठारह महाभाषा, सात सौ लघुभाषा, तथा और भी संज्ञा जीवों की भाषा रूप परिणत होती है। यह तालु, दंत, ओष्ठ, और कंठ की किया से रहित होकर एक ही समय भव्य जनों को दिव्य वपदेश देती है—‘एकककालं भवजाणे दिव्यभासित’” (४—६०२)।

अनकृत्रात्मक ध्वनि

भगवान की दिव्यध्वनि प्रारम्भ में अनकृत्रात्मक होती है, इसलिए उस समय केवली भगवान के अनुभव बचनयोग माना है। पश्चात् श्रोताओं के कर्णप्रदेश को प्राप्त कर सम्यक्ज्ञान की उत्पन्न करने से केवली भगवान के सत्यबाक् योग का सङ्घाव भी आगम में माना है। गोम्यदसार की संस्कृत टीका में इस प्रसङ्ग पर यह महत्वपूर्ण बात कही है :—

सयोग केवली की दिव्यध्वनि को किस प्रकार सत्य-अनुभव बचन योग कहा है ? केवली की दिव्यध्वनि उत्पन्न होते ही अनकृत्रात्मक रहती है, इसलिए श्रोताओं के कर्णप्रदेश से सम्बन्ध होने के समय पर्यंत अनुभव भाषापना सिद्ध होता है। इसके पश्चात् श्रोताओं के इष्ट अर्थ के विषय में संशय आदिकों के निराकरण करने से तथा सम्यक्ज्ञान को उत्पन्न करने से सत्य बचनयोग का सङ्घाव सिद्ध होता है। इस प्रकार केवली के सत्य और अनुभव बचन योग सिद्ध होते हैं। इस कथन से ज्ञात होता है कि श्रोताओं के समीप पहुँचने के पूर्व वाणी अनकृत्रात्मक रहती है, पश्चात् भिन्न-भिन्न श्रोताओं का आश्रय पाकर वह दिव्यध्वनि अक्षररूपता को धारण करती है।

स्वामी समन्तभद्र ने जिनेन्द्र की वाणी को सर्वभाषा स्वभाव वाली कहा है। यथा :—

तत्र वाग्मृतं श्रीमत्सर्वभाषा-स्वभावकृम् ।

प्रीणयत्यमृतं यद्वप्नाशिणो व्यापि संसदि ॥

श्रीयुक्त तथा सर्व-भाषा-स्वभाववाली आपकी अमृतवाणी

^१ सयोगकेवलिदिव्यध्वनेः कथं सत्यानुभवन्वात्ययोगत्यमिति चेत् तत्र तदुलक्तावनकृत्रात्मकत्वेन श्रोतु-श्रोत्रप्रदेश - प्राप्ति - समयर्थमृत - मनुभय-भाषात्म - सिद्धेः २ तदगतर च श्रोतृजनाभिषेताशैषु संशादादि-निराकरणेन सम्यक्ज्ञानजनकत्वेन सत्यवाक्योगत्व-सिद्धेश्च तस्यापि तदुभयत्यवटनात्”

तीर्थेकर

समवशारण में व्याप्र होकर, जिस प्रकार अमृत प्राणियों को आनन्द प्रदान करता है, उस प्रकार जीवों को आनन्दित करती है।

महापुराणकार का मत

महापुराणकार दिव्यध्वनि को अक्षरात्मक कहते हुए इस प्रकार प्रतिपादन करते हैं :—

‘देवकृतो ध्वनिरित्यसदेतद् देवपुणस्य तथा विहतिः स्यात् ।

साक्षर एव च वर्णस्मूहलैव विनार्थपति र्जगति स्यात् ॥२३—७३॥

कोई लोग कहते हैं कि दिव्यध्वनि देवकृत है यह कथन असम्यक् है, क्योंकि ऐसा मानने से जिनेन्द्र भगवान् के गुण का व्याधात् होता है। वह दिव्यध्वनि अक्षरात्मक ही है, (यहाँ 'ही' वाचक 'एव' शब्द विशेष व्यान देने योग्य है) कारण अक्षरों के समूह के बिना लोक मैं अर्थ का बोध नहीं होता है।

बीरसेन स्वामीकी दृष्टि

जयधबला टीका मैं जिनसेन स्वामी के गुरु श्री बीरसेनाचार्य ने दिव्यध्वनि के विषय में ये शब्द कहे हैं—“केरिसा रा (दिव्य-ध्वनी) ? सब्दभासासस्वा, अक्षराण्डाक्षरपिया, अणांतत्य-गव्यभ-बीजपद-घडिय-सरीरा” (पृ० १२६, भाग २), वह दिव्यध्वनि किस प्रकार की है ? वह सब्दभासा स्वरूप है। अक्षरात्मक, अनक्षरात्मक है। अनन्त अर्थ हैं गर्भ मैं जिसके ऐसे बीज पदों से निर्मित शरीर घाली है अर्थात् उसमै बीजपदों का समुदाय है। चौसठ ऋद्धियों मैं बीज तुद्धि नाम की ऋद्धि का कथन आता है। उसका स्वरूप राज-वार्तिक मैं इस प्रकार कहा है—“जैसे हल के द्वारा सम्यक् प्रकार तैयार की गई उपजाऊ भूमि मैं योग्य काल मैं बोया गया एक भी बीज बहुत बीजों की उत्पन्न करता है, उसी प्रकार नोइंद्रियावरण, श्रतज्ञाना-वरण तथा वीर्यान्तराच कर्म के ज्योपशम के प्रकर्ष से एक बीज पद के ज्ञान द्वारा अनेक पदार्थों को जानने की तुद्धि को बीज तुद्धि कहते हैं”—“सुकृष्ट-सुमधिते लैत्रे सारवति कालादिसदायापेत्रे बीजमेकमुप्तं चथाऽनेकबीजकोटिप्रदं भवति तथा नोइंद्रियावरण-श्रुतावरण-वीर्यान्त-राय-क्षयोपशमप्रकर्षं सति एक-बीजपद-न्यहरणादनेक-पदार्थ-प्रतिपत्तिबीज-

तीर्थीकर

‘बुद्धि’ (पृ० १४३, अध्याय ३, सूत्र ३६)। इस सम्बन्ध में यह कहा जाता है कि जिनेन्द्रदेव की बीज पद युक्त वाणी को गणधरदेव बीज-बुद्धि ऋद्धिधारी होने से अवधारणा करके द्वादशांग रूप रचना करते हैं । इस प्रसङ्ग में यह बात विचार योग्य है कि प्रारम्भ में भगवान की वाणी को मेलकर गणधर देव द्वादशांग की रचना करते हैं, अतः उस वाणी में बीज पदों का समावेश आवश्यक है, जिनके आश्रय से चार ज्ञानधारी महर्षि गणधर देव अङ्ग-पूर्वों की रचना करने में समर्थ होते हैं । वीर भगवान की दिव्यध्वनि को सुनकर गौतम-स्वामी ने “बाहर्हणाण चोइसपुत्रवाणं च मंथाएमेकेण चेव मुहुर्तेण कमेण रथणा कदा” (धर्मला टीका भाग १, पृ० ६५)—द्वादशांग तथा चौदह पूर्व रूप प्रन्थों की एक मुहुर्त में क्रमसे रचना की ।” इसके अलाल् भी तो भगवान भगवान की दिव्यध्वनि खिरती रही है । श्रोतु मण्डली को गणधरदेव द्वारा दिव्यध्वनि के समय के पश्चात् उपदेश प्राप्त होता है । जब दिव्यध्वनि खिरती है, तब मुख्यों के सिवाय संज्ञी पञ्चनिद्र्य तिर्यच, देवादि भी अपनी अपनी भाषाओं में अर्थ को समझते हैं, इससे वीरसेनस्वामी ने उस दिव्यवाणी को ‘सर्वभाषा-सरुबा’—‘सर्व-भाषासर्वरूपा’ भी कहा है । उस दिव्यवाणी की यह अलौकिकता है कि गणधरदेव सदृश जहान ज्ञान के सिन्धु भी अपने लिए अमूल्य निधि प्राप्त करते हैं तथा भगवान मंदसति प्राणी सर्प, गाय, व्याघ्र, कपोत, हंसादि पशु भी अपने-अपने योग्य सामग्री प्राप्त करते हैं ।

तात्पर्य

उपरोक्त समस्त कथन पर गम्भीर विचार तथा समन्वयात्मक दृष्टि ढालने पर प्रतीत होता है, कि जिनेन्द्र की दिव्यध्वनि अलौकिक है; अनुपम है और आचर्यप्रद है । उसके समान विश्व में कोई अन्य वाणी नहीं है । वाणी की लोकोत्तरता में कारण तीर्थीकर भगवान का त्रिमुखनवदित अनन्त सामर्थ्य समर्लकुत व्यक्तित्व है । श्रेष्ठ सामर्थ्यधारी गणधरदेव, भगवान महिमाशाली सुरेन्द्र व्यादि भी प्रभु की अपूर्व शक्ति से प्रभावित होते हैं । योग के द्वारा जो चमत्कारप्रद फल दिखाई पड़ता है, वह स्थूल दृष्टि वालों की समझ में नहीं आता, अतएव वे विस्मय सागरमें झूंके ही रहते हैं । दिव्यध्वनि तीर्थीकर प्रकृति के

विपाक की सबसे महत्वपूर्ण वस्तु है, कारण उके कर्म का बंध करते समय केवली, श्रुतिकेवली के पादगूल से यही भावना का बीज बोया गया था, कि इस बीज से ऐसा वृक्ष बने, जो समस्त प्राणियों को सज्जी शांति तथा मुक्ति का मङ्गल संदेश प्रदान कर सके। मनुष्य-पर्यायरूपी भूमि में बोया गया यह तीर्थकर प्रकृतिरूप बीज अन्य साधन-सामग्री पाकर केवली की अवस्था में अपना वैभव, तथा परिपूर्ण विकास दिखाता हुआ वैलोक्य के समस्त जीवों को विस्मय में डालता है। आज भगवान ने इच्छाओं का अभाव कर दिया है, फिर भी उनके उपदेश आदि कार्य ऐसे लगते हैं, मानों वे इच्छाओं द्वारा प्रेरित हों। इसका चर्यार्थ में समाधान यह है कि पूर्व की इच्छाओं के प्रसाद से अभी कार्य होता है। जैसे बड़ी में चाही भरने के पश्चात् वह घड़ी अपने आप चलती है, उसी प्रकार तीर्थकर प्रकृति का बंध करते समय जिन कल्याणकारी भावों का संग्रह किया गया था वे ही बीज अनन्तगुणित होकर विकास की प्राप्ति हुए हैं। अतः केवली की अवस्था में पूर्व सांचित पवित्र भावना के अनुसार सब जीवों को कल्याणकारी सामग्री प्राप्त होती है।

कल्पवृक्ष-तुल्य-वाणी

हमें तो दिव्यध्वनि कल्पवृक्ष तुल्य प्रतीत होती है। कल्पवृक्ष से इच्छित वस्तुओं की प्राप्ति होती है; इसी प्रकार उस दिव्यचाणी के द्वारा आत्मा की समस्त क्रामनाथों की पूर्ति होती है। जितनी भी शंकाएँ मन में उत्पन्न होती हैं, उनका समाधान ज्ञानमात्र में हो जाता है। दिव्यध्वनि के विषय में कुन्दकुन्दाचर्य के लूत्रात्मक ये शब्द बड़े महत्वपूर्ण प्रतीत होते हैं—“तिहुवण-हिद-मधुर-त्रिसद-न्यक्काण” अर्थात् दिव्यध्वनि के द्वारा त्रिभुवन के समस्त भृत्य जीवों को हितकारी, प्रिय तथा स्पष्ट उपदेश प्राप्त होता है। जब छङ्गास्थ तथा बाल अवस्था वाले महावीर प्रभु के उपदेश के बिना ही दो चारण ऋद्धिभारी महाभुनियों की सूखम शंका दूर हुई थी, तब केवलज्ञान, केवलदर्शनादि सामग्री संवृक्त तीर्थकर प्रकृति के पूर्ण चिपाक होने पर उस दिव्यध्वनि के द्वारा समस्त जीवों को उनकी मापाओं में तत्त्वधोध हो जाता है, वह बात तनिक भी शंका योग्य नहीं दिखती है। इस दिव्यध्वनि

तीर्थकर

के विषय में धर्मशार्जन्युदय का यह पद्म बड़ा मधुर तथा भावपूर्ण प्रतीत होता है :—

सर्वाद्वृतमयी सृष्टिः सुधावृष्टिश्च कर्णश्चोः ।

प्रावर्ततु ततोवास्त्वी सर्वविद्ये श्वरद्विसोः ॥२१—७॥

सर्वविद्याओं के ईश्वर जिनेन्द्र भगवान से सर्व ग्रकार से आश्चर्यप्रद सृष्टि रूप सथा कणों के लिए सुधावृष्टि सदृश दिव्यध्वनि उत्पन्न हुई ।

दिव्यध्वनि का काल

गोमटसार जीवकाण्ड की संस्कृत टीका में लिखा है, कि तीर्थकर की दिव्यध्वनि प्रभात, मध्याह्न, सायंकाल तथा मध्यरात्रि के समय चार-चार छह-छह घण्टिका कालपर्यन्त अर्थात् दो ब्रंटा, चौबीस मिनिट तक प्रतिदिन तियम से खिरती है । इसके सिवाय गणधर, चकवर्ती, इन्द्र सदृश विशेष पुरुषशाली व्यक्ति के आगमन होने पर उनके प्रश्नों के उत्तर के लिए भी दिव्यध्वनि खिरती है । इसका कारण यह है कि उन विशिष्ट पुरुषाधिकारियों के संदेह दूर होने पर धर्मभावना बढ़ेगी और उससे मोक्षमार्ग की देशना का प्रचार होगा, जो धर्म तीर्थकर की तत्त्व प्रतिपादना की पूर्ति स्वरूप होगी । जीवकाण्ड की टीका में ये शब्द आए हैं—“धातिकर्म—क्षयानन्तर-क्षेवलक्षानसहोत्पन्न—तीर्थकरत्वपुरुषातिशय-विज-भितमहितः तीर्थकरस्य पूर्वाह्नमध्याह्न-पराह्नार्धरात्रिषु षट्-षट् घण्टिकाकालपर्यन्त द्वादशगणसमामध्ये स्वभावतो दिव्यध्वनि-रुद्रच्छ्रुति । अन्यकालेषि गणधर-शक-चक्रधर-प्रशनानन्तरं चोद्भवति । एवं सदुद्भूतो दिव्यध्वनिः समस्तासनश्चोत्त-गणानुदिश्य उत्तमक्षमादिलक्षणं रक्षव्रयारम्भं वा धर्मं कथयति” (पृष्ठ ७६१) । जयधबला टीका में लिखा है कि यह दिव्यध्वनि प्रातः मध्याह्न तथा सायंकाल रूप तीन संध्याओं में छह-छह घण्टा पर्यन्त खिरती है—“तिसंज्भु-विसय-छघडियासु गिरंतरं पश्यद्वमाणिय” (प्रष्ठ १२६, भाग १) । तिलोयफलण्डि में भी तीन संध्याओं में कुल सिलाकर नवमुहूर्त पर्यन्त दिव्यध्वनि खिरने का उल्लेख है ।

तीर्थकर

पगदीए अकलिलिओ संभक्तिश्यमि म गुवमहुत्तरण ।

गिस्सरदि गिरुवमाणो दिव्यभुग्णी जाव जीयण्णय ॥४—८०३॥

तिलोयपण्णति मै रुद वी कडा है कि “गद्यर, इन्ह रामा चक्रवर्ती के प्रश्नालुरूप अर्थ के निरूपणार्थ यह दिव्यध्वनि शेष समयों में भी निकलती है। यह भव्य जीवों को छह द्रव्य, नौ पदार्थ, पाँच अस्तिकाय और सात तत्वों का नाना प्रकार के हेतुओं द्वारा निरूपण करती है” (भाग १, छष्ट २६३)।

शंका

गोम्बटसार मै सध्यरात्रि को दिव्यध्वनि खिरने पर यह शंका की जा सकती है कि सध्यरात्रि को तो जीव निद्रा के बशीभूत रहते हैं, उस समय उस दिव्यबाणी के खिरने से क्या उपयोग होगा ?

समाधान

समवशरण मै भगवान के प्रभासंडल के प्रभाव से दिन और रात्रि का भेद नहीं रहता। वहाँ निद्रा की वादा भी नहीं होती।

मुनिसुब्रतकाव्य मै लिखा है :—

ली-बाल-नृद्धनिवहोपि सुखं सभा तामंतर्मुहूर्तसमयांतरतः प्रवति ।

निर्याति च प्रभुभाहात्म्यतथाऽश्रितानां निद्रानृति-प्रसव-शोक-रुजादयो न ॥

॥५०—४५॥

स्त्री, बालक, तथा वृद्ध समुदाय उस समवशरण मै अंत-मुहूर्त के भीतर ही आनन्दपूर्वक आते थे तथा जाते थे; अर्थात् सभी जीव वहाँ सुखपूर्वक शोग आते जाते थे। भगवान तीर्थकर प्रभु के माहात्म्य से समवशरण मै आने वालों को निद्रा, मृत्यु, प्रसव तथा शोक रोगदिक नहीं होते थे।

तीर्थकरके गुण

भगवान के अनन्त ज्ञान, अनन्त दर्शन, अनन्त सुख तथा अनन्तवीर्य रूप अनन्त चतुष्टय पाए जाते हैं। इस प्रकार वस

स्वयं करावें। उनकी जिमेन्ट्र मर्कि अपूर्व थी। लगभग बीस वर्ष से वे समाधिमरण के लिए अन्यास कर रहे थे। एक विशाल परिवार के प्रमुख व्यक्ति होते हुए भी उन्होंने धर्म पुरुषार्थ की साधना को सुन्दरी दी थी। शास्त्र अवगत, तत्त्ववित्तन तथा जिमेन्ट्र नाम-त्वरण उनके सुरक्षा कार्य थे। वे सुझसे कहा करते थे, वेद ! मेरा समाधिमरण करा देना। मैंने भी कहा था, समय आने पर आपकी करमना यूर्ध्व करूँगा।

इस तीर्थकर पुस्तक के प्रकाशन कार्य में शोषिता निमित्त में जबलपुर १७ मार्च सन् १९६० को गया; वहाँ तारीख २८ मार्च को टेलिफोन द्वारा समाचार मिला, बापाजी की लघिवत विशेष गताव है; दस मिनिट के अनंतर बजपात बुल्य दूसरा छोट आवश्यकि कि एहम आमिक बापाजी का स्वर्गवास हो गया। पहले उन्होंने “जिया समकित विना न लरो, बहु कोटि यतन करो जिया समकित विना न लरो” वह भजन में छोटे भाई अनिन्दन कुमार दिवाकर एम. ए. एल-एल. बी. से सुना था; पश्चात् भक्तामर का पाठ लुना। इसके अनंतर सहस्रनाम पाठ सुनाया गया। तो परम शान्त भाव से धर्मसूत्र का रत्न पान कर रहे थे। सहस्रनाम का युनः पाठ प्रारम्भ किया गया, कि सबा नौ बड़े दिन को ब्राह्मणी ने ब्रह्मजीर्ण देह को छोड़ दिया और अपूर्व समाधिमरण के प्रणाद से उन्होंने दिव्य शरीर को प्राप्त किया।

मैं जबलपुर से खिलनी आया, पिताजी नहीं मिले। उनका शरीर मात्र था; जो निरचेष्ट था। शास्त्रोत्तम वर्ते रामने आई “लाल कोइ की धरी रहेगी, सज्ज न जै है एक तगा, प्रभु तुमरन मैं भन लगा-लगा?” यह भजन बापाजी गाया करते थे। उच्चमुच्च में चैलन्व ज्योति चली गई। शेष सभी पदार्थ जहाँ के तहाँ पहुँ रह गए। उनके अंदर समव मैं काम न आ पाया, वह विद्युत मन मैं सूक लेद्वा उत्तर वरता है। अध द्वा किया जा सकता है ? मैंने सोचा कि यह तीर्थकर प्रन्थ उन परम भगवान् भरतल की पावन स्मृति में ही प्रकाश मैं लाया जाव। तीर्थकरत्व में शारणरूप पोद्वश कारण भावनाओं के प्रति उनकी महान सभा अपूर्व अद्वाभी। उनके जीवन मैं आदर्श आमिक युद्धस्थ दी अपूर्व विशेषताओं का सुन्दर सज्जम था। अहं इस रूपना को उनकी पुण्य स्मृति रूप में प्रकाश मैं लाना युर्ध्वतया उपयुक्त है।

वह पुस्तक लिखते समय छोटे भाई शांतिलाल दिवाकर के चिरंजीव शृणुष्ठ ने बहुत सहायता दी। धर्मप्रिय जृष्टम शतिभा सम्बद्ध बालक

तीर्थेकर

जन्मातिशय, दस के बलव्वान के अतिशय, चतुर्दश देवकृत अतिशय, अद्वितिहार्य तथा अमन्त चतुष्णि मिलकर तीर्थेकर अरहंत के छियालीस गुण माने गए हैं। धातिशा चतुष्प्रय के नष्ट होने पर भगवान् यथार्थ में निर्दोष पदबी के अधिकारी बनते हैं। केवलव्वान उत्सन्न होने के पूर्व प्रभु अगलित गुणों के भवडार रहते हुए भी पूर्ण निर्दोष नहीं कहे जा सकते। जनसाधारण में यह बात अचलित भी है कि भगवान् के सिवाय दूसरा कोई पूर्ण निर्दोष नहीं हो सकता। जगत् में किसी को सदोष, किसी को निर्दोष कहा जाता है, यह स्थूल रूप से साज्जोप कथन है। बास्तव में दोषों के गुण मोहनीय के रहते हुए कैसे निर्दोषपना कहा जा सकता है? यदि शांत और वीतराग भाव से तत्त्व का विचार किया जाय, तो जिनेन्द्रदेव ही निर्दोष कहे जावेंगे। विषयों के या इन्द्रियों के दास, कामयासना के अधीन रहने वाले परिमहासक्त निर्दोष नहीं हो सकते। भक्त-जन उन विमूर्ति सम्पन्न परिमही आत्माओं की कितनी भी स्तुति करें, उनमें गुण नहीं आ सकते। एक कवि ने कहा है:—

बड़े न हूजे मुनन विनु विरद वड़ई पाय।

कहत धत्तेरे सों कनक रहनो गड्डो न जाय॥

गुणों के अभाव में स्तुति प्राप्त करने से कोई बास्तव में बड़ा नहीं बन सकता है। धत्तेरे को कनक कहते हैं। सुवर्ण का पर्यायवाची शब्द यद्यपि धत्तेरे के लिए प्रयुक्त होता है, किन्तु उसमें सुवर्ण का गुण नहीं है, अतः उससे भूपण नहीं बनाए जाते। इस प्रकाश में सञ्चेदेव आदि का निर्णय किया जा सकता है। अरहंत भगवान् में इन दोषों का अभाव होता है:—

अत्म जरा तिरखा छुधा, विस्मय आत्म स्वेद।

रोग शोक भद्र मोह भय, निन्दा चिन्ता स्वेद॥

राग द्वेष आस मरण जुत, ये अष्टादश दोय।

नहिं होते अरहंत के सो छवि लायक मोख॥

जिनेन्द्र भगवान् में दोषों का सर्वथा अभाव आश्वर्यप्रद लगता है। विविध सरागी धर्मों का तथा उनके आश्वर्यस्य आराध्यों का स्वरूप मोह, भय तथा पक्षपात त्याग करके देखने पर विदित

तीर्थकर

होगा, कि उक्त अष्टादश दोषों में से अनेक दोष उनमें पाए जाते हैं। जिनेन्द्रदेव में दोषों के अभाव का कारण भक्ताभस्तोत्र में कही मनोहृषि पढ़ति द्वारा समझा गया है। आचार्य मानुज कहते हैं:—

को विस्मयोऽत्र यदि नाम गुणैरशेषैः ।

त्वं संशिलो निरक्षकाशतया मुनीशु ।

दोषैरूपात् विविधात्र्यजातगवेः

स्वप्नान्तरेषि न कदाचिदपीक्षितेसि ॥२७॥

हे हुनीन् ! अनन्द अवलोकन में से आपमें समस्त गुणों ने निवास किया है, इसमें विस्मय-आश्चर्य की कोई बात नहीं है। दोषों को जगन् में अनेक स्थान निवास योग्य मिल जाने से गव्य उत्पन्न हो गया है, अतः उन दोषों ने स्वप्न में भी आपकी ओर हृषि नहीं दी है। यहाँ कोई भिन्न सम्प्रदायवादी कह सकता है, कि जिनेन्द्र तीर्थकर को ही क्यों निर्दोष कहा जाय ? हमारा जो आराध्य है वही निर्दोष है। ऐसी शंका का समाधान आचार्य समन्तभद्र की इस युक्तियुक्त कथन से होता है:—

स त्वमेवापि निर्देषो युक्तिशास्त्राऽविरोधिवाक् ।

हे धीर भगवान ! वह निर्दोषपना आप में ही है, क्योंकि आपकी वाणी युक्ति तथा आगम के अविरुद्ध है। इस पर पुनः प्रश्न होता है कि यह बात कैसे जानी जाय, कि आपका कथन युक्तिशास्त्र के अविरोधी है ? इसका उत्तर पत्र के उत्तरार्थ में दिया है:—

अविरोधो यदिष्टं ते प्रसिद्धेन न बाध्यते । देवागम स्तोत्र॥

जो बात आपको इष्ट है, अभिमत है, वह प्रत्यक्ष अनुसानादि प्रमाणों द्वारा स्विन्दित नहीं होती है। वास्तव में स्थाद्वादशासन एक अमेव्य किला है, जिस पर एकान्तबाद के गोले का कोई भी असर नहीं कर सकते हैं। जिसमें विचारशक्ति है, वह स्वस्य मन तथा मरितज्ञ पूर्वक जिनेन्द्र की वाणी को विश्व के दर्शनों के साथ तुलना करके देख सकता है, कि जिनेन्द्र का कथन समन्त-भद्र है; सर्वांगीण कल्याणपूर्ण है। उसमें पूर्णतया निविकारता है।

तीर्थकर

महाबीर भगवान् भीतर देखते हैं, बुद्धदेव बाहर देखते हैं। बुद्धदेव की उपदेश मुद्रा या अभय मुद्रा इसके प्रमाण हैं कि बहिर्जगत् की और बुद्ध की दृष्टि है। अन्य कौतुक, कीड़ा आदि मुद्रा युक्त भगवान् की मूर्ति का योग-मुद्रा युक्त ध्यानगमी प्रतिमा के साथ तुलना की आवश्यकता नहीं है। उनका अन्तर अत्यन्त स्पष्ट है। जिनेन्द्रमूर्ति की बीतरागता, पवित्रता, शांति तथा आत्मसंवेद के प्रकाश से प्रदीप होती है। उनकी मुद्रा प्रशंसन, आध्यात्मिक स्वास्थ्य एवं छुटकारा दोनों की है। इस प्रकार उनका अन्तर स्पष्ट है।

स्तुति का व्रयोजन ?

इस प्रसङ्ग में सहज ही यह प्रश्न उत्पन्न होता है कि भगवान् ऋषभदेव आदि तीर्थकर के बल ज्ञान उत्पन्न होने पर बीतराग हो चुके। वे न स्तुति से प्रसन्न होते और न विदा से उनको श्रोध ही उत्पन्न होता है। ऐसी स्थिति में उनकी स्तुति को क्यों जैन परम्परा में स्थान दिया गया है? इस प्रश्न के समाधान में आचार्य समन्तभद्र ने लिखा है कि आपके स्तोत्र, स्तब्दन के द्वारा मन से मलिन भाव दूर होते हैं। इस आत्म निर्भलता की प्राप्ति के लिए जिनेन्द्र की स्तुति, आराधना की जाती है। भगवान् के गुणों के चिंतबन से पवित्र भाव होते हैं, इससे जीवन उज्ज्वल बनता है, इस कारण भगवान् की अभिवृद्धना की जाती है। वृक्ष के नीचे जाने से जिना माँगे स्वयं छाया प्राप्त होती है, इसलिए जिनेन्द्र का शरण ग्रहण करने से स्वयमेव पवित्रता प्राप्त होती है, जिसके पीछे समुद्दियाँ भी चक्रर लगाती हैं।

महाकवि धर्मनजय की इस्कि कितनी मार्मिक है :—

इति स्तुतिं देव विवाय दैन्यत्तू वरं च याचे त्वमुपेक्षुकोऽसि ।

छाया तरुं संग्रायतः स्वतः स्पात् कश्चायथ्या याच्चित्प्राऽत्मलाभः ॥

हे ऋषभनाथ जिनेन्द्र ! इस प्रकार आपका विषापहार-स्तोत्र द्वारा स्तब्दन करने के पश्चात् मैं आपसे किसी प्रकार के बार की याचना नहीं करता हूँ। कवि के इस कथन पर शंका होती है कि भक्तिमूर्त्ति के भगवान् का गुणगान करने के बाद उनसे प्रसाद पाने की प्रार्थना करने में क्यों प्रमाद करते हो ? उनसे फल की प्रार्थना करना तो भक्त का अधिकार है। इस आरंका को दूर करते हुए कवि कहते हैं—“तरु

का आश्रय लेने वाला स्वयमेव छाया को प्राप्त करता है, अतएव छाया की याचना करने से क्या लाभ है ?

स्तुतिकार आचार्यों, कवियों तथा संतों ने विविध रूप से जिनेन्द्र का गुणगान किया है, किन्तु उसका अंतस्तत्व यही है कि इस के गुणचित्त द्वारा विनाशकृद्धि इतिै दैै अस्तिै व्यक्ति का उज्ज्वल मविष्व उसकी परिणुद्ध तथा सात्त्विक चित्तवृत्ति पर निर्भर है; अतएव प्रकारान्तर से सुन्दर भाग्य निर्माण में भगवान का सम्बन्ध कथन करना अनुचित नहीं है।

अर्हन् की प्रसिद्धि

अन्य सम्बद्धाय में केवली शब्द के स्थान में जिनेन्द्रदेव की अर्हन् या अरिहंत रूप में प्रसिद्धि है। ऋग्वेद में अर्हन् का उल्लेख आया है^१ “अर्हन् इदं दयसे विश्वसभ्यम्”। मुद्राराजस नाटक में अर्हन्त के शासन को स्वीकार करो। ये मोहव्यादि के वैद्य हैं ऐसा उल्लेख आया है।^२ मोहव्याहि-वेज्जाणं अलिहंताणं सासणं पद्म-वज्जह।^३ हनुमन्नाटक में लिखा है—“अर्हन् इत्यथ जैनशासनरताः”—जैनशासन के भक्त अपने आराध्य देव को अर्हन्^४ कहते हैं।

यह अरिहंत शब्द गुणवाचक है। जो भी व्यक्ति चार घातिया कर्मों का विनाश करता है वह अरिहंत बन जाता है। अतः यह शब्द व्यक्तिगत न होकर गुणवाचक है। अरहंत शब्द भी देखा जाता है।^५ ‘अ’ का अर्थ है ‘विष्णु’। ‘अकारो विष्णुनामस्यात्’। केवली भगवान केवलज्ञान के द्वारा सर्वत्र व्याप्त हैं अतः अ का अर्थ द्वोगा केवली भगवान। ‘र’ का अर्थ है राग। कोश में कहा है—“रागः बले रवे” इत्थादि। ‘ह’ हनन करनेवाले का वाचक है। हर्षेच हनमे हः स्वात्। ‘त’ शूरबीर का वाचक है। कहा भी है ‘शूरे चौरेच तः प्रोक्तः।’

^१ A Vedic Reader by Macdonell P. 63

^२ मुद्राराजस अंक ४

^३ शाकटाद्यन ने व्याकरण में “जिनोऽहन्” (३०३) शूत्र में अर्हन् को जिन का पर्यायवाची कहा है।

^४ लचीसागर।

अरिहंत का वाच्यार्थ

धबल ग्रन्थ में 'अरिहंताण' पर प्रकाश ढालते हुए लिखा है—“अरि-हननात् अरिहंता । नरक-तिर्यककुमानुष्य-प्रेतावासगताशेषदुःख-प्राप्ति-निमित्तत्वात् अरिमोहः । तस्यारेहननादरिहन्ता । अर्थात् अरि के नाश करने से अरिहंत हैं । नरक, तिर्यक, कुमानुष, प्रेत इन पर्यायों में निवास करने से होने वाले समस्त दुःखों की प्राप्ति का निमित्त करण दोने से मोह को अरि अर्थात् शत्रु कहा है । उस मोहशत्रु का नाश करने से अरिहंत है ।

अन्यकर्म मोहनीय कर्म के आधीन हैं, क्योंकि मोहनीय कर्म के बिना शेष कर्म अपना कार्य करने में सक्षम नहीं होते । बाह्यवैक्षीण मोह गुणस्थान की प्राप्ति होने पर पञ्च ज्ञानावरण, पञ्च अंतराय तथा दर्शनावरण चतुष्टय शीघ्र नष्ट हो जाते हैं और क्षीणमीढ़ी आत्मा केवली, स्नातक, परमात्मा, जिनेन्द्र बन जाता है ।

‘रजोहननादा अरिहन्ता । ज्ञानहगावरणानि रजांसीव बहिरङ्गान्तरङ्गाशेष-त्रिकालगोचरामन्तार्थी-ठयंजन-परिणामात्मक-वस्तुविषय-बोधानुभव-प्रतिबंधकत्वात् रजांसि’—अथवा रज का नाश करने से अरिहंत है । ज्ञानावरण तथा दर्शनावरण रज के समान हैं । बाह्य तथा अन्तरङ्ग समस्त त्रिकालगोचर अनन्त अर्थपर्याय और व्यञ्जन पर्याय स्वरूप वस्तुओं को विषय करनेवाले बोध तथा अनुभव के प्रतिबंधक होने से वे ज्ञानावरण दर्शनावरण रज हैं । मोहनीय कर्म भी रज है, क्योंकि जिस प्रकार जिनका मुख भरम से व्याप्त होता है उनमें जिम्ह भाव अर्थात् कार्य की मन्दता देखी जाती है । उसी प्रकार मोह से जिनका आत्मा व्याप्त हो रहा है उनके भी जिम्ह भाव देखा जाता है अर्थात् उनकी स्वानुभूति में कालुस्य, मन्दता या कुर्टिलता पाई जाती है । इन तीन कर्मों के त्त्व के साथ अन्तराय का नाश अवश्यम्भावी है । अतएव उक्त रजों के नाश करने से अरिहंत है । ‘रहस्याभावादा अरिहंता । रहस्यमंतरायः, तस्व शेषाद्वानित्रितयविनाशपादिनाभाविनो धष्टवीजवन्मिः शक्तीकुताधाति कर्मणां हननादरिहंता ।’—रहस्य का अभाव करने से अरिहंत है । अंतराय कर्म रहस्य है । उसका ज्ञानावरण, दर्शनावरण तथा मोहनीय के त्त्व के साथ अविनाभाव है

तीर्थंकर

अंतराय के नाश होने पर व्यष्टितया कर्म अष्टवीज के समान शक्ति रहत हो जाते हैं; अतएव अंतराय के कथ से अरिहंत कहते हैं।

अरिहंत अर्थात् अर्हन्त

भगवान् को अर्हन् भी कहते हैं। “अतिशयपूजार्हत्वाद्वार्हन्तः। स्वर्गावतरण—जन्माभिषेक-परिनिष्क्रमण—केवलज्ञानोत्पत्ति—परिनिर्बाणेषु देवकृतानां पूजानां देवासुरमानवप्राप्तपूजाम्ब्योऽधिकत्वादतिशयानामहत्वाद्योग्यत्वादर्हन्तः” — अतिशय युक्त पूजा की प्राप्त होने से अर्हन्त हैं। स्वर्गावतरण, जन्माभिषेक, परिनिष्क्रमण अर्थात् दीक्षा, केवलज्ञान की उत्पत्ति तथा परिनिर्बाणस्वप्न कल्याणकों में देवकृत पूजाएँ सुर, असुर, मानवों की पूजाओं से अधिक होने से अतिशयों के अर्ह अर्थात् योग्य होने से अर्हन्त हैं। मूलाचार में कहा है :—

अरहंति एते नम्नकारं कृतिहा पूजा तुलस्य देवता ।

रजहंता अरिहंति य अरहंता तेण उच्चरेद् ॥५०५॥

जो नमस्कार करने योग्य हैं, पूजा के अर्ह अर्थात् योग्य हैं, लोक में देवों में उत्तम हैं; रज अर्थात् ज्ञानावरण दर्शनावरण के नाश करने वाले हैं अथवा अरि अर्थात् भौहनीय और अंतराय के नाश करने वाले हैं, इससे अरहंत कहते हैं। दीक्षाकार आचार्य बसुनंदि सिद्धान्त चक्रवर्तीं लिखते हैं—“येनेह कारणेनेत्यभूतास्तेनाहंतः सर्वज्ञाः सर्वलोकनाथा लोकेस्मिन्नुच्यन्ते ।” वे इन कारणों से इस प्रकार हैं अतएव उनको अर्हन्त, सर्वज्ञ, सर्वलोक के नाथ इस लोक में कहते हैं। केवली भगवान् को अंतरङ्ग कर्मकथा की दृष्टि से ‘अरिहंत’ कहते हैं। उनकी समवशारण में शतद्वय पूजा करते हैं इस दृष्टि से उनको अरहंत कहते हैं। मूलाचार में कहा है :—

अरिहंति वंदण-णमसारिण अरिहंति पूज-सक्तारं ।

अरिहंति सिद्धिगमणं अरहंता तेण उच्चरेति ॥

वंदना तथा नमस्कार के योग्य हैं, पूजा-सक्तार के योग्य हैं, सिद्धिगमन के योग्य हैं, इससे इनको ‘अरहंत’ (अर्हन्) कहते हैं।¹

¹ अरहंत शब्द के गौरव की वर्ता करते हुए काशी विश्वविद्यालय के एक वैदिक शास्त्रश प्रोफेसर ने कहा था—“जैन शास्त्रकारों ने अर्हता

दोनों पाठ ठीक हैं

कभी-कभी यह शंका उत्पन्न होती है कि 'एमो अरिहंताण' पाठ ठीक है या 'एमो अरहंताण' ? उपरोक्त विवेचन के प्रकाश में यह विदित होता है कि दोनों पाठ सम्यक् हैं।

महत्व की बात

बृहदेवतिकमण्ड पाठ के सूत्र में गौतमगणधर बताते हैं कि 'सुत्तस्स मूलपदाणमशासणदाए' अर्थात् आगम के मूलपदों में हीनताकृत जो दोष उत्पन्न हुआ है उसका मैं प्रतिकमण्ड करना चाहता हूँ। प्रभाचन्द्राचार्य के टीका में ये शब्द आए हैं :—'सूत्रस्य आगमस्य सम्बन्धिनां मूलपदानां प्रधानपदानामत्यासादनता हीनता तस्यां सद्यां यः कथितुत्पन्नो दोषस्तं प्रतिकमितुमिल्लभामि ।' इसका उदाहरण देते हुए वे कहते हैं—“तं जहा एमोक्कारपदे एमो अरहंताणमित्यादिलक्षणे पंचनमस्कारपदे याऽत्यासादनता तस्यां अरहंतपदे इत्यादि अर्हदादीनां वाचके पदे याऽत्यासादनता तस्यां मङ्गलपदे चत्तारिमङ्गलमित्यादिलक्षणे, लोगुत्तमपदे चत्तारि लोगुत्तमा इत्यादिस्वरूपे, सरण्यपदे-चत्तारिमररणं पठवज्जामि इत्यादि लक्षणे” (पुष्ट १३६) । इसमें उल्लेखनीय बात यह है कि गौतमस्वामी एमोक्कारपद के द्वारा एमो अरहंताणं इत्यादि पंच नमस्कार पद का संकेत करते हैं। इससे यह 'एमो अरहंताण' आदि पद रूप नमस्कार मंत्र पट्टखंडागम सूत्रकार भूतवलि-पुष्टदंत कृत है यह धारणा भीत्र प्रमाणित होती है। इसके पश्चात् 'अरहंतपदे' शब्द का प्रयोग आया है, 'अरिहंत पदे' शब्द नहीं है।

दोनों पाठ भिन्न-भिन्न दृष्टियों से सम्यक् हैं। सूक्ष्म विचार से ज्ञात होगा, कि बारहवें गुणस्थान के अंत में भगवान् अरि समूह गुणों के भरण्डार परमत्वमा के पर्यावाची अरहंत शब्द द्वारा भगवान् की अदरिमित विशेषताओं की ओर दृष्टि ढालती है। अन्य घमों में प्रचुक्त नस्मों में केवल एक ही गुण प्रकाश में आता है। जैसे द्वेष शब्द प्रसु की शान-ज्योति को सूचित करता है। अरहंत का भाव है पूजनीय, वीभ्य Adorable, Worthy ; किसी को Worthy कहने से अनेक गुणगुण का कङ्गाल व्यक्त होता है। अतएव अरहंत शब्द व्यापक वृद्धा गम्भीर है।

का ज्यय करने से अरिहंत हो गए। इसके अनन्तर सुरेन्द्रादि आकर जब केवलज्ञान कल्याणक की पूजा करते हैं, तब 'अरिहंति पूय-सक्कार' इस हष्टि से उनको अहंत कहेंगे। प्राकृतभाषा में इसका 'अरहंत' रूप पाया जाता है।

प्राचीन उल्लेख

'एमो अरिहंताण' रूप पंचनमस्कार मंत्र का भूतवल्लि-पुष्प-देताचार्य के पहले सङ्ग्रह था इसके प्रमाण उपलब्ध होते हैं। मूलाराधना नाम की भगवती आराधना पर रचित टीका में पृष्ठ २ पर यह महत्वपूर्ण उल्लेख द्याया है, कि सत्त्वाग्निह कुर्दि अन्न पात्र आगम में, तथा लोक बिन्दुसार है अंत में जिनके, ऐसे चौदह पूर्व साहित्य के आरम्भ में गौतम गणधर ने 'एमो अरहंताण' इत्यादि रूप से पंचनमस्कार पाठ लिखा है। जब गणश्रद्देव रचित अंग तथा अंगबाला साहित्य से एमो अरहंताण इत्यादि मङ्गल रूप से कहे जाए हैं, तो किर इनकी प्रचलित मान्यता निर्देश रहती है, जिसमें यह पढ़ा जाता है "अनादिमूलमेत्रोथम्"। मूलाराधना टीका के ये शब्द उद्यान देने योग्य हैं "यद्यं वं सकलं श्रुतस्य सामविकादेलोऽक्विन्दुसारान्तस्यादौ मंगलं कुर्वद्विगणेधरैः", "एमो अरहंताणमित्यादिना कर्थं पंचानां नमस्कारः कृतः ।"

पञ्जुवास का स्वरूप

बृहत्प्रतिक्रियण पाठ में दोष शुद्धि के लिए गौतम गणधर ने यह लिखा है "मूलगुणेसु उत्तरगुणेसु अइक्कमो जाय अरहंताण भयंताणं पञ्जुवासं करेमि तावकायं (वांसिरामि) (पृ० १५१) ।" टीकाकार पञ्जुवास अर्थात् पर्युपासना का स्वरूप इस प्रकार कहते हैं कि ३२४ उच्छ्वासों द्वारा १०८ बार पंचनमस्कार मन्त्र का उशारण करे। टीकाकार प्रभाचन्द्र आचार्य के शब्द इस प्रकार हैं "पञ्जुवासं करेमि—एकाघ्रेण हि विशुद्धेन मनसा चतुर्विंशत्युक्तर—शतत्रयानुच्छृंचासैरष्टोत्तरशतादिवारात्रं पंचनमस्कारोशारणमहतां पर्युपासनकरणं तथ्यावत् कालं करोमि..." पंचनमस्कार मंत्र का तीन उच्छ्वासों में पाठ करने का मुनियों के आचार ग्रन्थों में प्रतिक्रियण प्रायश्चित्तादि के लिए उल्लेख पाया जाता है।

तीर्थकर

रत्नत्रय रूप त्रिशूल

आचार्य वीरसेन ने अरहंत भगवान के सम्बन्ध में यह सुन्दर गाथा धबला टीका में उद्धृत की है:—

सिरयण-तिरसूलधारिय मोहधसुर-कर्वध-बिंद-हरा ।

सिद्ध-सर्वलाप्य रुद्रा अरहंता दुरण्णिक्षयंता ॥पृ० ४५, भग १॥

जिन ने रत्नत्रय रूप त्रिशूल को धारण कर मोह रुपी अंधकासुर के कर्वंधशृन्द का हरण किया है और अपने परिपूर्ण आत्म-स्वरूप को प्राप्त कर लिया है, वे मिथ्या पक्षों के विनाश करने वाले अरहंत भगवान हैं।

‘उत्तम’ का अर्थ

मूलाचार में लिखा है कि ये अरहंत भगवान जगत में त्रिविध तम अर्थात् अंधकारों से विमुक्त हैं। इस सम्बन्ध की गाथा विशेष भहत्यपूर्ण है:—

मिद्धत्तेदरणीय रारणावरणं चरित्मोहं च ।

तिविहा तमाहु मुक्तका तम्हा ते उत्तमा होति ॥५६५॥

ये चौकीस तीर्थकर उत्तम कहे गए हैं क्योंकि ये मिथ्यात्म वेदनीय, ज्ञानावरण तथा चरित्र मोहनीय इन तीन प्रकार के अंधकारों से मुक्त हैं। संस्कृत टीकाकार वसुनंदि सिद्धान्तचक्रतीर्ती ने लिखा है “त्रिविधं तमस्तस्मात् मुक्तावतस्तस्मात्ते उत्तमाः प्रकृष्टाः भवन्ति।” इसका भाव यह है कि अरहंत भगवान मिथ्यात्म अंधकार से रहित होते से सम्यक्त्व ज्योति से शोभायमान हैं। ज्ञानावरण के ब्रूर होने से केवलज्ञान समलैङ्कृत हैं। चारित्र मोह के अभाव में परमयथात्यात्म चारित्र संयुक्त हैं। मिथ्यात्म, अज्ञान तथा असंयम रूप अंधकार के होते हुए यह जीव परमार्थ हृषि से उत्तम (उत् अर्थात् रहित+तम् (अंधकार) अर्थात् अंधकार रहित नहीं कहा जा सकता है। लोक मैं श्रेष्ठ पदार्थी को उत्तम कहते हैं। तत्त्व हृषि से मुमुक्षु जीव अरहंत भगवान को उत् तम अर्थात् उत्तम मानता है।

प्रशस्त राग

मोहनीय कर्म पाप प्रकृति है। उसका भेद रागभाव भी पापरूप मानना होगा, किन्तु वह रागभाव अरहंत भगवान् के विषय में होता है, तो वह जीव को कुर्गतियों से बचाकर परम्परा से मोक्ष का कारण हो जाता है अतः मूलाचार में ‘अरहंतेसु व राओ... परस्तथराओ’—अरहंतों में किया गया राग प्रशस्त राग-अर्थात् शुभ राग कहा गया है। (देखो गाथा ७३, ७४ षडावश्यक अधिकार)

अम-निवारण

इन अरहंत को नमस्कार करने से जीव सम्मूर्ण दुःखों से छुट जाता है। कोई-कोई गृहस्थ अत्रती होते हुए भी वह सोचते हैं कि अरहंत का लगाए करने से मन में राग भाव उत्पन्न होते हैं। राग की उत्पत्ति द्वारा संसार का भ्रमण होता है; अतएव सच्चे आत्महित के हेतु हमें लमोकार मन्त्र में प्रतिपादित भक्ति से दूर रहना चाहिए। केवल आत्मदेव का ही शरण व्रहण करना चाहिये। इस प्रकार का कथन स्वयं पाप पंक से लिप्र गृहस्थ के मुम्ब में ऐसा दिखता है, जैसे मल द्वारा मलिन शरीर बाले व्यक्ति का मल-निवारक साबुन आदि पदार्थों के उपयोग का निषेध करता है। इसमें तनिक भी सन्देह नहीं है कि स्वच्छ शरीर पर शरीर शोधक द्रव्य का लेप अनावश्यक है। अनुचित भी है, किन्तु अस्वच्छ शरीर बाले के लिए उसका उपयोग आवश्यक है। शरीर पर मलिनता है और ज्ञान द्रव्य-रूपी सामग्री को लगाना और मलिनता को बढ़ाना ठीक नहीं है। ऐसा तर्क सारशून्य है क्योंकि यह प्रत्यक्ष अनुभव से बाधित है। साबुन के प्रयोग द्वारा यह स्पष्ट हो जाता है, कि वह स्वयं बाहरी पदार्थ होते हुए भी शरीर पर लगाए जाने पर मलिनता को दूर कर देता है, इसी प्रकार वीतराग की भक्ति रागात्मक होती हुई आत्मा की आर्तियान, रौद्रव्यान रूपी भीषण मलिनता को दूर करके क्रमशः सबी भक्ति के द्वारा जीव का कल्याण करती हुई भक्ति को भगवान् बना देती है।

इस सम्बन्ध में धर्मशार्माभ्युदय काल्य की यह उत्प्रेक्षा बड़ी मार्मिक है:—

है। उसकी अवस्था यद्यपि द्वादश वर्ष की है, फिर भी उसने लेखनकार्य में बहुत परिश्रमपूर्वक अपूर्व सहयोग दिया। लोडे भाई श्रेकेसर सुशीलकुमार एम० ए० एल-एल० बी० ने मुद्रण-ब्यवस्था, पृष्ठ देखना, महत्वपूर्ण चुकाव देना आदि कार्यों द्वारा उल्लेखनीय सहयोग दिया है। भाई श्रेयसकुमार बी० एस० सी० ने भी उचित सहायता दी है। इस प्रकार के सहयोग द्वारा यह रचना प्रकाश में आ सकी।

उदार हृदय श्री शिवलाल माणिकचन्द्र जी कोठारी, २, गोपाल-सदन, मारुती, बगड़ई ने इस पुस्तक के प्रचार (मुद्रा १०००) ८० प्रदान किए हैं। सौभान्यबती विदुषी बहिन चंचलाबाई शहा, गोरेगाँवकर बहीला घोड़बंदर रोड, पोस्ट अंधेरी, बम्बई ने भी पुस्तक के प्रचारार्थ ५००) ८० प्रदान किए हैं। उनके धुत-प्रेम के लिए अनेक धन्यवाद हैं।

दिवाकर-सदन
सिवनी (म. प्र.)
१ जुलाई १९६०

सुमेरकुमार दिवाकर

तीर्थीकर

निर्मीजिते यत्पद-पंकजानां रजोभिरुतः प्रतिविचितानि ।

जनाः स्वचेतो मुकुरे जगति पश्यति ताद्वैष्मि मुदे जिनेन्द्रान् ॥सर्व १॥

मैं उन जिनेन्द्र भगवान की आनन्द की प्राप्ति के देहु नस्तकरण करता हूँ जिनके पद-पंकज (चरणकमल) की रज (भक्तिरूपी रज) द्वारा अपने चित्त को निर्मीजित करने पर अंतःकरण रूपी इर्पण में तीनों लोकों को प्रतिविम्बित होते हुए जीव देखते हैं ।

जिन-भक्ति

बीतराय भगवान की भक्ति का यह अहुत चमत्कार है । वह इस काल में मुनियों का भी प्राप्त है । पाप-पंक में लिप्र गृहस्थों के हितार्थ अमृतौषध सदृश है । उस जिनेन्द्र भक्ति को दूषित समझले आला गृहस्थ अपने पैरों पर कुठाराघात करता है । अध्यात्मवाद के नाम पर वह गृहस्थ विषयान करता हुआ प्रतीत होता है । शिष्याङ्कर्ण का तुतलानेवाला बालक शस्त्राभ्यास का तिरस्कार चौतक शब्द उच्चारण करता हुआ जैसे उपद्वास का पात्र होता है, ऐसी ही स्थिति इस भक्ति विरोधी गृहस्थ की होती है । स्वाद्वाद के प्रकार में वह अध्यात्मवाद मिथ्याभाव की संतति सिद्ध होता है । अरहंत देव की भक्ति जीवन के लिये परम-रसायन है । आचार्य कहते हैं :—

अरहंतश्चमोक्षारं भवेण्य य जो क्रेदि पथदमदी ।

सो सर्वदुक्खमोक्षं पात्रदि अचिरेण कालेण ॥५०६॥ मूलाचार

जो पुरुष मावपूर्वक साध्यानी के साथ अरहंत भगवान को प्रणाम करता है, वह शीघ्र ही सर्वदुःखों से छूट जाता है ।

नव लिंगियाँ

गोमटसार में लिखा है—

केवलसारादिवायर-किरण-कलावप्पणसिय-एणाणो ।

णवकेवल-दद्मुगम-सुजणिय परमप्प-ववेसो ॥६३॥

वह केवलज्ञान रूपी दिवाकर अर्थात् सूर्य की किरण-कलाप के द्वारा अज्ञान का नाश करके तथा नव केवललिंगियों की विपत्ति होने पर यथार्थ में परमात्मा कहलाता है ।

नश्वलिंगियों के विश्व में आगम का कथन है कि दर्जनावरण कर्म के क्षय होने से केवली अध्यात्म को हार्यित होना लग लित लाभ होता है। दर्जनावरण के नाश होने से अवृत दशेन, दर्शन मोहनीय कर्म के अनाव होने पर ज्ञात्यक सम्यकत्व, चारित्र मोह के क्षय होने पर ज्ञात्यिक चारित्र, दानान्तराय के अभाव से ज्ञात्यिक दान, लाभान्तराव के नाश होने से ज्ञात्यिक लाभ, मागान्तराय के नष्ट होने से ज्ञात्यिक भोग, उपभोगान्तराय के क्षय होने से ज्ञात्यिक उपभोग तथा बीर्यान्तराय के क्षय होने पर ज्ञात्यिक बीर्य रूप लिंगियाँ उत्सुक होती हैं। ये नौ लिंगियों कर्मक्षय जल्य होने से ज्ञात्यिक भाव के नाम से कही जाती हैं।

भोग-उपभोग का रहस्य

भगवान ने दीक्षा वेते समय भोग तथा उपभोग की सामग्री का परित्याग किया था। केवलज्ञान की अवस्था में भोग तथा उपभोग का क्या रहस्य है! वे प्रमु परम आकिञ्चन्य भाव भूषित हैं। उनके ज्ञात्यिक दान का क्या अर्थ है? सब पदार्थों का संकल्पपूर्वक परित्याग करके परम यथार्थतचारित्र की अत्यन्त उज्ज्वल स्थिति प्राप्त केवली के 'लाभ' का क्या भाव है? जो पदार्थ एक बार सेवन में आता है, उसे भोग कहते हैं, जैसे पुण्यगाला, भोजन आदि। जो पदार्थ अनेक बार सेवन में आता है, उसे उपभोग कहते हैं, जैसे बस्त्र, भवनादि। भगवान परम बीतरागी होने से सम्पूर्ण परिप्रह के पाप से परिमुक्त हैं, ममता के पिता मोह कर्म का वे क्षय कर चुके हैं, फिर भी उनकी ओर विश्व की अचिन्त्य तथा अद्वृत विभूति का समुदाय आकर्षित होता है। उनका उन पदार्थों से कोई भी सम्बन्ध नहीं है।

इस बात का स्वरूप प्रमाण यह है कि वे रत्नजड़ित हेमपीठ से चार अंगुल ऊँचाई पर अंतरिक्ष में विराजमान रहते हैं, तथा आत्म-स्वरूप में निमग्न रहते हैं। विशाल समवशारण के मध्य रहते हुए भी वे उस समस्त सामग्री से उसी प्रकार दूर हैं, जैसे वे पहले मुनि बनने पर तपोवन में स्थित रहते हुए परिप्रह से पूर्णरूप में पृथक् थे।

समन्तभद्रस्वामी कहते हैं "प्रातिहार्य-विभवैः परिष्कृतौ देहतोपि विरतोभवनभूत्" — हे जिनेन्द्र! आप सिंहासन, भासंडल,

छत्रत्रयादि प्रातिहार्यों से विरो रहने पर भी न केवल उनसे विरक्त हैं, बल्कि अपने शरीर से भी विरक्त हैं। इस कथन के प्रकाश में जिनेन्द्र भगवान की महत्ता का उचित मूल्यांकन हो सकता है। जहाँ जगत् में सभी परिग्रह-पिशाच के अधीन हैं, वहाँ जिनेन्द्रदेव की उक्त स्थिति अलौकिक है।

अकलंक स्वामी की दृष्टि

अकलंक स्वामी ने राजवार्तिक में लिखा है “सम्पूर्ण भोग-न्तराय के तिरोभाव हो जाने से अतिशयों का आविभाव होता है। इससे भगवान के क्षायिक अनंतभोग कहा है। इसके फलस्वरूप पंचवर्ण सहित सुगन्धित पुष्पों की वर्षा, चरणों के निक्षेप के स्थान में अनेक प्रकार की सुगन्धयुक्त सप्त सप्त कमलों की पंक्ति, सुगन्धित धूप, सुखद शीतल पवन आदि की प्राप्ति होती है। उनके शब्द इस प्रकार हैं; “कृत्स्नस्य भोगान्तरायस्य तिरोभावादाविभूतोत्तिशयवाननंतो भोगः क्षायिको यत्कुताः पंचवर्णसुरभि-कुसुमवृष्टि-विविधदिव्यगंधचरण-निक्षेप-स्थानसप्तद्वापक्षितुगंधि-धूप-सुखशीतमारुताद्वा भावाः।”

क्षायिक उपभोग के विषय में आचार्य का कथन है, “परिपूर्ण-रूप से उपभोगान्तराय कर्म के नाश होने से उत्पन्न होने वाला अनंत उपभोग क्षायिक है। इसके कारण सिंहासन, बालव्यजन (पंखा) अशोक वृक्ष, छत्रत्रय, प्रभामंडल, गम्भीर तथा मधुर स्वर रूप परिणामन वाली देव दुन्दभि आदि पदार्थ होते हैं—“निरवशेषप्रस्योपभोगान्तराय-कर्मणः प्रलयादादुर्भूतोऽनंत उपभोगः क्षायिको यत्कुताः सिंहासन-बालव्यजनशोकपादृप—छत्रत्रय—प्रभामण्डल—गम्भीरस्त्वरपरिणाम-देवदुन्दभिप्रभूतयो भावाः” (पृ० ७२ राजवार्तिक)

भगवान के द्वारा दिए जाने वाले क्षायिक दान पर अकलंक-स्वामी इस प्रकार प्रकाश डालते हैं, “दानान्तराय कर्म के अत्यन्त क्षय होने से उत्पन्न होने वाला त्रिकालगोचर अनंत प्राणीगण का अनुग्रह करने वाला क्षायिक अभयदान होता है। “दानान्तरायस्य कर्मणोत्यंत-संक्षयादाविभूतं त्रिकालगोचरानंत-प्राणिगणासुग्रहकरं क्षायिकमभयदानं” पृ० ७२—जिनेन्द्रदेव के कारण अनंत जीवों को जो कल्याणदायी तथा अविनाशी सुख का कारण दान प्राप्त होता है, उसकी तुलना

संसार में नहीं की जा सकती है। अब्य दानों का सम्बन्ध शरीर तक ही सीमित है। यह वीतराग प्रभु का दान आत्मा को अनंत दुःखों से निकालकर अविनाशी उत्तम सुख में स्थापित करता है। यह समर्थ्य अलौकिक है। उक्त दानादि का सिद्धों में कैसे सद्गाव सिद्ध होता है? इस प्रश्न के उत्तर में अकलंक स्वामी कहते हैं, “शरीरनामकर्माद्याद्य-पेत्रस्वार्थोषां तदभावे तदप्रसङ्गः परमानंतराव्यावावरूपेणैव तेषां च तत्र वृत्तिः केवलज्ञानरूपेणानंतरीयवत्”—उक्त रूप से अभयदानादि के लिए शरीरनाम कर्म के उदय की अपेक्षा पड़ती है। सिद्ध भगवान के शरीर नाम कर्म के उदय का अभाव होने से उक्त प्रकार के अभय दानादि का प्रसङ्ग नहीं आयगा। जिस प्रकार केवलज्ञानरूप से उनमें अनंतवीर्य गुण माना जाता है अर्थात् अनंतवीर्य के साथ केवलज्ञान का अविनाभाव सम्बन्ध होने से केवलज्ञान होने से अनंतवीर्य का सद्गाव सिद्ध होता है, उसी प्रकार उक्त भावों का समावेश करना चाहिये।

अनंतशक्ति का हेतु

आत्मा में अनन्त शक्ति है, जो वीर्यतराय कर्म के क्रय से उत्पन्न होती है। यह शक्ति आत्मा की स्तुति नहीं है, किन्तु वास्तव में युक्ति द्वारा यह सिद्ध होती है; पं० आशाधर जी ने सामारधर्मसूत्र में लिखा है कि आत्मा अथवे स्वरूप में निमग्न होकर विभुवन विजेता काम को जीतती है, इसलिए आत्मा में अनन्त शक्ति का सद्गाव स्वीकार करना अतिशयोक्ति नहीं है, किन्तु वास्तविक सत्य है। कहा भी है:—

अनंतशक्तिरत्येति श्रुतिर्वस्त्रेय न स्तुतिः।

यत्स्वद्वद्ययुग्मत्त्वैव जगद्भैर्व जयेत् स्मरम् ॥७—२७॥ सामारधर्मसूत्र

कवि का भाव यह है कि संसार भर में काम का साम्राज्य फैला है। पशुवर्ग, मनुष्य समाज के सिवाय देवी, देवताओं पर भी काम का अनुशासन है। युरपूजा में ठीक ही कहा है:—

कनक, क्रमिनी, विषयक्ष सीसै सब संसार।

त्यारी वैरागी महा रायु सुगुम-भण्डर ॥

स्वानुभव में निमन्त्रण जिनेन्द्र भगवान् ने काम कथाय का मूलोच्छेद कर दिया है। अतः अनन्त जीवों को अपना दास बनाने वाले कामशत्रु का निवारण करने वाले जिनेन्द्र भगवान् में अनंतशक्ति का अस्तित्व स्वयमेव सिद्ध होता है। निर्विकार दिगम्बर मुद्रा द्वारा इदय की शुद्धता पूर्णतया प्रमाणित होती है।

गणधर के विना दिव्यध्वनि

योग्य सामग्री का सञ्जिवान प्राप्त होने पर कार्य होता है। चैत्र कृष्णा नवमी को वृषभनाथ भगवान् के वेलज्ञानी हो गए। इतने मात्र से दिव्यध्वनि की उद्भूति नहीं होगी, जब तक सहायक इतर सामग्री न मिल जाय। यहाँ गणधर कौन बनेगा? दिव्यध्वनि से धर्मतत्त्व जानकर सुमुच्छ गणधर बनेंगे। लोग धर्म को जानते नहीं हैं। महावीर भगवान् के समय जैसी कठिनता उपस्थित होती है। आगम में कहा है—वैशाख सुदी दशमी को महावीर भगवान् के केवलज्ञान ही जाने पर ६६ दिन पर्यन्त दिव्यध्वनि उत्पन्न नहीं हुई थी, यद्यपि अन्य सर्वसामग्री का समुदाय वहाँ विद्यमान था। अयघवला टीका में कहा है कि उस समय गणधरदेव रूप कारण का अभाव था 'गणिदाभावादो' (पृष्ठ ७८)। गणधरदेव की उपलक्ष्य होने पर आवण कृष्णा प्रतिपदा के प्रभात में वीर जिनेन्द्र की दिव्यध्वनि खिरी थी। इससे भी कठिन परिस्थिति उस काल में थी, जब भगवान् आदिनाथ ने तपश्चर्या द्वारा कैवल्य लक्ष्मी प्राप्त की थी। यदि लोग धर्मतत्त्व के ज्ञाता होते, तो मुनि अवस्था में भगवान् को छह माह पर्यन्त आहार प्राप्ति के हेतु क्यों किरना पड़ता? इस प्रकार की कठिन स्थिति मन में विविध शंकाओं की उत्पन्न करती है, किन्तु इसका समाधान सरल है।

महापुराणकार कहते हैं कि भरत महाराज को धर्माधिकारी पुरुष से यह समाचार प्राप्त हुआ कि आदिनाथ भगवान् को केवलज्ञान उत्पन्न हुआ है। उसी समय आयुधशाला के रक्त से ज्ञात हुआ कि आयुधशाला में चक्ररत्न उत्पन्न हुआ है तथा कंचुकी से ज्ञात हुआ कि पुत्र उत्पन्न हुआ है:—

धर्मस्थाद् गुरुकैकल्यं चक्रमयुधपालतः ।

गुरुः कैवल्यसंभूतिं सूति च सुतचक्रयोः ॥२४—२॥

भरतेश्वर ने पहले धर्म पुरुषार्थी की आराधना करना कल्याणदायी सोचा—‘कार्येषु प्रारिधिदेयं तदूम्यं श्रेयोनुवृंधि चतु’ (८)। इससे भरत महाराज सपरिवार पुरिसतालपुर जाने को उद्यत हुए। वहाँ पहुँचकर भरत महाराज ने सुबर्णमय बीस हजार सीढ़ियों पर चढ़ कर शीघ्र ही समवशरण में प्रवेश किया। उनने द्वारपाल देवों के द्वारा भीतर जाते हुए समवशरण के बैमव का अवलोकन कर परम आनन्द प्राप्त किया। श्रीमंडप की शोभा देखी। वह रत्नमय स्तम्भों पर अवस्थित था। उसका ऊपरी भाग स्फटिकमणि निर्मित था। बाह्यव में वह श्रीमंडप ही था।

पुरुषाली महाराज भरत ने रामासन से विराजमान उन अंतर्यामी आदिनाथ प्रभु की प्रदक्षिणा की। श्रेष्ठ सामग्री से उन देवाधिदेव की अत्यन्त भक्तिपूर्वक पूजा की और उनको प्रणाम किया। उनका मंगल स्तवन करते हुए भरतराज ने कहा :—

त्वं शम्भुः शम्भवः शंयुः शंवदः शंकरो हरः ।

हरिमोहसुरसिंच तमोरिभव्यभारद्वः ॥२४—३६॥

आप ही शंभु हैं, शंभव हैं, शंयु अर्थात् सुखी हैं, शंवद हैं अर्थात् सुख या शांति का उपदेश देने वाले हैं, शंकर हैं अर्थात् शांति के करने वाले हैं, हर हैं, भोहरुपी असुर के शत्रु हैं, अक्ष्यानरूप अंधकार के अरि हैं और भवय जीवों के लिए उत्तम यूर्य हैं।

भरतेश्वर जिनेन्द्र के मुण्डलवन के सिवाय नामकीर्तन को भी आत्म निर्मलता का कारण मानते हुए कहते हैं :—

तदशस्तांते गुणहस्तांत्रं नाममात्रं च कार्तितम् ।

पुनाति नस्तुतो देव त्वन्नामोद्देशतः क्रितः ॥२४—३८॥

हे देव, आपके गुणों का स्तोत्र करना तो दूर रहा, आपका लिया हुआ नाम ही हम लोगों को पवित्र कर देता है अतएव हम आपका नाम लेकर ही आपके शरण को प्राप्त होते हैं।

बृषभात्मज भरतेश्वर जगदपिता ब्रूपभजिनेश्वर की स्तुति के द्वपरान्त श्रीमंडप में जाकर सभा में आपने योग्य स्थान पर बैठे; परचम् विनयपूर्वक भरतराज ने जिनराज से प्रार्थना की :—

तीर्थैकर

भगवन् बोद्धु मिच्छ्रामि कीटशस्तत्वविस्तरः ।

मार्गे मार्गफलं चापि कीहम् तत्त्वविदायर ॥२४—७६॥

भगवन् ! तत्त्वों का स्पष्ट स्वरूप किस प्रकार है ? मार्ग तथा मार्गफल कैसा है ? हे तत्त्वज्ञों में श्रेष्ठ देव ! मैं आपसे यह सब सुनना चाहता हूँ । भास्यशाली भक्तशिरोमणि भरतराज के प्रश्न के उत्तर में भगवान ने समस्त सप्त तत्त्वों का, रत्नत्रय मार्ग तथा उसके फल-स्वरूप निर्वाण आदि का स्वरूप अपनी दिव्य चाणी के द्वारा निरूपण किया ।¹ सर्वज्ञ, वीतराग तथा हितोपदेशी जिनेन्द्र की बाणी की महिमा का कौन वर्णन कर सकता है ? सम्राट् भरत ने भगवान के श्रीमुख से मुनिदीक्षा लेते समय सांत्वना के शब्द सुने थे, उसके पश्चात् अब प्रभु की प्रिय, मधुर तथा शांतिदायिनी बाणी सुनने में आई । समवशरण में विद्यमान जीवों को अवर्णनीय आनन्द तथा प्रकाश की उपलब्धि हुई । चिर पिपासित चातक के मुख में मेघबिन्दु पड़कर जैसी प्रसन्नता उत्पन्न करती है, ऐसी ही प्रसन्नता, प्रभु की बाणी को सुनकर, समवशरण के जीवों को प्राप्त हुई थी । प्रभु की बाणी का सम्राट् पर कथा प्रभाव पड़ा इस पर महापुराणकार इस प्रकार प्रकाश डालते हैं :—

भरत चक्रवर्ती द्वारा ब्रतन्यहण

ततः सम्यक्तवशुद्धि च ब्रतशुद्धि च पुष्कलाम् ।

निष्कलात् भरतो भेजे परमानंदमुद्दृढन् ॥२४—१६३॥

‘तिलोत्तमपरम्’ति में कहा है कि गणधर देव, इन्द्र श्रथवा चक्रवर्ती के प्रश्नानुसार अर्थ के निलाणार्थ वह दिव्यध्वनि अन्य समवों में भी निकलती है । कहा भी है :—

सैसंसुं सम्-खु गणहर-देविर्द-चक्रव-बद्धीर्ण ।

गणहादुरुक्तमत्य दिव्यभुणी श्र सत्तभर्णीहि ॥८—६०४॥

इस नियम के अनुसार चक्रवर्ती के प्रश्न पर दिव्यध्वनि खिरने लगी कारण गणधर देव के अभाव की पांच चक्रवर्ती की उपस्थिति द्वारा सम्बन्ध हो रही ।

तीर्थैकर

भगवान की दिव्यदेशना को सुन्दर भरत ने परम आनंद को प्राप्त होते हुए सम्यक्त्व शुद्धि तथा ब्रतों के विषय में परम विशुद्धता प्राप्त की ।

भरतेश्वर ने मानसी शुद्धि भी प्राप्त की थी । जिनसेनस्वामी लिखते हैं :—

स लेभे गुरुमाराच्य सम्यदर्शन—माणकाण् ॥

ब्रत-शीलावलीं मुक्तोः कंठिकमिव निर्मलम् ॥२४—१६५॥

भरत महाराज ने भगवान की आराधना कर सम्यदर्शन युक्त मुख्य मणि सहित ब्रत और शीलों से समलंकृत निर्मल माला अपने कंठ में धारण की, जो गुक्ति-श्री के निर्मल कण्ठद्वार के समान लगती थी; अर्थात् भरत महाराज ने द्वादश ब्रतों द्वारा अपना जीवन अलंकृत किया था । इस कारण वे सुसंस्कृत मणि के समान दैदीप्यमान होते थे । भगवान की दिव्यवाणी सुनकर बारहवें कोठे मैं पशुओं-पक्षियों के मध्य मैं स्थित मयूरों को बड़ा हर्ष हुआ, क्योंकि उनको जिनेन्द्र की मधुर वाणी अस्यन्त प्रिय मेघ की ध्वनि सहश सुनाई पढ़ी थी । महाकवि कहते हैं :—

दिव्यध्यनिमनुश्रुत्य जहद—स्तनितोपमम् ।

अशोकनिर्दयपर्वतः सस्वनुर्दिव्यवहिणः ॥२४—१६६॥

मेघ की गर्जना सहश भगवान की दिव्यध्वनि को सुनकर अशोकवृक्ष की शाखाओं पर स्थित दिव्य-मयूर भी आनंद से शब्द करने लगे थे ।

वृषभसेन शण्ठधर

भगवान की दिव्य देशना से भरत महाराज के छोटे भाई पुरिमतालपुर के स्वामी महाराज वृषभसेन की आत्मा अस्यधिक प्रभावित हुई । वृषभ पिता की कल्याणभवी आज्ञा को ही मानो शिरोधार्य करते हुए इन वृषभपुत्र ने माँके साक्षात् मार्ग रूप महाब्रतों को अङ्गीकारकर मुनिपदवी प्राप्त की और सप्तऋद्धि से शोभायमान हो प्रथम गणधर की प्रतिष्ठा प्राप्त की । इनके विषय में महाधुराणकार के शब्द व्यान देने योग्य हैं :—

तीर्थकर

योऽसौ पुरिमतालेशो भरतस्यानुजः कृती ।

प्राह्णः शूरः शुचिर्धीरो धौरेयोमानशालिनाम् ॥१७१॥

श्रीमान् वृषभसेनाख्यः प्रज्ञापारमितो वशी ।

स सम्बूध्य गुरुः पाष्ठें दीक्षित्वाऽभूद् गण्डाधिपः ॥१७२—१७३॥

उसी समय कुरुवंश के शिरोमणि महाराज श्रेयांस, महाराज सोमश्रम तथा अन्य राजाओं ने भी सुनिदीक्षा धारणकर वृषभसेन स्वामी के समान गणनायकत्व प्राप्त किया ।

ब्राह्मी आर्यिका

जिस सर्व परिग्रह स्वागत्वत्ति को सिद्ध वृत्ति मान शुगाल स्वभाव बाले जीव ढरा करते हैं, उस पदवी को निर्भय ही धारण करने में लोगों का साहस बढ़ियगत ही रहा था । भरत महाराज की छोटी बहिन ब्राह्मी ने कुमारी अवस्था में ही वैराग्यभाव जागृत होने से आर्यिका (साध्या) को श्रेष्ठ पदवी प्राप्त की ।

भरतस्यानुजा ब्राह्मी दीक्षित्वा गुर्वंसुग्रहत् ।

गणिनोपदमार्याणां सा भेजे पूजितामरैः ॥२४—१७५॥

सुरुदेव के अनुग्रह से भरत महाराज की छोटी बहिन कुमारी ब्राह्मी ने दीक्षा लेकर आर्यिकों के मध्य गणिनी का पद प्राप्त किया था । आर्यिका ब्राह्मी की देवताओं ने पूजा की थी ।

बाहुरलिकुमार की सगी बहिन सुन्दरी ने भी बहिन ब्राह्मी के समान दीक्षा धारण कर मानुजाति को गौरवन्वित किया था ।

श्रुतकीर्ति श्रावकोत्तम

उस उमय श्रुतकीर्ति नामक गृहस्थ ने श्रावकों के उत्तमत भूल्य किए थे । उह देशब्रती श्रावकों में प्रमुख था । आदिपुराणकार कहते हैं :—

अ॒तकीर्ति॑म् ॥ प्राह्णो गृहीतोपातकतः ॥

देशब्रंश्यमिनाम॒ती ॥ गौरेचो गृहमेविभाग ॥१७६॥

तीर्थंकर

प्रियब्रता नाम की गुणवत्ती महिला ने आविकाशों के अत लेकर उच्च गौरव प्राप्त किया था। आचार्य रहते हैं :—

प्रियब्रता महिला रहने

उपत्ताणुक्रता धीरा प्रयत्नम् प्रियज्ञता ।

स्त्रीणां विशुद्धवृत्तीनां बभूत्येसरी सती ॥१७८॥

अणुब्रतों को धारण करनेवाली, धीर, सावधान रहनेवाली प्रियब्रता नाम की सती महिला विशुद्ध चरित्रवाली नारियों में अमेसरी हुई।

अनंतबीर्य का सर्वथ्रथम मोक्ष

भरत के भाई अनंतबीर्यकुमार ने भी भगवान से भुनिदीना लेकर अपूर्व विशुद्धता प्राप्त की। इस क्षुण्ड में केवल ज्ञान प्राप्त करके मोक्ष जाने वाले पूज्य पुरुषों में अनंतबीर्य भगवान का सर्वोपरि स्थान है। कहा भी है :—

संनुद्धोऽनंतबीर्यश्च गुरोः संप्रसरदीन्द्रणः ।

सुरैरवासपूज्यर्थिरस्यो भोक्ष्यताम्भूत ॥१४—१८॥

अनंतबीर्य ने प्रतिबोध को प्राप्त करने के पश्चात् भगवान से दीक्षा ली; देवों के द्वारा पूजा प्राप्त की। वे इस अवसर्पिणी में मोक्ष जाने वालों में अग्रणी हुए हैं।

मरीचि का मिथ्यात्म

भगवान के साथ दीक्षा लेने वाले तथा पश्चात् भ्रष्ट हुए समस्त राजाओं ने भगवान की बाणी को सुनकर अपने मिथ्यात्म का परित्याग कर जैनेश्वरी दीक्षा धारण की। मरीचिकुमार का संसार-भ्रमण समाप्त नहीं हुआ था, अतः उस जीव ने मिथ्यामार्ग का आश्रय नहीं छोड़ा। कहा भी है :—

मरीचिवर्ज्योः सर्वेषि तापसास्तपसि स्थितः ।

मद्वासकान्ते संवृद्ध महाग्राहान्यसास्थितः ॥१८२॥

तीर्थकर

जब जगत् में अन्धकार का अखण्ड साम्राज्य छा जाता है, तब नेत्रों की राक्ष कुळ कर्त्त्वे नहीं कर पाती है। अन्धकार, नेत्रयुक्त मानव को भी अन्ध सहशा बना देता है। इस पौदगलिक अन्धकार से गहरी अँधियारी मिथ्यात्व के उदय से प्राप्त होती है। उसके कारण वह ज्ञानवान् जीव अपने स्वरूप को नहीं जान पाता है। मोहनीय कर्म के आदेशानुसार यह मिथ्यात्वाद्वयक्ति आत्म-बुद्धि धारण करता है। जब इसे कोई सम्पुरुष समझते हैं कि तुम चैतन्यपुञ्ज ज्ञायक स्वभाव आत्मा हो। शरीर का तुमसे कोई सम्बन्ध नहीं है, तो यह अविवेकी उस वाणी को विष समान लम्फता है।

धर्म-सूर्य

सूर्योदय होते ही अन्धकार का क्षय होता है, उसी प्रकार तीर्थकर रूपी धर्म-सूर्य के उदय होते ही जगत् में प्रवर्धमान मिथ्यात्व का अन्धकार भी अंतकरण से दूर होकर प्राणी में निजस्वरूप का अवबोध होने लगता है।

किन्हीं की मान्यता है कि धर्म की ग्लानि होने पर धर्म की प्रतिष्ठा-स्थापन हेतु उद्ध अवस्था प्राप्त परमात्मा मानवादि पर्यायों में अवतार धारण करता है। जिस प्रकार बीज के दृग्ध होने पर वृक्ष उत्पन्न नहीं होता, उसी प्रकार राग-द्वेष, मोह आदि विकारों के बीज आत्म-समाधि रूप अभि से नष्ट होने पर परम पद को प्राप्त आत्मा का राग-द्वेष पूर्ण दुनियाँ में आकर विविध प्रकार की लीला दिखाना युक्ति, सद्विचार तथा गम्भीर चिन्तन के विरुद्ध है। सर्वदोष-मुक्त जीव द्वारा मोहभयी प्रदर्शन उचित नहीं कहा जायगा।

उदय-काल

इस स्थिति में आचार्य रविषेण एक मार्भिक तथा सुयुक्ति समर्थित बात कहते हैं कि जब जगत् में धर्म-ग्लानि बढ़ जाती है,

मरीचिकुमार को छोड़कर शेष सभी कुलिंगी साधुओं ने भट्टारक ऋषभदेव के समीप प्रतिबोध को प्राप्तकर महाब्रतों की दीक्षा प्रदण की।

जिनेन्द्र भगवान ने आत्म-विशुद्धि के लिए द्रव्य, तेव्र, काल तथा भावरूप सासमी चतुष्य की अनुकूलता को आवश्यक कहा है। शुष्पभनाथ भगवान के लोकोच्चर जीवन को देख तथा परम मङ्गलस्य उपदेश को सुनकर जहाँ अगणित जीवों ने अपना कल्याणसाधन किया, वहाँ दीर्घ संसारी मरीचिकुमार पर उसका रञ्जनात्र भी असर नहीं पड़ा। यथार्थ में काललिंग का भी महत्वपूर्ण स्थान है। उसके निकट आने पर मरीचिकुमार के जीव ने सिंह की पर्याय में धर्म को धारण करने का लोकोच्चर साहस किया था।

भरत का अपूर्व मार्य

भरत महाराज सदृश महान ज्ञानी के भाई, लौटी बहिन आम्ही आदि ने दीक्षा ली, किन्तु भरत महाराज अयोध्या को लौट गए और दिस्विजय आदि सांसारिक व्यग्रताओं में संलग्न हो गए, क्योंकि उनकी परियह परित्याग की पुण्य वेला समीप नहीं आई थी। जब काललिंग का योग मिला, तो दीक्षा लेकर भरत सम्राट् शीघ्र ही ज्ञान-साध्वाज्य के स्वासी बन गए। मुनिपदवी लेने के पश्चात् उन्हें फिर धारणा करने तक का प्रसङ्ग नहीं प्राप्त हुआ। उत्तरपुराण का यह कथन कितना अर्थपूर्ण है :—

आदितीर्थकुलो ज्येष्ठ-पुत्रो राजसु षाढश।

ज्यायांश्चक्ति मुदूर्तेन मुत्तोयं कैस्तुलां ब्रजेत् ॥७४—४६॥

आदिनाथ तीर्थकरके ज्येष्ठ पुत्र, सोलहवें मनु, प्रथम चक्रवर्ती भरत महाराज ने अंतर्सूहूर्त के अनन्तर ही कैवल्य प्राप्त किया था। उनकी वरावरी कौन कर सकता है?

उस समय धर्म तीर्थकर की मङ्गलसभी वाणी के प्रसाद से अगणित जीव अपने कल्याण में संलग्न हो गए। उसे देखकर यह प्रतीत होता था, कि भोगभूमि का यत्क्षसान होने के उपरान्त नवीन ही वर्मभूमि का उदय हुआ है। तीर्थकर भगवान का कलंकसुक्त उद्द्वल

जीवन देखकर भग्न जीव उनकी वाणी की वथार्थता को भली प्रकार समझते थे। समवशरण में आने वाले जीवों के हृदय में यह गहरा प्रभाव पड़ता था, कि रत्नब्रह्म धर्म के बल से जब इन परम पुरुषार्थी प्रभु ने मोह का नाशकर अद्वित विभूति आप की है, तब इनके प्रत्यक्ष अन्युदय को देखते हुए मैं आत्मविशुद्धि के मार्ग में क्यों न उद्योग करूँ? अतः सब उत्साहित हो स्वयसेव धर्म का शरण लेते थे।

प्रभु का प्रभाव

हरिवंशपुराण में कहा है कि भगवान के समवशरण में बीस हजार केवली थे। “विश्वतिस्ते सहस्राणि केवलज्ञानलोचनाः” (१२—७४ हरिवंशपुराण)। उनके गणधरों की संख्या ८४ थी। महाबीर भगवान के गणारह गणधर कहे गए हैं। चौबीस तीर्थकरों के गणधरों की संख्या चौदह सौ बाबन कही गई है। उनमें प्रथम स्थान वृषभसेन गणधर का माना गया है।

भगवान के उपदेश का उस समय के सरल चित्त उद्दिक्षियों के हृदय पर शीघ्र ही प्रभाव पड़ता था। पहले भगवान ने जो लोगों का उपकार किया था, उसके कारण सभी के चित्त में प्रभु के प्रति महान आदर तथा श्रद्धा का सावधा, उस पृष्ठमूर्नि को देखते हुए भगवान की द्रव्यदेशना के प्रभाव का कौन वर्णन कर सकता है? वृषभनाथ भगवान के द्वारा उस धर्मशूल्य युग में युनः धर्म को प्रतिष्ठा प्राप्त हुई।

द्वादशांग श्रुत की रचना

भगवान के उपदेश को सुनकर वृषभसेन गणधर ने द्वादशांग वाणी की रचना की। भावश्रुत तथा अर्थपदों के कर्ता तीर्थकर भगवान कहे गए हैं। “भावसुदस्स अत्थवदाणं च तित्थयरो कत्ता” (धर्मलाटीका भाग ८, पृष्ठ ६५) द्रव्यश्रुत के कर्ता गणधरदेव कहे गए हैं। महाबीर प्रभु की द्रव्यवृन्दि को लक्ष्य करके बीरसेनाचार्य ने लिखा है “द्रव्य-सुदस्स गोदमो कत्ता”—द्रव्यश्रुत के कर्ता गौतम गणधर थे। अष्टभद्रेव तीर्थकर के समय में द्रव्यश्रुत कर्ता वृषभसेन गणनायक थे।

द्वादशांग वर्णन

द्वादशांग रूप जिनवाणी में आचारांग को प्रथम स्थान प्रदान किया गया है। इस अंग में सुनियों के आचार का अठारह हजार पदों द्वारा प्रतिपादन किया गया है। सूत्रकृतांग में छत्तीस हजार पदों के द्वारा ज्ञान विनय, प्रश्नापत्ता, कल्प्य तथा श्रकल्प्य, द्वेषोपस्थापना और व्यवहार धर्म किया का कथन है। इसमें स्वभूत तथा पर सिद्धांत का भी निरूपण है। स्थानांग नाम के लौसरे अङ्ग में व्यालीस हजार पदों के द्वारा एक को आदि लेकर उत्तरोत्तर एक-एक अधिक स्थानों का प्रतिपादन है। उदाहरणार्थे एक जीव है। ज्ञान दर्शन के भेद से दो प्रकार है। ज्ञान, कर्म, कर्मकृत्यचेतना के रूप से तोम भेदयुक्त है। चारगति की अपेक्षा चतुर्भेद युक्त है इत्यादि। चौथा समवायांग एक लाख चौसठ हजार पदों के द्वारा पदार्थों के समवाय का वर्णन करता है। वह साहस्र सासान्ध से द्रव्य, जैव, काल और भाव की अपेक्षा जीवादि पदार्थों का ज्ञान करता है। व्याख्याप्रज्ञामें नाम के पंचम अङ्ग में दो लाख अट्ठाइस हजार पदों द्वारा क्या जीव है? क्या जीव नहीं है? इत्यादि रूप से साठ हजार प्रश्नों का व्याख्यान करता है। नाथधर्मकथा नाम का छठवाँ अङ्ग पाँच लाख छप्पन हजार पदों द्वारा सूत्रपौरुषी अर्थात् सिद्धान्तोत्तर विधि से स्वाध्याय की प्रस्थापना हो। इसलिए तीर्थकरों की धर्मदेशना का एवं अनेक प्रकार की कथाओं तथा उपकथाओं का वर्णन करता है। सातवें उपासकाध्ययन अङ्ग में ग्यारह लाख सत्तर हजार पदों के द्वारा श्रावकों के आचार का कथन है। अंतकृदशांग नाम के आठवें अङ्ग में तेहस लाख अट्ठाइस हजार पदों के द्वारा एक-एक तीर्थकर के तीर्थ में नाना प्रकार के भीषण उपसर्गों को सहनकर निर्धारण प्राप्त करनेवाले दस-दस अंतकृत् केवलियों का वर्णन किया गया है। नवमें अनुत्तर-औपपादिक दशाङ्ग में बास्त्रवे लाख चबालीस हजार पदों द्वारा एक एक तीर्थकर के तीर्थ में उपसर्गों को सहनकर दौचि अनुत्तर विमानों में उत्पन्न होने वाले दश-दश महापुरुषों का वर्णन किया गया है। वर्धमान भगवान के तीर्थ में ऋषिदास, शूल्य, मुनक्षत्र, कालिकेश, आनन्द, नंदन, शालिभद्र, अभय, वारिष्ठेण और चिलातपुत्र ये दश महापुरुष हुए हैं, जिनने विजय, वैजयंत, जयंत, अपराजित तथा सर्वीर्षसुदि में जन्मधारण किया।

है। प्रश्नवाकरण नाम के दृश्यमान संस्कृत में लेरान्वके लाख, सोलह हजार पदों के द्वारा आवेदिती, विशेषिती, संवेदिती तथा निर्वेदिती इन चार कथाओं का तथा लाभ, अलाभ, जीवित, मरण आदि सभ्यत्वी प्रस्तुतों का कथन किया गया है। उन्हों का निरूपण करनेवाली आवेदिती कथा है, एकान्त दृष्टि का शोधन करनेवाली तथा स्वसमय की स्थापना करनेवाली विशेषिती कथा है। विस्तार से धर्म के फल का कथन करनेवाली संवेदिती कथा है। वैराग्य उत्पन्न करनेवाली निर्वेदिती कथा है। विपाकसूत्र नामका एकादशरत्न अङ्ग एक करोड़ चौरासी लाख पदों के द्वारा पुण्य और पाप रूप कर्मों के फलों का प्रतिपादन करता है। बारहवाँ अङ्ग हृषिवाद है; उसमे तीन सौ त्रिसठ मिथ्या मर्तों का वर्णन तथा निराकरण किया गया है।

दृष्टिवाद का अंग

दृष्टिवाद के पाँच भेद हैं—परिकर्म, सूत्र, प्रथमानुयोग, पूर्वगत और चूलिका। चन्द्रप्रज्ञति, सूर्यप्रज्ञति, जंशूदीप्रज्ञति, द्वीपसागरप्रज्ञति और व्याख्याप्रज्ञति ये परिकर्म के पाँच भेद हैं। दृष्टिवाद के द्वितीय भेद 'सूत्र' में अट्टाइस लाख पदों के द्वारा क्रियावादी, अक्रियावादी, अज्ञानवादी और विनशबादियों के मर्तों का वर्णन है। इसमे 'वैराशिकवाद,'^१ निवतिवाद,^२ विज्ञानवाद, शब्दवाद, प्रधानवाद, द्रव्यवाद और पुरुषवाद^३ का भी वर्णन है।

प्रथमानुयोग

दृष्टिवाद का तृतीयभेद प्रथमानुयोग है। उसमे पाँचहजार

^१ "गोशालप्रवर्त्तता आज्ञायितः प्रस्तरिष्ठनत्पैरादिका उच्यते । ते सर्वे वस्तु व्याप्तकर्त्तव्यस्ति तथात्, जीवेऽर्जुनो वीक्षावादी, लोका अलोक लोकमलोकाश्च सदृक्षलदसत् । नद्यचिन्तयासति चिदित्यं नर्यमन्द्रति । नद्यथा द्रव्यास्तिकं, गर्याचारिकं, उभयातिकंच" (नदिरत्न पृष्ठ २३६)

^२ जन्मु जदा जेण जहा जसत य लियसेण हेदि तन्मु हदा ।
तेण तहा तस्तु इवे हृषिवादो हृषिविवादो हु ॥ गो० कर्मकांड पृष्ठ २ ॥

^३ आलसद्वा हिष्ठन्दुहो दलं किंच य भूङ्दै ।
अश्यकर्णादिवाय वा पडसेण विष्णु य हि ॥ गो० कर्मकांड पृष्ठ ० ॥

पदों के द्वारा बारह प्रकार के पुराणों का उपदेश दिया गया है। उन पुराणों में जिनवंश और राजवंशों का वर्णन किया गया है। सीथिकर, चक्रवर्ती, विद्याधर, सारायण, प्रतिनारायण, चारणमुनि, प्रज्ञा-श्रमण, कुरुवंश, हरिवंश, इदवाकुवंश, कारचपवंशवादियों का वंश तथा नाथवंशों का उन पुराणों में वर्णन है।

दृष्टिवाद का पूर्वगत नामका चतुर्थभैद पंचानवे करोड़ पञ्चास लाख और पाँच पदों द्वारा उत्पाद, व्यय और औन्ध्यादि का वर्णन करता है—“उपाद-वय-धुक्तादीण वरणणं कुण्ड” (धबलाटीका भाग १, पृ० ११३) ।

चूलिका में अपूर्व कथन

चूलिका दृष्टिवाद का पंचमभैद है। वह जलगता, स्थलगता, मायागता, रूपगता तथा आकाशगता रूप से पंच प्रकार कही गई है। जलगता चूलिका जल-गमन और जल-स्तंभन के कारणरूप मंत्र, तंत्र और तपश्चरणरूप अतिशय आदि का वर्णन करती है, (जलगमण-जलत्वभण - कारण - मंत्र - तंत्र - तबच्छरणाणि वरणेदि) । स्थलगता-चूलिका पृथ्वी के भीतर गमन करने के कारणरूप मंत्र, तंत्र और तपश्चरणरूप आश्चर्य आदि का तथा वास्तुविद्या और भूमि सम्बन्धी दूसरे गुभ-अशुभ कारणों का वर्णन करती है। (भूमि-गमण-कारण-मंत्र-तंत्र-तबच्छरणाणि, वत्युविज्ञ, भूमिसंवंधमणणं पि सुद्धासुहकारणं वरणेदि) । मायागता चूलिका में इन्द्रजाल आदि के कारणभूत मंत्र, तंत्र और तपश्चरण का वर्णन है। (इंद्रजालं वरणेदि) । रूपगता चूलिका में सिंह, धोड़ा और हरिण आदि के स्वरूप के आकाररूप से परिणमन करने के कारणरूप मंत्र, तंत्र और तपश्चरण का, तथा चित्रकर्म, काष्ठकर्म, लेप्यकर्म और लेनकर्म आदि के लक्षण का वर्णन है (सींह - हय - हरिणादि - रुवायारेण परिणमण - हेदु - मंत्र - तंत्र - तबच्छरणाणि चित्त - कटु - लेप्य - लेणकर्मादि - लक्षणं च वरणेदि पृ० ११३, धबलाटीका भाग १) । आकाशगता चूलिका द्वारा आकाश में गमन करने के कारण रूप मंत्र, तंत्र और तपश्चरण का वर्णन हुआ है। (आवासगता ..आवासगमण - गिरिमित्त - मंत्र - तंत्र - तबच्छरणाणि वरणेदि) इन पाँचों ही चूलिकाओं के पदों का जोड़ दश करोड़, उनचास लाख छियालीस हजार है।

महत्वपूर्ण विचार

इस वर्णन को पढ़ते समय मुझे के मन में यह प्रश्न सहज उत्पन्न हो सकता है कि द्वादशाङ्ग वाणी में जलगमनादि के साधन मन्त्रन्त्रादि का वर्णन क्यों किया गया ? विचार करने पर इसका समाधान यह होगा, कि आचार्यों ने संक्षेपमति शिष्यों के लिए अल्प शब्दों में तत्त्व कहा है। द्वादशांग वाणी का सार आचार्य पूज्यपाद-स्वामी ने इन शब्दों में कहा है :—

‘जीवेऽन्यः पुद्गलश्चान्य इत्यस्मै दृढ़रंग्रहः’

‘जीव अन्य है तथा पुद्गल अन्य है’ यह तत्त्व का सार है। विस्तार लेवाले महाज्ञानपिपासु तथा प्रतिभासम्पन्न शिष्यों के प्रतिबोध निमित्त विस्तृत स्पष्ट में वस्तु के स्वरूप का कथन किया गया है। भगवान् वीतराग सर्वेषां हैं। उनकी दिग्यव्याप्ति के द्वारा विश्व के समस्त पदार्थों के स्वरूप पर प्रकाश पड़ता है, जैसे सूर्य के प्रकाश में समस्त पदार्थ दृष्टिगोचर हो जाते हैं। इस ग्रन्थ से यह बात भी स्पष्ट हो जाती है कि आज जो भौतिक विज्ञान का विकास हो रहा है, इससे कई गुना अधिक ज्ञान महाबीर भगवान् के निर्वाण-समय के १६२ वर्ष पश्चात् तक रहा था। द्वादशांग के ज्ञाता अंतिम श्रुतकेवली भद्रबाहुस्वामी हुए हैं। उनके शिष्य सम्राट् चन्द्रगुप्त थे, जिनने दिग्म्बर मुद्रा स्वीकार की थी। उनकी पावन स्मृति में मैसूर राज्य के अंतर्गत अमण्डवेलगोला स्थल में चन्द्रसिंह पर्वत शोभायमान हो रहा है।

पूर्व युग का विज्ञान

एक बात और ज्ञान देने की है, कि जो मुनि सर्वावधि-ज्ञान के धारक होते हैं, वे परमाणु तक का प्रत्यक्ष दर्शन कर सकते हैं। आज का भौतिकशास्त्र जिसे अणु कहता है, वह जैनशास्त्रानुसार अनन्त परमाणु पुञ्च स्वरूप है। परमाणु तो इन्द्रियों के अगोचर रहता है। परमाणु का प्रत्यक्ष दर्शन करनेवाले दिग्म्बर जैन महाविद्यों को जगत् में अज्ञात अनन्त चमत्कारों का ज्ञान रहता है। वीतराग आत्मदर्शी मुख्य महाविद्यों रहने से उनके द्वारा उस विज्ञान का प्रायः उपयोग नहीं किया जाता था। आगम के प्रकाश से ज्ञात होता है कि चन्द्रगुप्त

पदार्थों के द्वारा रक्त आदि पर प्रभाव पड़ता है इस प्रकार का परिवर्तन वे मुनोन्द्र शब्दों के द्वारा उत्पन्न होने हुए देखने थे।

उदाहरण के लिए सर्वदृश जनित विष प्रसार को रोकने के हेतु चिकित्सक औषधियों का प्रयोग करता है। शब्दों की सामर्थ्य को प्रत्यक्ष जानने वाले इन ऐन अर्टिशों ने ऐसे रावदात्मक गृह मंत्रों की संख्याज्ञान की, जिससे अल्पन्त अल्पकाल में विष उत्तर जाता है। आज के लोग प्रायः इम् विशा के अधारित्यवश इस विज्ञान को ही अयथार्थी कहने का अतिसाहस करते हैं। यह समझना कि हमारे सिवाय अन्य सब अज्ञानी हैं, सत्पुरुषों के लिए योग्य नहीं है।

अशोमन कार्य

गणधरदेव, द्वादशांगपाठी, श्रुतकेवली आदि श्रेष्ठ यतीन्द्र मंत्र, तंत्र विद्या के महान ज्ञाता रहे हैं इसलिए किन्हीं साधुओं को अथवा अन्य समर्थ कास्माओं को मंत्रशास्त्र का अभ्यास करते देख जो उनकी निन्दा तथा अचर्णवादका कोई कोई लोग पश्च परुड़ा करते हैं यह अप्रशस्त, अशोमन एवं अभद्रकार्य है। यदि वह विद्या एकान्त रूप से अकल्याणकारी होती तो सर्वज्ञ भगवान की द्विव्यवहनि में उसका अर्थी रूप से प्रतिपादन न होता और न उस पर परम बीतराग गणधरदेव सदृश साधुराज ग्रंथरूप में रचना करने का कष्ट करते अतः अज्ञानमूलक आक्षेप करने की प्रवृत्ति में परिवर्तन आवश्यक है।

शरीरशास्त्र का प्रतिपादन

द्वादशमपूर्व प्राणाचाय में अष्टाङ्ग आयुर्वेद, भूतिकर्म अर्थात् शरीर आदि की रक्ता के लिए गण भस्मलोपन सूत्रवंधनादि कर्म, जांगुलिप्रक्रम (विषविद्या) और प्राणायाम के भेद-प्रभेदों का विस्तार से वर्णन किया गया है।

भगवान ने गृहस्थावस्था में भरत बाहुबलि आदि पुत्रों को उनकी नैसर्गिक रूचि, पात्रता आदि को "ध्यान में रखकर भिन्न-भिन्न विषय के शास्त्रों की स्वर्च शिक्षा दी थी, उससे प्रभु का ज्ञान के विषय में दृष्टिकोण स्पष्ट होता था। अब सर्वज्ञ ऋषभनाथ तीर्थकर की द्विव्यवहनि में प्रतिपादित ज्ञानराशि का अनुसान उसके रहस्य के

तीर्थैकर

आपके द्वादशांग शास्त्र, जिसे जैन वेद भी कहते हैं, के द्वारा हो जाता है। महापुराण में कहा है “अनु युविहितं वेदां द्वादशांगमकलमपम् (पर्व १०—२२)।

ग्रन्थों की अनुपलब्धि का कारण

कभी-कभी मन में यह आशेका उत्पन्न होती है, कि इतनी विशाल जैनों की अंथराशि पद्धते थी, तो अब वह क्यों नहीं उपलब्ध होती है? इतिहास के परिशीलन से पता चलता है, कि जैन-संस्कृति के विरोधी बर्ग ने जिस क्रूरता से ग्रन्थों का ध्वंस किया, उसका उदाहरण न मिलेगा।^१ उस जैन-यम-विरोधी मनोवृत्ति के कारण जहाज भर-भर के जैन-ग्रन्थ नष्ट कर दिए गए। प्राक्षेत्र आर ताताचार्य ने लिखा था, कि हजारों ताडपत्र के ग्रन्थ तुङ्गभद्रा तथा कावेरी नदी में छुवा दिए थे।^२ अत्याचार, प्रमाद तथा अज्ञान के कारण लोकीतर महान साहित्य नष्ट हो चुका। जो शेष बचा है, वह भी अनुपम है। उसके भीतर भी वही सर्वज्ञावाणी का मधितर्थ भरा है, जिसके परिशीलन से आत्मा आनन्द और आलोक प्राप्त करती है।

दिव्यव्यनि

भगवान की दिव्यव्यनि से अमृतरस का पान कर इन्द्र ने प्रभु की स्तुति की और कहा :—

तत्र वाग्मृतं पीत्वा वयमवामराः स्फुटम् ।

पीत्यूक्तिमिदमिष्टं नो देव सक्वैरजाहस् ॥२०—२६॥

हे देव! आपके बचनरूपी अमृत को पीकर आज हम लोग वास्तव में अमर हो गए हैं, इसलिए सब रोगों को हरनेवाला आपका यह वचन रूप अमृत हम लोगों को बहुत ही इष्ट है।

1. Out lines of Jainism by Justice J. L. Jaini page XXXVIII.

2. Several thousands of palmyra manuscripts have been thrown into the Kaveri or Tungabhadra. [English Jain Gazette page 173, XVI]

सौधमेन्द्र द्वारा मार्मिक स्तुति

सौधमेन्द्र ने भगवान की अत्यन्त मार्मिक स्तुति की। धर्म-सांशोधन के स्वामी जगत्पिता जिनेन्द्र के विहार के योग्य समय को विचार कर विवेकमूर्ति सुरेन्द्र ने प्रभु के समक्ष उनके विहारार्थी इस प्रकार विनयपूर्ण निवेदन किया :—

भगवन् भव्य-सस्वानां पापाद्यग्रहणोषिणम् ।

धर्ममृत-प्रसेकेन त्वमेऽथ शरणं विभो ॥२५—२६॥

हे भगवन् ! भव्य जीवरूपी धान्य पापरूपी अनादृष्टि अर्थात् वर्णभाव से सूख रहे हैं। उन्हें धर्मरूपी अमृत से सौचकर आपही शरणरूप होइये ।

भृषसार्थीविष-प्रोद्यद्दयाद्वज्ञिताजित ।

धर्मचक्रमिदं सज्जं त्वदज्योत्त्वंगत्वावनम् ॥२७॥

हे भव्यबृन्द नायक जिनेन्द्र ! हे दयाव्वज समर्पकुत देव ! आपकी विजय के उद्योग को सिद्ध करनेवाला यह धर्मचक्र तैयार है ।

निर्घृतं मोहपृतनां मुक्तिमार्गोपरोषिणीम् ।

त्वोपदेश्यं सन्मार्ग-कालोयं समुपस्थितः ॥२८॥

हे स्वामिन् ! मोहमार्ग को रोकने वाली मोह सेना का विनाश करने के पश्चात् अब आपका यह समीचीन मोहमार्ग के उपदेश देने का समय उपस्थित हुआ है ।

सुरेन्द्र द्वारा प्रभु के धर्मविहार हेतु प्रस्तुत किए गए प्रस्ताव में यह महत्वपूर्ण बात कही गई है कि भगवान ने मोह की सेना का ध्वंस कर दिया है, अतएव वीतमोह जिनेन्द्र वीतरागता की प्रभावपूर्ण देशना करने में सर्वरूप से समर्थ हैं ।

विहार प्रारम्भ

इन्द्र की ग्रार्थेना के पश्चात् भगवान ने भव्यरूपी कमलों के कल्पाणार्थी विहार प्रारम्भ किया। महापुराणकार कहते हैं :—

तीर्थकर

त्रिजगद्यथलमः श्रीमान् ममवाज्ञादिपुरुषः ।
प्रचक्षे विजयोद्योगं धर्मचक्राधिनायकः ॥२४४॥

त्रिलोकीनाथ, धर्मचक्र के स्वामी, समवशरण लक्ष्मी से शोभायमान आदि पुरुष वृषभनाथ तीर्थकर ने अधर्म पर विजय का बचोग प्रारम्भ किया ।

विहार का परिणाम

भगवान के विहार के समय पुरुष सारथि के द्वारा प्रेरित अगणित देवों का समुदाय सर्व प्रकार की शेष व्यवस्था निर्मित तत्पर था । तीर्थकर प्रकृति का बंध करते समय होनहार तीर्थकर को यह विशुद्ध मनोकामना थी, कि मैं समस्त गगड़ के जीवों मैं सच्चे धर्म की ज्योति जगाऊँ और मिथ्यात्वरूप अंधकार का क्षय करूँ, अतएव तीर्थकर प्रकृति की परिपक्व अवस्था मैं जीवों के पुरुष से आकर्षित हो उन दयात्मजवारी जिनेन्द्र ने नाना देशों को विहार द्वारा पवित्र किया । धर्मशर्माभ्युदय में कहा है :—

अथ पुरयैः सभाकृष्टो भव्यानां निःस्पृहः प्रभुः ।

देशे देशे तमरब्लेत्तु व्यवहारानुमन्त्रिव ॥२१—१६७॥

भव्यात्माओं के पुरुष से आकर्षित किए गए उन निःस्पृह प्रभु ने सूर्य के समान नाना देशों मैं अंधकार का क्षय करने के लिए विहार किया ।

भगवान के विहार द्वारा जीवों के त्रिविध सन्ताप अर्थात् आत्मात्मिक, अधिभौतिक एवं अविदैविक सन्ताप दूर हो जाते थे । धर्मशर्माभ्युदय में लिखा है :—

यत्रातिशयसप्तको विजहार जिनेन्द्रवरः ।

तत्र रोग-ग्रहातंक-शोकशंकापि दुर्लभा ॥१७३॥

चौतीस अतिशयधारी जिनेन्द्रदेव का जहाँ-जहाँ विहार होता था, वहाँ-वहाँ रोग, अशुभ मह, आतंक तथा शोक की शंका भी दुर्लभ थी अर्थात् उनका अभाव हो जाता था । परमागम में इस संसार को एक समुद्र कहा है, जो स्व-कृत-कर्मानुभावोत्थ है अर्थात् जीवों के

सत्यरूपों को कष्ट डाना पड़ता है, तथा पापनुद्धि बालों के पास विभूति का उदय होता है, तब तीर्थकर सभा महान् आत्मा उत्पन्न होकर सच्चे आत्म-धर्म की प्रविष्टि दण्डकर जीवों को पाप से बिन्दुमुख बनाते हैं। उनने पद्मपुराण में लिखा है—

आचारणां विवातेन कुदृष्टीना च संपदा ।

धर्मखलानि परिप्राप्त मुच्छयन्तं जिनोत्तमः ॥५—२०६॥

जब उत्तम आचार का विवात होता है, मिथ्याधर्मियों के समीप श्री की बुद्ध होती है, सत्य धर्म के प्रति बूजा निरादर का भाव उत्पन्न होने लगता है, तब तीर्थकर उत्पन्न होते हैं और सत्य धर्म का उद्घार करते हैं।

तीर्थ का स्वरूप

इस तीर्थकर शब्द के स्वरूप पर विचार करना उचित है। आचार्य प्रभाचन्द्र ने लिखा है, “तीर्थसागरः लदात्मरसंधश” अर्थात् जिनेन्द्र कथित अगम तथा व्याप्ति का अवधार साधुवर्ग तीर्थ है। तीर्थ शब्द का अर्थ ‘घाट’ भी होता है। अतएव तीर्थ करोतीति तीर्थकरः का भाव यह होगा, कि जिनकी वासी के द्वारा संसार सिधु से जीव त्तिर जाते हैं वे तीर्थ के कहाँ तीर्थकर कहे जाते हैं। सरोवर में घाट यसे रहते हैं, उस घाट से भद्रमुख सरोवर के बाहर सरलतापूर्वक आ जाता है; इसी ब्रह्म, तीर्थकर भगवान् के द्वारा प्रदर्शित पथ का अथलम्बन लेने वाला जीव संसार-सिद्धु में न छूब कर चिन्तामुक्त हो आता है।

तीर्थ के भेद

मूलाचार में तीर्थों के दो भेद कहे जाते हैं—एक द्रव्य तीर्थ, दूसरा भाव तीर्थ। इन्हीं तीर्थों के विषय में इस प्रकार स्पष्टीकरण किया गया है—

दाहोपस्मर्ण-तरणहा-छेदो-मलपंकजयहरणं चेत् ।

तिहिं करणेहिं जत्तो तमहा तं देवदो हित्य ॥५.५.६॥

द्रव्य तीर्थ में वे हीन गुण पाय जाते हैं। प्रथम वे सत्ताय शान्त होता है, द्वितीय वृण्णा का विभास होता है तथा तीसरे मल-पंक

तीर्थकर

द्वारा स्वर्य किए गए कर्मों के माहात्म्य से उत्पन्न हुआ है, अत्यन्त दुस्तर है, ब्रह्मनहृपी भैरवों से भरा हुआ है। दोषरूपी जल-जन्तुओं से व्याप्त है, अपार है, अत्यन्त गहरा होने से उसकी थाह का पता नहीं है। वह शरियहवारी जीवों के द्वारा कभी भी नहीं तिरा जा सकता है—“अलार्य प्रथिकात्मभिः” । उस अलौकिक महासागर के पार जाने के लिए सम्यक्ज्ञानहृपी नौका आवश्यक है—‘सज्जान-नावा संतार्य’। भगवान के द्वारा आत्मज्ञान की जागृति होती थी। इससे अगणित प्राणी सम्यक्ज्ञान हृपी नौका को प्राप्त कर लेते थे।

ये तीर्थकर परमगुरु ज्ञानामृत द्वारा सन्ताप दूर करनेवाले चन्द्र सदृश थे। भव्य जीव रूपी रुषित गृध्री के लिए दया रूपी जल से परिपूर्ण जलधर समान थे। अम तथा मिश्यात्म रूपी अनादि-कालीन अन्धकार का नाश करनेवाले सूर्य तुल्य प्रतीत होते थे।

समवशरण विस्तार

संसार सिन्धु में दूबते हुए जीवों की रक्षा करता हुआ वह^३ समवशरण अनुपम तथा अलौकिक जहाज समान दिखलता था।

^३ कृष्णभनाथ तीर्थकर वा समवशरण द्वादश थोजन विस्तारयुक्त था। शेष तीर्थकरों का समवशरण क्रमशः आदा-आधा थोजन कम निस्तार वाला था। वेर भगवान का एक थोजन विस्तारयुक्त समवशरण था। निवांशभक्ति में पाद्यनाथ भगवान का समवशरण तत्त्व थोजन विस्तारयुक्त कहा गया है :—

समवशरणगार्वं योजनं द्वादशादिं ।

जिन्दगी-थह-थावयोजनार्द्धहानिः ॥

कथयनि जिनदाश्वै योजनैकं सप्तदम् ।

जिनादित-जिनवीरं थोजनैकं प्रमाणन् ॥२८॥

लिलोदयशण्ठि में कहा है कि यह कथन अवसर्पिणीकाल की अपेक्षा है। उत्तर्पिणी काल में हीनक्रम के स्थान में विपरीत क्रम होता है। उसमें अंगिम तीर्थकर का समवशरण द्वादश थोजन प्रमाण होता।

विहार के स्थान

भगवान ने सम्पूर्ण भूत्यों को मोहमाने में लगाने की हस्ति से धर्मतीर्थ प्रवर्तन हेतु सर्वदेशों में विहार किया था। तीर्थकरों का विहार धर्मक्षेत्रों में कहा गया है। हरिवंशपुराण ने लिखा है :—

मध्यदेशे जिनेष्ठेन धर्मतीर्थे प्रवर्तते ।

सर्वेष्वपि च देशेषु तीर्थमोहो न्यवर्तत् ॥३३. सर्ग—१॥

मध्यप्रदेश में धर्मतीर्थ की प्रवृत्ति के उपरांत उन बीर भगवान ने सम्पूर्ण देशों में विहार करके धर्म के विषय में अज्ञान भाव का निवारण किया था।

भगवान ने भारतवर्ष में ही विहार नहीं किया था, किन्तु भारत के बाहर भी थे गए थे। उनका विहार धर्म क्षेत्र में हुआ था। आर्यखण्ड में यूरोप, अमेरिका, चीन, आपान आदि देशों का समावेश होता है। भगवान का समवशरण पाँच सील, पाँच फलांग तथा साँ गज ऊँचाई पर रहता था। ऐसी स्थिति में यह आशंका, कि मौक्के सदृश आचरण करने वाले नामतः आर्यों की भूमि में भगवान कैसे रहते होंगे, सहज ही शान्त हो जाते हैं। भगवान को भूतल पर उत्तरने की आवश्यकता ही नहीं पड़ती थी। पृथ्वी चाहती थी कि देवाधिदेव के चरणरप्ती द्वारा मैं कृतार्थ हो जाऊँ, किन्तु वे भगवान भूतल का स्पर्श तक नहीं करते थे। इसके सिवाय एक बात और ध्यान देने की है, कि जिनेन्द्रदेव की सेवा में संलग्न इन्द्र तथा उनके परिकर असंख्य देवों के निमित्त से सर्वेषकार की सुव्यवस्था हो जाती थी। तीर्थकर प्रकृति का पुण्य सामान्य नहीं होता। उसके समान अन्य पुण्य नहीं कहा गया है।

विदेशों में बीतरागता तथा अहिंसा तत्त्वज्ञान से संबंधित सामग्री का सद्ग्राव यह सूचित करता है, कि उस प्रदेश में पवित्रता का बीज बोने के लिए अवश्य धर्म तीर्थकर का विहार हुआ होगा। महापुराणकार ने कहा है :—

अगत्प्रित्यनाथोपि धर्मक्षेत्रेवनस्तम् ।

उत्ता सद्गमदीजनि न्यषिंचद्धर्मवृष्टिभिः ॥४७—३२१॥

त्रिलोकीनाथ ने धर्मज्ञेयों में सद्गुरुपी श्रीज बोने के साथ ही साथ धर्मवृष्टि के द्वारा उसको सीखा भी था।

आत्म-तत्त्व की लोकी चरता

अनादिकाल से जीव वैध मरण की कथा, शिवा, चर्या में प्रवीणता दिखाता रहा है। काम, भोग सम्बन्धी वार्ता से जगत् का निकटंतम परिचय रहा है। अविभक्त आत्मा की बात उसे कठिन प्रतीत होती है। समयसार में कहा है :—

सुदर्शनचिदाम्बूभूदा खब्दसु वि कामभैश्वर्यधकहा ।

एवत्सुवलंभे गुवरि ए सुलहोऽविहस्त ॥४॥

सब लोगों को काम तथा भोग विषयक वैध की कथा उनमें में आई है, परिचय में आई है और अनुभव में भी आई है; इसलिए वह सुलभ है किन्तु रायादि रहित आत्मा के एकत्र की बात न कभी सुनी, न परिचय में आई और न अनुभव में आई; अतएव यह सुलभ नहीं है।

अनादि अविद्या के कारण अपनी आत्मा सम्बन्धी वार्ता पराई सी दिखती है और अनात्म परिणति एवं जगत् के जंजाल में फँसाने वाली बात मधुर लगती है। रोगी की अपेक्षा आहार अच्छा लगता है। चही दशा मोह दोग से पीड़ित इस जीव की है। ऐसे रोगी की सच्ची खिकित्सा तीर्थकर भगवान के द्वारा हीती है। इसीलिए भगवान को भिषज्वर अर्थात् वैद्यशिरोभणि और उनकी बाणी की ओषधि कहा है। भगवान ऋषभदेव एवं उनके पश्चात् कालीन शेष तीर्थकरों ने अपनी मुक्तिदायिनी महीषांशि के द्वारा जगत् के मोहब्बर-जनित सन्ताप को दूर किया था। इससे अगणित भव्य जीवों ने आत्म सम्बन्धी सच्ची नीरोगता (स्वस्थता) प्राप्त की।

उपदेश का सार

संक्षेप में भगवान के उपदेश का भाव हरिवंशपुराण में इस प्रकार प्रतिपादन किया गया है। आचार्ये कहते हैं “जिनेन्द्रदेव ने कहा कि सम्पूर्ण मुखों की खानि तुल्य धर्म है, उसे सर्वप्रकार के प्रयत्न द्वारा प्राणियों को पालना चाहिये। वह धर्म जीवों पर दया आदि में विद्य-

तीर्थकर

मान है। देव समुदाय में तथा मनुष्यों में जो हन्द्रिय और विषय-जनित सुख प्राप्त होता है वह सब धर्म से उत्पन्न हुआ है। जो कर्मज्ञव से उत्पन्न आत्मा के आश्रित तथा अनन्त निर्वाण का सुख है, वह भी धर्म से ही उत्पन्न होता है। सूक्ष्म रूप से दया, सत्य, अचौर्य ब्रह्मचर्य, अमूल्यांश्चार्थी (परिग्रह त्वाग) मुनियों का धर्म है और स्थूल रूप से उनका पालन गृहस्थों का धर्म है। गृहस्थों का धर्म दान, पूजा, तप तथा शील इस प्रकार चतुर्विध कहा गया है। यह धर्म भोग-त्याग स्वरूप है। सम्यग्दर्शन इस धर्म का मूल है। उससे महान् अद्वितीय देवों की लक्ष्मी प्राप्त होती है। मुनि धर्म के द्वारा पुष्ट मोक्ष सुख प्राप्त होता है।

जिनेन्द्रेऽथ जगौ धर्मः कार्यः सर्वलुखाकरः ।

प्राणिभिः सर्वयन्नेन स्थितः प्राणिद्यादिषु ॥१०—४॥

सुखं देवसिकाशेषं मानुषेषं च यत्सुखं ।

हन्द्रियार्थसमूहूर्त्त तत्सर्वं धर्मसंभवं ॥५॥

कर्मज्ञयसमुद्भूतमपवर्गसुखं च यत् ।

आत्माधीनमनेतं तद् धर्मदेवोपजायते ॥६॥

दयारत्यमध्यस्तेवं ब्रह्मचर्यमपूर्णता ।

सूक्ष्मतो यतिधर्मः स्यात्स्थूलतो गृहमेधिनां ॥७॥

दानपूजातपः शीललक्षणस्त्वं च चतुर्विधः ।

त्यगजश्चैव शापीते धर्मो गृहनिषेकिणां ॥८॥

सम्यग्दर्शनमूलोऽयं महाद्विक्षुरश्रियं ।

ददाति यतिशर्मस्तु पुष्टो मोक्षसुखप्रदः ॥९॥

अबुद्धिपूर्वक क्रिया

तीर्थकर के विहार के सम्बन्ध में यह प्रश्न किया जाता है कि भगवान् भव्य जीवों के सन्ताप दूर करने के लिये जो विहार करते हैं उस समय उनके पैरों को उठाकर डर भरते हुए गमन को देखकर ऐसा प्रतीत होता है कि भगवान् के इस प्रकार की क्रिया का सद्ग्राव स्वीकार करना इच्छा के अस्तित्व का सन्देह उत्पन्न करता है।

समाधान :—मोहनीय कर्म का अत्यन्त ज्ञय ही जाने से जिनेन्द्र भगवान की इच्छा का पूर्णतया अभाव हो जुका है, फिर भी उनके शरीर में जो किया होता है वह अवृद्धि पूर्वक स्वभाव से होता है। प्रवचनसार में कुन्दकुन्दस्वामी ने लिखा है कि :—

माण-शिष्येऽज-विहास धर्मवेदसो हि शियदयो तेसि ।

अरहंताण् क्षाले मध्याचाराद्व इच्छीण ॥४३॥

अरहंत भगवान के अरहंत अबस्था में खड़े होना, पद्मासन से बैठना, विहार करना तथा धर्मोपदेश देना ये कार्य स्वभाव से ही पाए जाते हैं, जिस प्रकार स्त्रीर्य में माया परिणाम स्वभाव से होता है। जिस प्रकार जिनेन्द्रदेव की दिव्यदेशना इच्छा के बिना होती है इसी प्रकार उनके शरीर में खड़े रहना, बैठना तथा विहार करना रूप कार्य भी इच्छा के बिना ही होते हैं।

समवशरण में ग्रन्थ का आसन

समवशरण में विहार के पश्चात् भगवान् खण्डग्रासन में रहते हैं या उनके पद्मासन हो जाता है ?

समाधान :—समवशरण में भगवान् पद्मासन से विराजमान रहते हैं। हरिवंशपुराण में लिखा है कि महाचीर भगवान के दर्शनार्थी चतुरङ्ग सेना समन्वित सम्राट् श्रणिक ने सिंहासन पर विराजमान वीर भगवान के दर्शन कर उनको प्रणाम किया था। श्लोक में 'सिंहासनोपविष्ट' शब्द का अर्थ है 'सिंहासन पर चैठे हुए।' मूलश्लोक इस प्रकार है :—

सिंहासनोपविष्टं तं गेनशा चतुरङ्गा ।

अश्चिकोणि च संप्राप्तः प्रणाम जिनेश्वरम् ॥२—७१॥

इस प्रकरण में यह बात झौतक्य है कि वीर भगवान ने कायोत्सर्ग आसन से मोह प्राप्त किया है। तिलोयपश्चण्डित में लिखा है :—

उरहो य आसुपुज्जो गेमी पहलंकवद्या सिद्धा ।

काउसुरगेण जिरण सेता मुक्ति तमावरणा ॥४—१२१॥

तीर्थकर

ऋषभनाथ भगवान्, वासुपूज्यस्वामी तथा नेमिनाथ भगवान् ने पल्यंकबद्ध आसन से तथा शोष तीर्थकरों ने कायोत्सर्ग आसन से मोक्ष प्राप्त किया है।

शांतिनाथपुराण में लिखा है कि समवशरण में शांतिनाथ भगवान का पल्यंकासन था। कहा भी है :—

अेषु धष्टोप्यासेन घवले दशमीदिने ।

पौष्टमासि दिनस्यान्ते पल्यंकासनमास्थितः ॥६.२॥

निर्ग्रन्थो नीरजो वीतविभो विश्वैकवांशकः ।

केवलज्ञान-साम्राज्यश्रिया शांतिमशिश्रितः ॥६.३॥

धर्मशर्माभ्युदय में लिखा है कि धर्मनाथ तीर्थकर समवशरण में बैठे हुए थे। कहा भी है :—

रहज्योतिर्भासुरे तत्र धीठे तिष्ठन् देवः शुभ्रमर्ढलस्यः ।

क्षीरमोघे: सिंच्यमानः पर्योभिर्भूयोरेजे कान्त्रमाद्राक्षिकोच्चैः ॥२०—६॥

तिलोयपण्णति के उपरोक्त कथन के प्रकाश में यह बात स्पष्ट हो जाती है कि धर्मनाथ, शांतिनाथ तथा महावीर भगवान का मोक्ष कायोत्सर्ग आसन से हुआ है, किन्तु समवशरण में वे पद्मासन से विराजमान थे। अतएव केवलज्ञान होने पर समवशरण में तीर्थकर भगवान को पद्मासन मुद्रा में विराजमान मानना उचित है। सिंहासन स्वप्र प्रह्लिदार्थी अरहंत भगवान के पाया जाता है। उस पर कायोत्सर्ग आसन से रहने की कल्पना डर्चित नहीं दिखती है। एक बात यह भी विचारणीय है, कि द्वादश समाओं में समस्त जीव बैठे रहे और भगवान खड़े रहे, ऐसा मानने पर भक्त जीवों पर अविनय का दोष आए बिना न रहेगा। तीन लोक के नाथ खड़े रहे और उनके चरणों के बांदक जीव बैठे रहे !

ज्ञानार्णव में पिंडस्थ ध्यान के प्रकरण में सिंहासन पर पद्मासन से विराजमान जिनेन्द्रदेव के स्वरूप चितवन करने का कथन आया है। अतः यह बात आगम तथा शुक्ति के असुकूल है कि समवशरण में भगवान सिंहासन पर पद्मासन से विराजमान रहने हैं।

विहार में कायोंत्सर्ग आसन रहता है; उसके पश्चात् पद्मासन हो जाता है। आसन में परिवर्तन मानने में कोई बाबा नहीं प्रतीत होती।

आदिनाथ भगवान की आयु चौरासी लाख पूर्व प्रमाण थी। उसमें बीस लाख पूर्व कुमारकाल के, त्रेसठ लाख पूर्व राज्यकाल के, एक हजार वर्ष तपश्चरण के तथा एक सदस्य वर्ष एवं चौदह दिन कम एक लाख वर्ष पूर्व विहार के थे। चौदह दिन योग निरोध के थे।

कैलाशगिरि पर आगमन

भगवान को सिद्धालब प्राप्त करने में जब चौदह दिन शेष रहे, तब वे प्रभु कैलाशगिरि पर आ गए। कैलाशपर्वत पर प्रभु पद्मासन से विराजमान हुए।

विविध स्वर्ण-दर्शन

जिस दिन योग निरोधकर भगवान कैलाशगिरि (अष्टापद पर्वत) पर विराजमान हुए, उस दिन भरत चक्रवर्ती ने स्वप्न में देखा:—
तदा भृतराजेन्द्रो महामंदरभूद्यर् ।

आप्राम्भारं व्यलोक्षिष्ट स्वप्ने दैर्घ्यम् स्थितः ॥४७—३२२॥

महा मंदराचल (सुमेरु पर्वत) बृह्दि को प्राप्त होता हुआ प्राम्भार पृथ्वी (सिङ्गलीक) तक पहुँच गया है।

भरत-पुत्र युवराज अर्ककीर्ति ने स्वप्न में देखा, एक महौषधि का वृक्ष स्वर्ग से आया था। मनुष्यों का जन्म-रोग नष्टकर वह पुनः स्वर्ग में चला गया। गृहपति रत्न ने देखा कि एक कल्पवृक्ष लोगों को मनोवर्गित पदार्थ देता था, अब वह कल्पद्रुम स्वर्गप्राप्ति के लिए समुद्यत है। चक्रवर्ती के प्रमुख मन्त्री ने देखा कि एक रत्नदीप जीवों को रत्न देने के पश्चात् आकाश में जाने के लिए उद्यत हो रहा है। सेनापति ने देखा, एक सिंह चब्ब के पिंजरे को लोड़कर कैलाश पर्वत को उल्लंघन करने के लिए तैयार हुआ है। जयकुमार के पुत्र ने देखा कि त्रिलोक को प्रकाश करता हुआ तारकेश्वर अर्थात् चन्द्रमा ताराओं सहित जा रहा है।

तीर्थकर

चक्रवर्ती की पहुंचानी सुभद्रा का स्वप्न था :—
यशस्वती सुनंदाम्भा यार्थं शक्त्मनःप्रिया ।
शोचंतीश्चिरमद्राक्षात् सुभद्रा स्वप्नगोचरा ॥३३०॥

वृषभदेव भगवान का रानी यशस्वती और सुनन्दा के साथ शक्त अर्थात् इन्द्र की मनःप्रिया अर्थात् महादेवी (इन्द्राणी) बहुत काल पर्यन्त शोक कर रही है ।

स्वप्न-फल

इन स्वप्नों का फल मुरोहित ने यह बताया :—
कर्मणि हत्या निर्मूलं मुनिभिर्द्विभिः समं ।
पुरोः सर्वे पि शुसंति स्वर्गः स्वर्गाग्रामिता ॥३३१॥

ये समस्त स्वप्न यह सूचित करते हैं कि भगवान वृषभदेव समस्त कर्मों का निर्मूल नाशकर अनेक मुनियों के साथ सोक पधारेंगे ।

आनन्द द्वारा समाचार

इतने में आनन्द नाम के व्यक्ति ने चक्रवर्ती भरतेश्वर को भगवान का सब वृत्तान्त बताया कि :—

अन्नौ भगवता दिव्ये संहृते मुकुलीभ्यत् ।
करस्मुजा सभा जाता पूष्णीति सरसोत्यसौ ॥३३५॥

दिव्यव्यनि का विरोध

भगवान की दिव्यव्यनि का खिरना अब बन्द हो गया है, इससे सूर्य अस्त के समय जैसे सरोबर के कमल मुकुलित हो जाते हैं, उसी प्रकार सब सभा हाथ जोड़े हुए मुकुलित हो रही है ।

कैलाश पर भरतराज

इस समाचार को सुनते ही भरत चक्रवर्ती तत्काल कैलाश पर्वत पर पहुँचे, उनकी तीन परिक्रमा करके स्तुति की ।

महामह-महापूजां भक्त्या निर्वर्तयन्स्वयं ।
चतुर्दशुदिनात्येवं भगवंतमसेवत ॥३३६॥

तीर्थकर

चक्रवर्ती ने महामह नाम की महान् पूजा भक्तिपूर्वक स्वर्यं
की तथा चौदह दिन पर्यंत भगवान की सेवा की ।

यही वात विशेष रूप से ध्यान देने योग्य है कि सर्व
सामग्री का समिधान होते हुए भी आदिनाथ जिनेन्द्र की लोककल्याण
निमित्त खिरने वाली दिव्य वाणी बन्द हो गई, क्योंकि शण-क्षण में
विशेष बिशुद्धता को प्राप्त करने वाले इन प्रभु की शुद्धोपयोग रूप
अग्नि अत्यधिक प्रज्वलित हो गई है और अब उसमें अधातिशा कर्मों
को भी स्वाहा करने की तैयारी आत्म अज्ञ के कर्त्ता जिनेन्द्र ने की है।
प्रारम्भ में निर्दियता पूर्वक पाप कर्मों को नष्ट किया था और अब शुभ
भावों द्वारा बाँधी गई पुण्य प्रकृतियों का भी शुद्ध भावरूपी तीक्ष्ण
नलबार के द्वारा ध्वंस का कार्य शीघ्र आरम्भ होने वाला है। संसार
के जीवों की अपेक्षा प्रिय और पूज्य मानी गई तीर्थकर प्रकृति तक अब
इन वीतराज प्रभु को सर्वथा जययोग्य लगती है, क्योंकि ऐसा कोई
भी कर्म का उदय नहीं है जो सिद्ध पदबी के प्राप्त करने में विघ्नरूप न
हो। पञ्चाध्यायी में लिखा है :—

नहि कर्मदिव्यः कश्चिच्चत् जन्तोर्थः स्यात् सुखाश्रहः ।

सर्वस्य कर्मणस्तत्र वैलक्षण्यात् स्वरूपतः ॥

ऐसा कोई भी कर्म का उदय नहीं है जो आत्मा को आनन्द
प्रदान करे, क्योंकि सभी कर्म का उदय आत्मस्वरूप से विपरीत
स्वभाव वाला है। इस कथन के प्रकाश में यह वात सिद्ध होती है कि
स्वभाव परिणाम की उपलब्धि में बाधक तथा विभाव परिणाम के
कारण सभी कर्म त्यागने योग्य हैं। सुवर्णवर्ण के सर्व द्वारा देश प्राप्त
व्यक्ति उसी प्रकार सृत्यु के मुख में प्रवेश करता है, जिस प्रकार श्याम-
सप्तराज के द्वारा काटा गया व्यक्ति भी प्राणों का त्याग करता है।
इसलिए शुद्धोपयोगी ऋषिराज प्रष्ठमदेव तीर्थकर ने दिव्य उपदेश
देना बन्द कर दिया है। जितना कहना था सब कह चुके। अन्य जीवों
के उपकार हेतु यदि भगवान लगे रहें तो वे सिद्धि वधु के स्वामी नहीं
बत सकेंगे, इसलिए अब भगवान् पूर्ण निर्भलता सम्पादन के श्रेष्ठ
उद्योग में संलग्न हैं।

योग-निरोधकाल

अन्य तीर्थकरों के योगनिरोध का समय एक माह पर्याप्त कहा गया है, इतना विशेष है कि बर्धमान भगवान् ने अंबल के दो दिन शोष रहने पर योगनिरोध आरंभ किया था। यही बात निर्विण्ण अक्ल में इस प्रकार कही गई है:—

आद्यश्चतुर्दशदिनैविनिवृत्त-योगः

षष्ठेन निष्ठितकृतिर्जिनवर्त्मनः ।

शेषविघूटघनकर्मनिवद्धयाशः

मासेन ते यतिवरास्तवभवन्वयोगः ॥ २६ ॥

ऋग्भनाथ भगवान् ने मन, वचन, काय के निरोध का कार्य चौदह दिन पूर्व किया था तथा बर्धमान जिन ने दो दिन पूर्व योगनिरोध किया। घनकर्म राशि के वंधन को दूर करने वाले बाईस तीर्थकरों ने एक माह पूर्व मन, वचन, काय की वाद्य किया का निरोध प्रारंभ किया था।

समुद्घात-क्रिया

हरिवंशपुराणमें लिखा है “जिस समय केवली की आयु अंतमुहूर्त मात्र रह जाती है और गोत्र आदि अवातिया कर्मों की स्थिति भी आयु के बराबर रहती है, उस समय सूक्ष्म-क्रिया-प्रतिपाति नाम का तीसरा शुक्ल व्यान होता है और वह मन, वचन, काय की स्थूल क्रिया के नाश होने पर उस समय होता है जब स्वभाव से ही काय सम्बन्धी सूक्ष्मक्रिया का अवलोकन होता है।”

अतंमुहूर्तशेषायुः स यदा भवतीश्वरः ।

तत्तुल्यस्थितिवेदादित्रित्यश्च तदा पुनः ॥ ५५—६६ ॥

समस्तं वसामनोयोगं काययोगं च वादरं ।

प्रहाप्यालंब्य सूक्ष्मं तु काययोगं स्वभावतः ॥ ७० ॥

तृतीयं शुक्लसामान्यात्प्रथमं तु विशेषतः ।

सूक्ष्मत्रिथाप्रतीपाति व्यानमास्कंतुमहीति ॥ ७१ ॥

की शुद्धि होती है। इस कारण आदर्श मे “सुदधम्मो एथ पुण्यं तित्थं”—शाक रूप धर्म को नीर्धी कहा है। जिनवाणी रूप गंगा में अवगाहन करले से संसार का सन्ताप शान्त होता है, विषयों की लालसा दूर होती है तथा आत्मा में लगे द्रव्य द्रव्य कर्म, भाव कर्म रूप मलिनता का निवारण होता है। अतएव जिनवाणी को द्रव्य तीर्थी कहता उचित है। श्रुत तीर्थ स्वरूप जिनवाणी के विषय में भागचंद जी का यह भजन बहामार्मिक है :—

साँचौ तौ रहा यह वैतरण वानी,
अतिरिक्त भारा निर्जधर्म की अदृष्टी ॥ १ ॥

जामें अति ही विमल अगाध हानि पानी ।

जहाँ नहीं संशयदि पंक की निशतनी ॥ २ ॥

सप्तमदु जहैं तरहु उछलत सुखदानी ।

उत चित भरल बृन्द रमे नित्य ज्ञानी ॥ ३ ॥

कवि के ये शब्द विशेष ध्यान देने योग्य हैं—

जैके अवगाहन तैं शुद्ध द्वाय प्रानी ।
भागचंद निहै धट माहि या प्रानी ॥ ३ ॥

सरस्वती भूमन में रहा है—

इह जिणवर वाणि विसुद्ध भई,
जो भवियम् शिव मण धरहै ।
सो सुर - रामिद - संपद लहड़,
केवलणारणि वि उत्तरहै ॥

जो विशुद्ध शुद्धि भव्य जीव इस जिनवाणी को अपने मन में स्थान देता है, वह देवेन्द्र तथा नरेन्द्र को विमूलि प्राप्त करते हुए केवलज्ञान को प्राप्त करता है।

जिनेन्द्र भगवान को भाव तीर्थी कहा है—

दंसण-णाण-अरिते शिवनुहा जिणवरा हु स्वेषि ।
तिहि कामणेहि तुरा तम्हा ते भावदो तिथं ॥५५॥०॥ म० आ०

तत्वार्थराजवातिक में अकलंक स्वामी ने लिखा है “जब सर्वोग केवली की आयु अंतमुहूर्त प्रभाण रहती है और शेष बेदनीय, नाम तथा गोत्र इन कर्मव्रय की विधि विकृत होती है, उससे समय आत्म उपयोग के अतिशय युक्त साम्य भाव समन्वित विशेष परिणाम सहित महासंबर वाला शिव कर्मज्ञय करने में समर्थ योगी शेष कर्मरूपी राज के विनाश करने की शक्ति युक्त स्वभाव से दंड, कपाट, प्रतर, तथा लोक पूरण रूप आत्म प्रदेशों का चार समय में विस्तार करके परचान् उतने ही समयों में विस्तृत आत्म प्रदेशों को संकुचित करता हुआ चारों कर्मों की स्थिति-विशेष को एक ब्राह्मण करके पूर्व शरीर वरावर परिमाण को धारण करके सूक्ष्म कायचोग को आरण करता हुआ सूक्ष्म-क्रिया—प्रतिपाति नाम के ध्यान को करता है। मूलग्रंथ के शब्द इस प्रकार हैं :—“यदा पुनरंतर्मुहूर्तशेषायुष्कस्तोऽधिक स्थितिविशेषकर्मव्रयो भवति योगी, तदात्मोपयोगात्मिश्यस्य सामायिकसहायस्य विशिष्टकरणस्य महासंबरस्य लबुकर्मपरिपाचनस्य शेषकर्मसंगुणारशात्मशक्ति—स्वाभाव्यात् दंड - कपाट - प्रतर - लोक पूरणानि स्वात्मप्रदेश-विसर्पणतश्चतुभिः समयैः कृत्वा पुनरपि तावद्विरच समयैः समुपहृत-प्रदेश-विसरणः सभी-कृत-स्थितिविशेष कर्मचतुष्यः पूर्वशरीरपरिमाणो भूत्वा सूक्ष्मकाययोगेन सूक्ष्म-क्रिया प्रतिपाति ध्यानं ध्यायति” (पृष्ठ ३५६, अध्याय ८ सूत्र ४४)

महापुराण में लिखा है :—

- १ स हि योगनिरोधार्थ उद्यतः, केवली जिनः ।
- २ समुद्घातविधि पूर्व आविः कुर्यान्निश्चर्गतः ॥ २१—१८८

स्नातक केवली भगवान जब योगों का निरोध करने के लिए तत्पर होते हैं तब वे उसके पूर्व ही स्वभाव से समुद्घात की विधि करते हैं।

समुद्घात विधि का स्पष्टीकरण इस प्रकार है :—“पहले समय में उनके केवल आत्म प्रदेश चौदह राजू ऊँचे दंड के आकार होते हैं। दूसरे समय में कपाट अर्थात् दरवाजे के आकार को धारण करते हैं। तृतीय समय में प्रतर रूप होते हैं। चौथे समय में समस्त लोक में

व्याप्त हो जाते हैं। इस प्रकार वे जिनेन्द्र चार समय में समस्त लोकाकाश को व्याप्त कर स्थित होते हैं।

आत्मा की लोकव्याप्तिकरता

इस प्रसंग में यह अति व्याप्त देने योग्य है कि ब्रह्मवादी ब्रह्म को संपूर्ण जगत् में व्याप्त मानता है। जैन दृष्टि से उसका कथन सयोगी जिनके लोक पूरण समुद्घात काल में सत्य चरितार्थ होता है, व्योगिक लोकपूरण की अवस्था में उन जिनेन्द्र परमात्मा के प्रदेश समस्त लोक में विस्तारबश व्याप्त होने हैं। ब्रह्मवादी सदा ब्रह्म को लोकव्याप्ति कहता है, इससे उसका कथन अवधार्थ हो जाता है।

लोकपूरण समुद्घात के अन्तर आदम प्रदेश पुनः प्रतर रूपता को दूसरे समय में धारण करते हैं। तीसरे समय में कपाट रूप हैं तथा चौथे समय में दंड रूप होते हैं और शरीराकार हो जाते हैं। समुद्घात किया में विस्तार में चार समय तथा संकोच में चार समय अर्थात् समस्त आठ समय लगते हैं। लोकपूरण समुद्घात के समय आत्मा से प्रदेश सिद्धालय का स्पर्श करते हैं; नरक की भूमि का भी स्पर्श करते हैं तथा उन आकाश के प्रदेशों का भी स्पर्श करते हैं। जिन का पञ्च परावर्तन रूप संसार में परिभ्रमण करते समय इस जीव ने चौरासी लक्ष योगियों को धारण कर अपने शरीर की नियास भूमि बनाया था। अनेकानेक जीवों के भीतर भी यह योगी सभा जाता है। इस कार्य के हारा सयोगी जिन कर्मों की स्थिति में विषमता दूर करके उनको आयु कर्म के बराबर शीघ्र बनाते हैं। जिस प्रकार गीले बस्त्र को ऊचा नीचा, आङङङा तिरछा कंके हिलाने से वह शीघ्र सूखता है, इसी प्रकार की किया हारा सयोगी कर्मों की विषति तथा अशुभ कर्मों की अनुभाग शक्ति का खंडन करता है।

प्रिय उत्तेजा

लोकपूरण समुद्घात किया के विषय में यह कल्पना करना प्रिय लगता है कि समला भाव के स्वामी जिनेन्द्र सदा के लिए अपने घर सिद्धालय में जा रहे हैं, इससे वे बैर विरोध छोड़कर बिना संकोच छोटे बड़े सब से भेट करते हुए तथा मिलते हुए मोक्ष जाने की तैयार हो रहे हैं।

महापुराण में लिखा है :—

तत्राधातिस्थिरेभागान् असंख्यैयान्विद्यन्त्यसौ ।

अनुभगस्य चानंतान् भागानश्चमकर्मणाम् ॥ २२—१६३

उस समय वे भगवान अधातिशा कर्मों की स्थिति के असंख्यात भागों को विनष्ट करते हैं। इसी प्रकार आशुभ कर्मों के अनुभाग के अनंत भागों को नष्ट करते हैं।

भगवान की महत्वपूर्ण साधना

इस प्रसंग से यह बात ध्यान देने योग्य है कि हीणकषाय गुणस्थानवर्ती निर्वन्ध ने एकत्व-वितर्क-अबीचाररूप द्वितीय शुक्ल ध्यान के द्वारा केवलज्ञान की विभूति प्राप्त की थी। राजवासिक मैं केवली भगवान के लिए इन विशेषणों का प्रयोग किया गया है “एकत्व-वितर्क-शुक्लध्यान-वैश्वानर-निर्दर्शधातिकमेन्द्रियः, प्रवृत्तिलितकेवलज्ञान गमस्तिमंडलः” (पृ० ३५६) अर्थात् एकत्व-वितर्क नामक शुक्लध्यान रूप अग्नि के द्वारा धातिया कर्मरूपी ईन्धन का नाश करने वाले तथा प्रवृत्तिलित केवलज्ञान रूपी सूर्य दुक्त केवली भगवान हैं।

प्रश्न

शुक्ल ध्यान का तृतीय भेद उस समय होता है, जब आशु कर्म के ज्य के लिए अंतस्मुदूर्त काल शेष रहता है; अतएव प्रश्न होता है कि आठ वर्ष कुछ अविक काल में केवली बनकर एक कोटि पूर्व काल में से किंचित् न्यून काल श्रोड़कर शेष काल पर्यन्त कौनसा ध्यान रहता है?

समाधान

परमार्थी हृषि से “एकाग्र-चिता-निरोधी ध्यानं” यह लक्षण सर्वद्वा भगवान में नहीं पाया जाता है। आत्म स्वरूप में प्रतिष्ठित होते हुए भी ज्ञानावरण के ज्य होने से वे त्रिकालज्ञ भी हैं, अतः उनके एकाग्रता का कथन किस प्रकार सिद्ध होगा? चिता का भी उनके अभाव है। “चिता अंतःकरणवृत्तिः”—अंतःकरण अर्थात् ज्ञयोपशामास्पक भाव मन की विशेष वृत्ति चिता है। ज्ञायिक केवलज्ञान होने से

क्षयोपशम रूप चित्तबुद्धि का सद्भाव ही नहीं है, तब उसका निरोध कैसे बनेगा ? इस अपेक्षा से केवली भगवान के ध्यान नहीं है ।

इस कथन पर शंका उत्पन्न होती है कि आगम में केवली के दो शुक्ल ध्यान क्यों कहे गए हैं ?

समाधान

केवली भगवान के उपचार से ध्यान कहे गए हैं । राजवातिक में 'एकादशजिने' सूत्र की टीका में अकलंकस्वामो लिखते हैं 'केवली भगवान में एकादश परीष्वह उपचार से पाई जाती हैं । इस विषय के स्पष्टीकरण हेतु आचार्य लिखते हैं—'यथा निरवशेषनिरस्तज्ञानावरणे परिपूर्णज्ञाने एकाग्रचिता-निरोधाभावेषि कर्मरजो-विशूननफलसंभवात् ध्यानोपचारः तथा त्रुधादि-वेदनाभावपरीष्वहाऽभवेषि वेदनीशकमो-दयद्रव्यपरीष्वहसद्भावात् एकादशजिने संतीति ताचारो युक्तः' (पृष्ठ ३३८, राजवातिक) जिस प्रकार ज्ञानावरण कर्म के पूर्ण क्षय होने से केवलज्ञान के उत्पन्न होने पर एकाग्र चित्तान्निरोध रूप ध्यान के अभाव होने पर भी कर्मरज के विनाशरूप फल को देखकर ध्यान का उपचार किया जाता है, उसी प्रकार त्रुधा, तृष्णादि की वेदनारूप भाव परीष्वह के अभाव होते हुए भी वेदनीय कर्मोदय द्रव्य रूप कारणात्मक परीष्वह के सद्भाव होने से जिन भगवान में एकादश-परीष्वह होती हैं, ऐसा उपचार किया जाता है ।

उपरोक्त विवेचन से यह स्पष्ट होता है कि केवली भगवान के आयु कर्म को अंतस्मृहृत्त प्रमाण स्थिति शेष रहने के पूर्व ध्यान का सद्भाव नहीं कहा गया है, इसीकारण ध्वलाटीका में सयोगी जिन के विषय में लिखा है—'सवोगिकेवली ए किंचि कर्मस्त्वेदि' (पृष्ठ २२३, भाग १)—सयोग केवली किसी कर्म का क्षय नहीं करते हैं । कर्मक्षयण कार्य का अभाव रहने से सयोगी जिन के ध्यान का अभाव है । इतना विशेष है कि अयोग केवली होने के पूर्व सयोगी जिन अवातिया कर्मों की स्थिति के असंख्यात भागों को नष्ट करते हैं तथा अशुभ कर्मों के अनुभाग को नष्ट करते हैं, उस समय उनके सूक्ष्म-क्रिया-प्रतिपाति शुक्लध्यान की योग्यता उत्पन्न होती है ।

दो आचार्य परंपराएँ

इस अवस्थावाली सभी अत्माएँ समुद्रवात् करती हैं ऐसा आचार्य यतिवृष्टिभ का अभिन्नाय है। धवलाटीका में लिखा है—“यति-वृष्टिभोपदेशात् सर्वानालिकर्मणां ज्ञोणकपाश्चरभसमये स्थितेः साम्या-भावात् सर्वोपि छृतसमुद्रवातः सन्तो निवृत्तिमुपदृष्टकन्ते” ॥—आचार्य यतिवृष्टिभ के उपदेशानुसार जीखकषाय-गुणस्थान के चरम समय में सम्पूर्ण अवातित्य कर्मों की स्थिति में समानता का अभाव होने से सभी केवली समुद्रवात् रूपक ही भोक्ता प्राप्त करते हैं। आगे यह भी कथन किया गया है—“शेषमाचार्यणां लोकब्याधिकेवलिपु विशति-संख्यानियमक्तेषां मतेन केचित्समुद्रपातयंति, केचिन्न समुद्रवातयंति । केन समुद्रघातयंति ? शेषां संस्कृतिव्यक्तिः कर्मस्थित्या समाना, तेन समुद्रघातयंति, शेषाः समुद्रघातयंति” (पृष्ठ ३०८, भाग १) ॥—जिन आचार्यों ने लोकपूरण समुद्रघात करनेवाले केवलियों की संख्या नियमरूप से बीस मानी है, उनके अभिन्नायानुसार कोई जीव समुद्रघात करते हैं और कोई समुद्रघात नहीं करते हैं। कौन आरम्भाएँ समुद्रघात नहीं करती हैं ? जिनकी संस्कृति की व्यक्ति अर्थात् संसार में रहने का काल जिसे आशु कर्म के नाम से कहते हैं उसकी नाम, गोव तथा वेदनीय कर्मों के समान स्थिति है, वे केवली समुद्रघात नहीं करते हैं, शेष केवली समुद्रघात करते हैं ॥”

अन्तिम शुक्लध्यान

समुच्छिङ्ग-किञ्चा-निवर्ति अथवा व्युपरत क्रिया-निवृत्ति ध्यान के होने पर प्राणापान अर्थात् स्वासोच्छ्वास का गमनागमन कार्य रुक जाता है। समस्त काय, वचन तथा मनोयोग निमित्त से उत्तम सम्पूर्ण प्रदेशों का परिस्पर्द घन्द हो जाता है। उस ध्यान के होने पर परिपूर्ण संबर होता है। उस समय अठारह हजार शील के भेदों का पूर्ण स्वामित्व प्राप्त होता है। जीरासी लाख उत्तर गुणों की पूर्णता प्राप्त होती है।

सम्यग्दर्जन का शेष भेद परमावगाह सम्यक्त्व तो तेरहवें गुणस्थान में प्राप्त हो गया था। ज्ञानावरण का ज्ञान होने से सम्यक-

तीर्थकर

ज्ञान की भी पूर्णता हो चुकी थी, फिर किंचित् न्यून एक कोटि वर्ष पूर्व प्रमाण परिनिर्वाण अवस्था की उपलब्धि न होने का कारण परिपूर्ण चरित्र में कुछ कमी है। अयोगी जिन होते ही वह गुणित्रय का स्वामी हो जाता है। उस विशुद्धि के प्रसाद से अयोगी जिन के उपात्त्य समय में अर्थात् अन्त के दो सभगों में से प्रथम समय में साता-असाता वेदनीय में से अनुदय रूप एक वेदनीय की प्रकृति, देवगति, औदारिक वैक्रियिक, आहारक, तैजस, कार्मण ये पाँच शरीर, पाँच संघात, पाँच बंधन, तीन आंगोपांग, छह संहनन, छह संस्थान, पाँच वर्ष, पाँच रस, आठ स्पर्श, दो गंध, देवगत्यानुपूर्वी, अशुरुलघु, उच्छ्रवास, परवात, उपघातविहायोगति, युगल, प्रत्येक, अपर्याप्ति, स्थिर, अस्थिर, शुभ, अशुभ, दुर्भग, स्वरयुगल, अनादेय, अथशक्तीर्ति, निर्माण तथा नीच गोत्र इन बहकर प्रकृतियों का नाश होता है।

कार्य-समयसार रूप परिणामन

अंत समय में वेदनीय की रोष बची हुई एक प्रकृति, मनुष्यगति, मनुष्यायु तथा मनुष्यगत्यानुपूर्वी, पञ्चेन्द्रिय जाति, ब्रस, बादर, पर्याप्ति, सुभग, आदेय, उच्चगोत्र, यशस्कीर्ति व बारह तथा तेरहवीं तीर्थकर प्रकृति का भी क्षय करके अह उ अह लृ इन पञ्चलघु अक्षरों में लगने वाले अल्पकाल के भीतर वह अयोगी जिन आत्मविकास की चरम अवस्था सिद्ध-पदवी को प्राप्त करता है। मुनिदीका लेते समय इन तीर्थकर भगवान ने सिद्धों को प्रणाम किया था। अब ये सिद्ध परमात्मा बन गए। ये समस्त विभाव-विमुक्त हो कार्य-समयसार रूप परिणत हो गए।

निर्वाण की वेला

महापुराण में लिखा है कि ऋषभदेव भगवान ने मात्रकृष्ण चतुर्दशी को सूर्योदय की वेला में पूर्वाभिमुख हो 'प्राप्तपल्यंक' :— पल्यंकासन को धारणकर कर्मों का नाश किया :—

शुरीरत्रितयापायं प्राप्य सिद्धत्वपर्ययं ।

निजाष्ट्रणसंपूर्णः द्वाषावास-तस्यात्कः ॥ ४७-३४१ ॥

ऋषभनाथ भगवान ने औदारिक, तैजस तथा कार्मण इन

तीनों शरीरों का नाशकर आत्मा के अष्ट गुणों से परिपूर्ण सिद्धत्व पर्याय प्राप्त करके ज्ञानमात्र में लोक के अग्रभाग में पहुँचकर तनुवात दलय को प्राप्त किया ।

अब ये तीर्थकर भगवान् सिद्ध बन जाने से समस्त विकल्पों से विमुक्त हो गए । ज्ञान नेत्रों से इनका दर्शन करने पर जी स्वरूप ज्ञात होता है, उसे महापुराण में इन शब्दों द्वारा व्यक्त किया गया है ।

नित्यो निरंजनः किञ्चिद्दुनो देहादभूर्तिभक्त् ।

स्थिरः स्वसुखसादभूतः पर्यन्तिष्वर्गनारतम् ॥ ४७-३४२ ॥

अब ये सिद्ध भगवान् नित्य, निरंजन, अंतिम शरीर से किञ्चित् न्यूनाकार युक्त, अमूर्त, आत्मा से उत्पन्न स्वाभाविक आनन्द का रस पान करने वाले तथा संपूर्ण विश्व का निरन्तर अबलोकन करने वाले हो गए ।

आज भगवान् की श्रेष्ठ साधना परिपूर्ण हुई । दीक्षा लेते समय उनने “सिद्ध नमः” कहकर अपने प्राप्तव्य रूपमें सिद्धों को निश्चयत किया था । आत्म-उत्पादके प्रताप से इनने परम पुरुषाथे मोक्ष को प्राप्त किया । इस मोक्ष के लिए इन प्रभु ने अनेक भवों में महान् प्रथम किए थे । आज वे जीवन के अंतिम लक्ष्य विंदु पर पहुँच गए । पहले उनके अंतःकरण में निर्बाण प्राप्ति की ग्रवल धिपासा ऐदा हुई थी; परन्तु मुक्ति के सभीप आने पर उनने मोक्ष की इच्छा का भी परित्याग किया था ।

मुक्ति की प्राप्ति के लिए निर्बाण की इच्छा भी त्याज्य मानी गई है । अकलेक स्वामी ने कहा है :—

मोक्षपि यस्य नाकांक्षां स मोक्षमधि गच्छति ।

इत्युत्त्वात् नितान्वेषी कांक्षां न कापि योजयेत् ॥२१-स्वरूप संवेदना॥

जिसके मुक्ति की अभिलाषा भी नहीं है, वह मोक्ष को प्राप्त करता है । इस कारण हित चाहने वाले को किसी भी पदार्थ की इच्छा नहीं करना चाहिए ।

सिद्ध कर्यचित् असुक्त हैं

भगवान् मुक्त हो गए, किन्तु अनेकांत तत्त्वज्ञान के भर्मज्ज

तीर्थकर

आचार्य अकलेकदेव भगवान को अमुक्त श्री कहते हुए उन्होंने किसी दृष्टि से मुक्त और किसी अपेक्षा से अमुक प्रतिशादन करते हैं। वे कहते हैं :—

मुक्ताऽमुक्तौ क रूपोयः कर्मेभिः संविदादिनः ।

अकृथं परमात्माने ज्ञानमूर्तिं नमाभिः तम् ॥१॥

जो कर्मों से रहित होने के कारण मुक्त हैं तथा ज्ञानादि आत्म गुणों के सङ्घात युक्त होने से उनसे अमुक हैं, अतः जो कर्थचित् मुक्त और कर्थचित् अमुक हैं, उन ज्ञानमूर्ति, लयरहित सिद्ध परमात्मा को मैं प्रणाम करता हूँ।

आत्मदेव की पढ़वी

अब वृषभनाथ भगवान शरीर मुक्त होने से वृषभनाथ नहीं रहे। मात्रा मरुदेवी के उदर से जिस शरीर युक्त आत्मा का जन्म हुआ था, उसे ही ऋषभनाथ भगवान यह पूज्य नाम ग्राह कुआ था। निर्वाण जाते समय वह शरीर यहाँ ही कैलाशगिरि पर रह गया। अब आत्मदेव अनंत सिद्धों के साथ विराजमान हो गए। उनका संसरण अर्थात् चौरासी लाख थोनियों में भ्रमण का कार्य समाप्त हो गया। विभाव विमुक्त हो, वे स्वभाव में आ गए। अब वे संचमुच्च में अपने आत्मभवन के अधिवासी हो गए। व्यवहार दृष्टि से हम उनको ऋषभनाथ, तथा उनके पश्चात् बर्ती तीर्थकरों को अवित्तनाथ आदि के रूप में कहते हैं, प्रणाम करते हैं, उनका गुण चित्तबन भी करते हैं, परमार्थ रूप में उन नामों की बाच्यता से वे अतीत ही गए। अब वे शुद्ध परमात्मा हैं, आत्मदेव हैं।

‘ण्मो सिद्धाण्डं ।’



निर्णाण कल्याणक

भगवान जिमेन्ट्र ने समस्त कर्मों का नाश करके असिद्धत्व रूप औद्यिक भाव विरहित सिद्ध पर्याय की मुक्त होने पर प्राप्त किया है। अयोग केवली की अवस्था में भी असिद्धत्व भाव था। राजधानिक में कहा है “कर्मोदय-सामान्यात्पेक्षा असिद्धः । सर्वोगकेवल्य-योगिकेवल्लिनोरघातिकर्मोदयापेक्षः” (पृ० ७६) । कर्मोदय सामान्य की अपेक्षा वह असिद्धत्व भाव होता है। सर्वोग केवली तथा अयोग केवली के भी अघातिया-कर्मोदय की अपेक्षा वह असिद्धत्व माना गया है।

आगम में संपूर्ण जगत् को पुरुषाकृति सदृश साना जाता है। उनमें सिद्ध परमेष्ठी को विभुवन के मरुत्तक पर अवस्थित मुकुट समान कहा है। कहा भी है “तिहुयण-सिरन्सेहरया सिद्धा भडारया पस्तीयंतु” विलोक के शिखर पर मुकुट समान विराजमान सिद्ध भडारक प्रसन्न होते (ध्वजार्थीका, वेदना खण्ड) ।

सिद्धात्मक का स्वरूप

अनंतानंत सिद्ध भगवानों ने ध्रुव, अचल तथा अनुपम गति को प्राप्त कर जिस स्थान को अपने चिरनिवास योग्य बनाया है। उसके विषय में तिलोयपरणत्ति में इस प्रकार कथन किया गया है :—

‘सर्वीर्थसिद्धि इंद्रक विमान के ध्वजदण्ड से द्वादशयोजन भाव ऊपर जाकर आठबीं पृथ्वी स्थित है। उसके उपरिम और अध स्तनलल में से प्रत्येक का विस्तार पूर्व परिचम में रूपरहित एक राज् है। वेत्रासन के सदृश वह पृथिवी उत्तर-दक्षिण भाग में कुछ कम सात राज् लम्बी तथा आठ योजन बाहुल्य वाली है—दक्षिण-उत्तर भाए दीहा किन्नौण-सत्तरजूओं। यह पृथिवी घनोदयि, घनवात और तनुवात इन बायुओं से युक्त है। इनमें प्रत्येक बायु का बाहुल्य बीस हजार योजन प्रभाव है (द-६५४, ति० ४०) ।

उत्तानरिथतमै पात्रमिव तनु तदुपरि तनुवते ।
अष्टगुणाद्याः सिद्धाः तिष्ठति अनंतसुखतृप्ताः ॥ ५५८ ॥

• उस किंडक्षेत्र के ऊपर तनुदातव्यलय में अष्टगुण युक्त तथा अनंत सुख से संतुष्ट सिद्ध भगवान् रहते हैं। वह सिद्धक्षेत्र अन्त में सीधे रखे गए अर्थात् ऊपर सुख वाले अनंत के समान है।

राजवातिक का कथन

राजवातिक के अन्त में इस प्रकार वर्णन पाया जाता है।
तन्वी मनोज्ञा भुरमि पुरया परमभासुग ।
प्राप्तमारा नाम वसुधा लोकमूङ्गि व्यवस्थिता ॥ १६ ॥

त्रिलोक के मरुतक पर स्थित प्राप्तमारा नामकी पुरुषी है, वह तन्वी है अर्थात् स्थूलता रहित है, मनोज्ञ है, सुगंध युक्त है, पचित्र है तथा अत्यंत दैदीप्यमान है।

नूलोकतुल्यविष्कर्म सितच्छ्रनिभा शुभा ।
उच्ची तस्या चितेः सिद्धाः लोकान्ते समवस्थिताः ॥ २० ॥

वह पुरुषी नरलोक तुल्य विस्तार युक्त है। श्वेतवर्ण के छत्र समान तथा शुभ है। उस पुरुषी के ऊपर लोक के अन्त में सिद्ध भगवान् विराजमान हैं।

तिलोयपरणति मैं कहा है :—

अष्टम-खिदीए उत्रिं परणास-भद्रिय-सत्यसहस्रा ।
दंडरिणि गंतुणि लिद्वाणि हेदि आवासे ॥ ८ अध्याय-३ ॥

आठवीं पुरुषी के ऊपर सात हजार पचास धनुष जाकर सिद्धों का आवास है।

सिद्धों की अवगाहना

सिद्धों की अवगाहना अर्थात् शरीर की कैचाई डरकुश पांच सौ पञ्चास धनुष और जघन्य साड़े तीन हाथ प्रमाण कही गई है।

तिलोयपरणति मैं यह भी कहा है :—

तीर्थकर

सभी जिनेन्द्र भगवान् सम्प्रदर्शन, सम्यक्ज्ञान तथा सम्यक्चरित्र संयुक्त हैं। इन तीन कारणों से युक्त हैं, इससे जिन भगवान् भाव तीर्थ हैं।

जिनेन्द्र वाणी के द्वारा जीव अपनी आत्मा को परम उद्बल बनाता है। ऐसी रत्न-ब्रह्म-भूषित आत्मा को भाव तीर्थ कहा है। जिनेन्द्र रूप भाव तीर्थकर के समीप में षोडश कारण भावना को भासे चाला सम्यकत्वी जीव तीर्थकर बनाया है। रत्न-ब्रह्म-भूषित जिनेन्द्र रूप भाव तीर्थ के द्वारा अपवित्र आत्मा भी पवित्रता को प्राप्त कर जगत् के सन्ताप को दूर करने में समर्थ होती है। इन जिनदेव रूप भाव तीर्थ के द्वारा प्रवर्धमान आत्मा तीर्थकर बनती है और पश्चात् शुत-रूप तीर्थ की रचना में निमित्त होती है।

धर्म-तीर्थकर

जिनेन्द्र भगवान् के द्वारा धर्म तीर्थ की प्रवृत्ति होती है इससे उनको धर्म तीर्थकर कहते हैं। मूलाचार के इस अत्यन्त भाव पूर्ण स्तुति-पद्म में भगवान् को धर्म तीर्थकर कहा है—

लोमुज्जोक्ता धर्मतित्यग्ने जिणश्रेय आरहते ।

कित्तण्ड केवलिमेव य उत्तमवोहिं भम दिसंतु ॥५३६॥

जगत् को सम्यक्ज्ञान रूप प्रकाश देने वाले धर्म तीर्थ के कर्ता, उत्तम, जिनेन्द्र, अहेन्त केवली मुझे विगुद्ध वोधि प्रदान करे अर्थात् उनके प्रसाद से रत्न-ब्रह्म-धर्म की प्राप्ति हो।

तीर्थकर शब्द का प्रयोग

तीर्थकर शब्द का प्रयोग भगवान् महावीर के समय में अन्य सम्प्रदायों में भी होता था, यद्यपि प्रचार तथा रुदिक्षा तीर्थकर शब्द का प्रयोग जिनेन्द्र भगवान् के लिये किया जाता है। जैन शास्त्रों में भी तीर्थकर शब्द का प्रयोग श्रेयांस राजा के साथ करते हुए

कि जिसेन स्वामी ने महापुराण में बताया है कि शृङ्गर भगवान् को आहार देने के पश्चात् चक्रवर्ती भरत द्वारा राजा श्रेयसि के लिये दानतीर्थकर तथा महापुरुषवत्त शब्द कहे गए थे। अन्यकार कहते हैं—
त्वं दानतीर्थवत् श्रेयान् त्वं महापुरुषमागायि ॥ २०, १८८ महापुराण ॥

तीर्थकर

दीहत्तं बाहुल्लो चरिमभवे जस्त जासिंठाण ।

तत्तो तिभागहीण ओमहण सब्वसिद्धाण ॥ ६-१० ॥

अंतिम भव में जिसका जैसा आकार, दीर्घता तथा अद्वितीय ही, उससे तृतीय भाग से कम सब सिद्धों की अवगाहना होती है।

इस ग्रंथ में अंथान्तर का यह कथन दिया गया है :—

लोयविणिच्छयरथे लोयविभागस्मि सब्वसिद्धाण ।

ओमहणपरिमाणं भणिदं किञ्चूण चरिमदेहसमो ॥ ६-६ ॥

लोक-विनिश्चय ग्रंथ में लोकविभाग में सब सिद्धों की अवगाहना का प्रमाण कुछ कम चरम शरीर के समान कहा है।

आदिपुराण में भगवान के निर्वाण का नर्णन करते हुए “किञ्चित् ऊनो देहात्” (४७-३४२) चरम शरीर से किञ्चित् ऊन आकार कहा है।

इन्यसंग्रह में भी भगवान सिद्ध परमेष्ठी को चरम शरीर से किञ्चित् ऊन कहा है, यथा :—

सिक्कम्मा अमृगुणा किञ्चूण चरम देहदो सिद्धा ।

लोयग-ठिद। गिज्जा उत्पाद-व्येहि संकुरा ॥ १४ ॥

सिद्ध भगवान कर्मों से रहित हैं, अष्टगुण समन्वित हैं। चरम शरीर से किञ्चित् न्यून प्रमाण हैं, लोक के अभ्यभाग में स्थित हैं तथा उत्पाद, व्यय एवं धौल्यपने से युक्त हैं।

इस प्रकार भगवान का शरीर चरम शरीर से किञ्चित् न्यून प्रमाण सर्वत्र कहा गया है, क्योंकि शरीर की अवगाहना को हीनाधिक करने वाले कर्म का तय हो चुका है। ऐसी स्थिति में तिलोयपरणति में कहे गए सिद्धान्त का, कि अंतिम शरीर से एक तृतीयांश भाग प्रमाण सिद्धों की अवगाहना रहती है, रहस्य विचारणीय है।

समाधान

संपूर्ण हस्यमान शरीर की अवगाहना को लक्ष्य में रखकर किञ्चित् ऊन चरम शरीर प्रमाण कथन किया गया है। सूक्ष्म हृष्टि से

हीरोकर

विचारने पर ज्ञात होगा कि शारीर के भीतर सुख, उदर आदि में जीव-प्रदेश शून्य भाग भी है, उसको घटाने पर शरीर का घनफल एक उत्तीय भाग न्यून होगा, यह अभिप्राय तिलोथपरणत्तिकार का प्रतीत होता है। इस दृष्टि से उपरीक्त कथनों में समन्वय करना सचुर्लिक प्रतीत होता है। सब आत्मा के प्रदेशों में, शुद्ध दृष्टि से, उनका निवास कहा जा सकता है। गुणी आत्मा अपने अनेत गुणों में विद्यमान है; अतएव सिद्धों की आत्मा की अवगाहना ही यथार्थ में बद्ध लोक है।

ब्रह्मलोक

व्यवहार दृष्टि से आकाश के जिन प्रदेशों में नित्य, निरंजन सकलज्ञ सिद्धों का निवास है, वह ब्रह्म-लोक है। इसके लिवाय और कोई ब्रह्मलोक नहीं है। शुद्ध आत्मा का वाचक ब्रह्म शब्द है। उस शुद्ध आत्मा के निवास का स्थल ब्रह्मलोक है। उस ब्रह्मलोक में स्थित प्रभु के ज्ञान में लोकालोक के पदार्थ प्रतिविम्बित होते हैं।

निर्मलता तथा सर्वज्ञता

आत्मा की निर्मलता का सकलज्ञता के साथ कोई सम्बन्ध नहीं है, ऐसी भ्रान्त आत्मा को परमात्मप्रकाश का यह दोहा महत्व पूर्ण प्रकाश प्रदान करता है :—

तारायग्नु लिलि विथियड, शिष्मलि दीरसइ जैम ।

अप्पए शिष्मलि विथियड, लोथालोटवि तेम ॥ १०३ ॥

निर्मल जल में तारागण का प्रतिविव विना प्रश्न के स्वयमेव हृषिगोचर होता है, इसी प्रकार रागाद् भल रहित निर्मल आत्मा में लोक तथा अलोक स्वयमेव प्रतिविवित होते हैं। इसके लिए उन प्रभु को कोई उत्तोग नहीं करना पड़ता है।

शिवादि पद वाच्यता

इन लुकि प्राप्त आत्माओं को ही जैन धर्म में शिव, विष्णु आदि शब्दों के द्वारा वाच्य माना है। ब्रह्मेव रूपि का यह कथन

तीर्थकर

महत्वपूर्ण है, “व्यक्तिरुपेण पुनर्भगवान् अर्हन्नेव मुक्तिगत-सिद्धात्मा वा परमब्रह्मा विष्णुः शिवो वा भगवते।” यत्रासौ मुक्तात्मा लोकाये तिष्ठति स एव ब्रह्मलोकः स एव विष्णुलोकः स एव शिवलोको नान्यः कोपीति भावार्थः” (परमात्मप्रश्ना षू० ११३)

सिद्ध का अर्थ

लोक में किसी तपस्वी कुशल साधु को देखकर उसे सिद्ध पुरुष कह दिया जाता है। काव्यश्यर्थों में किन्हीं देवताओं का नाम सिद्ध रूप से उल्लेख किया जाता है। इनसे सिद्ध भगवान् सर्वथा भिन्न हैं। उक्त व्यक्ति जन्म, जरा, मृत्यु के चक्र से नहीं बचे हैं किन्तु सिद्ध भगवान् इस महा व्याधि से सदा के लिए मुक्त हो चुके हैं।

अम निवारण

कोई यह सोचते हैं कि सिद्ध भगवान् के द्वारा जगत् के भव्यों के हितार्थ कुछ संपर्क रखा जाता है। वे संदेश भी भेजते हैं। यह धारणा जैनागम के प्रतिकूल है। पुद्गलात्मक शरीर रहित हीने से उन अशरीरी आत्म-द्रव्य सिद्ध भगवान् का पुद्गल से सम्बन्ध ही नहीं रहता है, अतः उसके माध्यम द्वारा संदेशादि प्रसारित करना कल्पना मात्र है। वे भव्यों के लिए व्यादृश्च रूप हैं।

सिद्धालय में निगोदिया जीवों का सद्गाव

सिद्धलोक में सभी सिद्ध जीवों का ही निवास है, ऐसा सामान्यतया समझा जाता है, किन्तु आगम के प्रकाश में यह भी ज्ञात होता है कि अनन्तानन्त सूक्ष्म निगोदिया जीव सर्वत्र लोक में भरे हैं, अतः वे सिद्धालय में भी भरे हुए हैं। इससे यह सोचना कि उन निगोदिया जीवों को कुछ विशेष मुख की प्राप्ति होती होगी, अनुचित है, क्योंकि प्रत्येक जीव सुख दुःख का संवेदन अपने कर्मोदय के अनुसार करता है। इस नियम के अनुसार निगोदिया जीव कर्माण्डक के द्वारा कष्टों के समुद्र में छुबे रहते हैं और उसी आकाश के लोक में विद्यमान आत्मप्रदेशवाले सिद्धभगवान् आत्मोद्य, परमशुद्ध, निरावध आमन्द का अनुभव करते हैं।

स्याद्वाद दृष्टि

द्रव्यार्थिक नय की अपेक्षा निरोदिता जीव भी सिद्धों के समान कहे जाते हैं किन्तु परमागम में जिनेन्द्रदेव ने पर्यायदृष्टि का भी प्रतिपादन किया है, उसकी अपेक्षा दोनों का अन्तर लगता है। भूत से एकान्तपक्ष की विकारयुक्त दृष्टि के कारण सर्वधा सब जीवों को सिद्ध समान समझ बैठते हैं और धर्मचिरण में प्रमादपूर्ण बन जाते हैं। स्याद्वाद दृष्टि का आश्रय लिए बिना यथार्थ रहस्य छात नहीं हो पाता है।

सिद्धों द्वारा लोक कल्याण

प्रश्न—कोइँ यह सोच सकता है कि भगवान में अनंतज्ञान है, अनन्तशक्ति है और भी अनन्त गुण उनमें विद्यमान हैं। यदि वे दुःखी जीवों के हितार्थ कुछ कृपा करे तो जीवों को वड़ी शान्ति मिलेगी।

समाधान—बस्तु का स्वभाव हमारी कल्पना के अनुसार नहीं बदलता है। पदार्थ के स्वभाव को स्वाक्षित कहा है। बीज के दृग्ध हो जाने पर पुनः अकुरोत्पादन कार्य नहीं होता है, इसी प्रकार कर्म के बीज रूप राग-द्वेष भावों का सर्वधा क्षय हो जाने से पुनः लोक कल्याणार्थ प्रवृत्ति के प्रेरक कर्मों का भी अभाव हो गया है। अब वे बीतराग हो गए हैं।

आचार्य अकलंकदेव ने राजवातिक में एक सुन्दर चर्चा की है। शंकाकार कहता है—“स्यात् एतत् व्यसनार्थवे निमग्नं जगदौरोपं जानतः परयतश्च कारुण्यमुत्पत्तते।” सम्पूर्ण जगत् को दुःख के सामर में निमग्न जानते तथा देखते हुए सिद्ध भगवान के करुणाभाव उत्पन्न होता होगा। शंका का भाव यह है कि अन्य सरागी सम्प्रदाय में उनका माना गया राग-द्वेष, मोहादि सम्बन्ध परमात्मा जीवों के हितार्थ संसार में आता है। ऐसा ही सिद्ध भगवान करते होंगे, यह शंकाकार का भाव है। इस दृष्टि से प्रेरित हो उपरोक्त प्रश्न के परचान् वह कहता है “ततश्च बंधः”—जब भगवान के मन में करुणाभाव उत्पन्न होगा तो वे बंध को भी प्राप्त होंगे।

त्रीयैकर

समाधान—तब, कि कारण? सर्वलब-परिज्ञवात् । भक्ति स्तेहः कृपा स्पृहादीनां रागविकल्पत्वाद्वितरणे न ते संतीति” (पृष्ठ ३६२, ३६३—१०—४)। ऐसा नहीं है, कारण भगवान के सर्वलोकों का अस्त्रव बंद हो गया है, भलि, स्मैहु कृपा, इच्छा आदि राग भाव के ही भेद हैं। वीतराग प्रभु में उनका सञ्चाव नहीं है।

पुनरागमन का अभाव

प्रश्न—यदि भगवान कुछ काल पर्यन्त मोक्ष में रहकर पुनः संसार में आ जाय, तो क्या बाधा है?

समाधान—तंभीर चित्तन से पता चलेगा, कि अपने ज्ञान द्वारा जब परमात्मा यह जानते हैं, कि मैं राग, द्वेष, मोहादि शत्रुओं के द्वारा अनंत दुःख भोग चुका हूँ, तब वे सर्वज्ञ, समर्थ तथा आत्मानन्द का रस पान करने वाले परमात्मा क्यों पायथंक में छब्बने का विचार करेंगे? अपनी भूल के कारण पंजर बद्ध बुद्धिमान पक्षी भी एक बार पिंजरे से छूटकर स्वतंत्रता का उपभोग छोड़कर पुनः पिंजरे में आने का प्रयत्न नहीं करेगा? तब निविंकार, वीतराग सर्वज्ञ परमात्मा अपनी स्वतंत्रता को छोड़कर पुनः माता के गर्भ में आकर अस्त्यंत मलिन मानव शरीर धारण करने की कल्पना भी नहीं करेगा। ऐसी कल्पना मनोविज्ञान तथा स्वस्थ विज्ञारधारा के पूर्णतया विरुद्ध होगी।

उनका कार्य

प्रश्न—सिद्ध पर्याय प्राप्त करने पर वे भगवान अनंतकाल पर्यन्त क्या कार्य करते हैं?

उत्तर—भगवान अब कुत्कुत्व हो चुके। उन्हें कोई काम करना बाकी नहीं रहा है। सर्वज्ञ होने से संसार का चिरकाल चलने वाला विविध रसमय नाटक उनके सदा ज्ञानगोचर होता रहता है। उनके समान ही शुद्धोपयोग वाला सथा मुण वाला जीव विभाव को अश्रव ले चौरासी लाख योनियों में भ्रमण करता हुआ अनंत प्रकार का अभिनव करता है। विश्व के रेण भंच पर चलने वाले इस महानाटक का ये महाप्रभु निविंकार भाव से प्रेज्ञण करते हुए अपनी आत्मानुभूति का रस पान करते रहते हैं।

परम समाधि में निमित्तता

एक बात और है। सिद्ध भगवान् योगीनद्रों के भी परम आराध्य हैं। योगी जन समाधि के परम अनुरागी रहते हैं। जितना महान् तथा उच्च योगी होगा, उसकी समाधि उसी प्रकार की रहेगी। योगी यदि सर्वोच्च है, तो उसकी समाधि भी श्रेष्ठ रहेगी। सिद्ध भगवान् परम समाधि में सर्वदा निमग्न रहते हैं। उनकी आत्म समाधि कभी भी भूंग न होगी, कारण अब ज्ञान, तृष्णादि की छया का दृश्य हो गया। शरीर भी नष्ट हो चुका है। अब वे ज्ञान-शरीरी बन गए हैं। इस शुद्ध आत्म-समाधि से उन्हें अनंत सद्य अक्षय आनन्द प्राप्त होता है। उस समाधि में निमग्न रहने से उनको बहिर्भुख बृत्ति की कभी भी कल्पना नहीं की जा सकती है।

जब तक शृङ्खलानाथ भगवान् सच्चीयोगी तथा अयोगी जिन थे, तब तक वे स-कल (शरीर) परमात्मा थे। उनके भव्यत्व नामका पारिणामिक भाव था। जिस जगत् वे सिद्ध भगवान् हुए उसी समय वे निकल-परमात्मा हो गए। भव्यत्व भाव भी दूर हो गया। अभव्य तो वे थे ही नहीं, भव्यपना विद्यमान था, वह भी दूर हो गया, इससे वे अभव्य-भव्य विकल्प से भी विमुक्त हो गए। कैलाशगिरि से एक समवर्म में ही शृङ्खलाति द्वारा गमन करके आदि भगवान् सिद्धसूमि में पहुँच गए। वहाँ वे अनंत सिद्धों के खमूह में सम्मिलित हो गए। उनका व्यक्तित्व नष्ट नहीं होता है। वेदान्ती मानते हैं ब्रह्मदर्शन के परचात् जीव परम ब्रह्म में विलीन होकर स्वयं के अस्तित्व से शून्य होता है। सर्वज्ञ प्रणीत परमागम कहता है कि सत् का नाश नहीं होता; अतएव सिद्ध भगवान् स्वद्रव्य, स्वदेश, स्वकाल तथा स्वभाव में अवस्थित रहते हैं।

सम्यता

इस प्रसंग में एक बात ध्यान देने की है कि सिद्ध भगवान् सभी समान हैं। अनंत प्रकार के जो संसारी जीवों में कर्मकृत भेद पाए जाते हैं, उनका वहाँ अभाव है। सभी सिद्ध परमात्मा एक से हैं, एक नहीं हैं। उनमें साहश्य है, एकत्व नहीं है। अन्य संप्रदाय मुक्ति प्राप्त करने वालों का ब्रह्म में विलीन होना मानकर एक ब्रह्म कहते हैं।

स्याद्वाद शासन बताता है कि एक ब्रह्म की कल्पना अपरमार्थ है। एक के स्थान में एक सदृश अथवा एक से कहना परमार्थ कथन हो जाता है। सिद्धालय में मुक्त जीवों का पूर्णतया साम्यवाद है। इस साम्यवाद में स्वाधीनता है।

निगोदिया जीवों में साम्यवाद

सिद्ध भूमि में पापात्माओं का भी साम्यवाद है। १ वहाँ रहने वाले अनंतानंत निगोदिया जीव दुःख तथा आत्म गुणों के हास की अवस्था में सभी समाजता धारण करते हैं। प्रत्येक प्राणी को अपनी शक्तिभर सिद्धों सदृश बनने का विशुद्ध प्रयत्न करना चाहिए।

अद्वैत अवस्था

जब जीव कर्मों का नाश करके शुद्धावस्था युक्त-निकल, परमात्मा बन जाता है तब उसकी अद्वैत अवस्था हो जाती है। आत्मा अपने एकत्व को प्राप्त करता है और कर्म स्फी माया जाल से मुक्त हो जाता है। मुक्तात्मा की अपेक्षा यह अद्वैत अवस्था है। इस तत्व को जगत् भर में लगाकर सभी को अद्वैत के भीतर समाविष्ट मानना एकान्त मान्यता है, जो असत्य की भूमि पर अवस्थित होने से ज्ञान भर भी युक्त तथा सद्विचार के समज नहीं टिक सकती। सिद्ध भगवान बंधन रूप द्वैत अवस्था से छूटकर आत्मा की अपेक्षा अद्वैत यद्वी को प्राप्त हो गए हैं। इस प्रकार का अद्वैत स्याद्वाद शासन भी स्वीकार करता है। यह अद्वैत अन्य द्वैत का विरोधक नहीं है। जो संहारक अद्वैत समस्त द्वैत के विनाश को केन्द्र विन्दु बनाता है, वह तत्काल स्वयं ज्ञय को प्राप्त होता है।

अनंतपना

अनंत गुण युक्त होने से सिद्ध भगवान को अनंत भी कहते हैं। वे द्रव्य की अपेक्षा एक हैं। वे ही गुणों की हष्टि से अनंत हैं। कवि गण कल्पना द्वारा जिस अनंत की सुनिश्चित करने हैं, वह अनंत सिद्ध भगवान रूप है।

१. पूर्णात्माओं का साम्यवाद न्यायर्थतिति के देवों में है।

तीर्थंकर

भगवान् तो कर्मों का विनाश होते ही सिद्ध परमात्मा हो गए। अब कैलाशगिरि पर ऋषभनाथ प्रभु का दर्शन नहीं होता है। अब वे चिरकाल के लिए इन्द्रियों के अगोचर हो गए। गोम्मटसार कर्मकांड की टीका में लिखा है—“अयोगे भरणं कृत्वा भव्याः यांति शिवालंबं” (पेज ७६८, गाथा ५५६)

मोक्ष-कल्याणक की विधि

१३ भगवन् रिवाजाय में विराजमान है और उनका शरीर मात्र अष्टापद गिरि पर दृष्टिगोचर होता है। भगवान् के निर्वाण होने की बातीं चिदित कर इन्द्र निर्वाण कल्याणक की विधि सम्पन्न करने को बहाँ आए।

मोही व्यक्ति उस प्राणीन देह को शब मान व्यथित होते थे, क्योंकि वे इस तत्व से अपरिचित थे कि भगवान् की मृत्यु नहीं हुई। वे तो अजर तथा अमर हीं गए।

मृत्यु की मृत्यु

यथार्थ में उनने मृत्यु के कारण कर्म का नाश किया है अतः एव यह कहना अधिक सत्य है कि आज मृत्यु की मृत्यु हुई है। भगवान् ने मृत्यु को जीतकर अमृत्यु अर्थात् अमृतत्व की स्थिति प्राप्त की है। उस समय देव देवेन्द्रों ते आकर निर्वाणोत्सव किया।

भरत का मोह

महाजानी चक्रवर्तीं भरत को मोहनीय कर्म ने घेर लिया। उनके नेत्रों से अशुद्धारा नह रही थी। उनने सचमुच मैं भगवान् के शिवगमन की अपने पिला की मृत्यु के रूप मैं सोचा। भरत की मनो-वेदना कौन कह सकता है? चक्रवर्तीं की दृष्टि मैं भगवान् के अनन्त उपकार भूल रहे थे। बालवकाल के प्यार और दुलार से लेकर अन्त तक प्रभु ने क्या-क्या नहीं दिया? जैसे जैसे भरतराज अतीत का समरण करते थे, वैसे-वैसे उनके हृदय मैं एक गहरी वेदना होती थी। पराक्रम पुंज भरत के नेत्रों मैं कर्मा अशु नहीं आए थे। विपत्ति मैं भी वह लेजस्वी ग्लान मुख न हुआ था। उसके नेत्रों से उस समय अवश्य अशुद्धारा बहती

तीर्थीकर

थी, जब कि वह भगवान की भक्ति तथा ५०० के रस में निमित्त हो आनन्द विभोर हो जाता था। वे आनन्दाश्रु थे; अभी शोकाश्रु हैं। देव इन्द्र आदि आत्मीय साव से चक्रवर्ती की समझाते हैं कि इस आनन्द की बेला में शोक करना आप सहश ज्ञानी के लिए उचित नहीं है। भरत के दुःखी मन को सवका समझाना सान्त्वना दायक नहीं हुआ।

गणधर द्वारा सांत्वना

इस विषम परिस्थिति में भरत के बन्धु वृषभसेन गणधर ने अपनी तात्त्विक देशना द्वारा भरत के माहज्वर को दूर किया। गणधर देव के इन शब्दों ने भरतेश्वर को पूर्ण प्रतिक्रुद्ध कर दिया।

प्रपाद्य-गोचरः सम्प्रत्येष चैतसि वर्तते ।

भगवांस्तत्र कः शोकः पश्यैनं तत्र सर्वदा ॥

अरे भरत ! जो भगवान पहले नेत्र इन्द्रिय के गोचर थे, वे अब अंतः करण में विराजमान हैं; हस्तिये इस संबंध में किस बात का शोक करते हो ? तुम उन भगवान का अपने मनोमंदिर में सदादर्शन कर सकते हों।

तत्त्वज्ञानी भरत की अंतर्हृषि छुल गई। चक्रवर्ती की समझ में आ गया कि स्वात्मानुभूति के लग में चैतन्य ज्योति का मैं दर्शन करता हूँ। भगवान ने आज सिद्ध पदबी प्राप्त की है। इसमें और मेरे आत्म-स्वरूप में कोई अंतर नहीं है। इन दिव्य विचारों से भरतेश्वर को विशेष प्रेरणा प्राप्त हुई। चक्रवर्ती भी व्यथा त्यागकर उस आनन्दोत्सव में देवों के साथी हो गए।

स्व का राज्य

संसार में शरीरान्त होने पर शोक करने की प्रणाली है, किन्तु यहां आनन्दोत्सव मनावा जा रहा है, कारण आज भगवान की चिरजीवन प्राप्त हुआ है। मृत्यु तो कर्मों की हुई है। आत्मा आज अपने निज भवन में आकर अनेत सिद्ध चंदुओं के पावन परिवार में सम्मिलित हुआ है। आज आत्मा ने स्व का राज्य रूप सार्थक स्वराज्य का स्वामित्व प्राप्त किया है।

आनन्द की बेला

भगवान के अनंत आनन्द लाभ की बेला में कौन विवेकी व्यथित होगा ? इसी से देवों ने उस आध्यात्मिक सहोत्रसब को प्रतिष्ठा के अनुरूप आनन्द नामका नाटक किया। इस आनन्द नाटक के भीतर एक रहस्य का तत्व प्रतीत होता है। सच्चा आनन्द तो कर्मराशि के नष्ट होने से सिद्धों के उपभोग में आता है। संसारी जीव विषय भोग द्वारा सुख प्राप्ति का असफल प्रयत्न करते हैं। भगवान अनंत आनन्द के स्वामी हो गए। अव्याख्याव सुख की संपत्ति उनको मिली है, ऐसे प्रसंग पर सच्चे भक्त का कर्तव्य है कि अपने आराध्य देव की सफलता पर आनन्द अनुभव करे।

समाधि-मरण शोक का हेतु नहीं

मिथ्यात्व युक्त मरण शोक का कारण है, समाधिमरण शोक का हेतु नहीं है। कहा भी है :—

मिथ्यादष्टे : सतोः जंतोर्मरणं शोचना य हि ।

न तु दर्शनशुद्धस्य समाधिमरणं शुचे ॥८२ र्ख, ६३॥ हरिवंशपुराण

पंडित-पंडित मरण

यह बात भी ध्यान देने योग्य है कि कायगुति की पूर्णता पूर्वक शरीर का त्याग अयोगी जिनके पाया जाता है। उस मरण का नाम पंडित-पंडित मरण कहा है। मिथ्यात्मी जीव को 'बालबाल' कहा है। 'पंडा यस्यास्ति असौ पंडितः'। जिसके पंडा का सद्वाच है वह पंडित है। मूलाराधना टीका में लिखा है :— "पंडा हि रत्नब्रव्य-परिणामा बुद्धिः" (पृष्ठ १०५) रत्नब्रव्य धर्म धारण में उपयुक्त बुद्धि पंडा है। उससे अलंकृत व्यक्ति पंडित है। सच्चा पंडित्य तो तब ही शोभायमान होता है, जब जीव हीनाचरण का त्याग कर विशुद्धि प्रवृत्ति द्वारा अपनी आत्मा को समलंकृत करता है। अगम में व्यवहार पंडित, दर्शन पंडित, कान पंडित तथा चारित्र पंडित रूप से पंडित के भेद कहे गए हैं। अयोगी जिन परिपूर्ण दर्शन, ज्ञान तथा चारित्र से संपन्न होने के कारण पंडित-पंडित हैं। उनका शरीरान्त पंडित-पंडित मरण है। इसके पश्चात उस आत्मा का मरण पुनः नहीं होता है। जिस शुद्धि-

उनको दानन्तीर्थीकर कहा है। अतएव तीर्थीकर शब्द के पूर्व में धर्म शब्द को लगा कर धर्म तीर्थीकर रूप में जिनेन्द्र का समरण करने की प्रणाली प्राचीन है।

साधन रूप सोलह भावनाएँ

सभीचीन धर्म की व्याख्या करते हुए आचार्य समंतभद्र ने लिखा है, कि सम्यद्दर्शन, सम्यक् ज्ञान तथा सम्यक् चारित्र रूप धर्म है, जिससे जीव संसार के दुःखों से छुटकर श्रेष्ठ मोक्ष सुख को प्राप्त करता है। इस धर्म तीर्थी के कर्ता इस अवसर्पिणी काल की अपेक्षा वृषभदेव आदि महावीर पर्यन्त चौबीस शेष महापुरुष हुए हैं। तीर्थीकर का पद किसी की कृपा से नहीं प्राप्त होता है। पवित्र सोलह प्रकार की भावनाओं तथा उद्बल जीवन के द्वारा कोई पुण्यात्मा मानव तीर्थीकर पद प्रदान करने में समर्थ तीर्थीकर प्रकृति नाम के पुण्य कर्म का बंध करता है। यह पद इतना अपूर्व है कि दस कोड़ी-कोड़ी सागर प्रमाण इस अवसर्पिणी काल में केवल चौबीस ही तीर्थीकरों ने अपने जन्म द्वारा इस भरत द्वेरा को पवित्र किया है। असंख्य प्राणी रत्नत्रय की समारावना द्वारा अहंत होते हुए सिद्ध पदबी को प्राप्त करते हैं, किन्तु भरत द्वेरा में तीर्थीकर रूप में जन्म धारण करके मोक्ष जाने वाले महापुरुष चौबीस ही होते हैं। ऐरावत द्वेरा में भी वही स्थिति है।

तीर्थीकर प्रकृति के बंध में कारण ये सोलह भावनाएँ आगम में कही गई हैं। दर्शन-विशुद्धि, विनय सम्पन्नता, शील तथा ब्रतों का निरतिचार रूप से पालन करना, अभीक्षण अर्थात् निरन्तर ज्ञानोपयोग, संवेग, शक्तिभूत्याग, शक्तिः तप, साधु-समाधि, वैयावृत्यकरण, अहंत-भक्ति, आचार्य-भक्ति, ब्रह्मशुत-भक्ति, प्रबचन-भक्ति आवश्यकापरिहाणि अर्थात् आत्मा को निर्मल बनाने वाले आवश्यक नियमों के पालन में सतत सावधान रहना, रत्नत्रय धर्म को प्रकाश में लाने रूप मार्ग प्रभावना तथा प्रबचनवस्तुत्व अर्थात् साधनी बन्धुओं में गो-वत्स सम प्रीति धारण करना। इन सोलह यकार की श्रेष्ठ भावनाओं के द्वारा श्रेष्ठ पद तीर्थीकरत्व की प्राप्ति होती है।

महावीर अंश में तीर्थीकर प्रकृति का तीर्थीकर-नाम-गोत्रकर्म कहकर उल्लेख किया गया है, यथा—“एदेहि सोलसेहि कारणेहि जीवो

तीर्थेकर

-पर्यागी, ज्ञान चेतना का अमृत पान करने वाले को ऐसा समाधिमरण प्राप्त होता है। उसको जिनेन्द्र की अष्टगुण रूप संपत्ति की प्राप्ति होती है। ऐसी अवस्था की सदा अभिलाषा की जाती है। अह माइ आठ समय में छह सौ आठ महान आत्माओं की आत्मगुण रूप विभूतियां प्राप्त होती हैं।

निर्वाण कल्याणक की श्रेष्ठता

जीवन में मोक्ष प्राप्ति से वदकर श्रेष्ठ ज्ञान नहीं हो सकता है। अतएव विचारवान व्यक्ति की दृष्टि से निर्वाण कल्याणक का सर्वोपरि महत्व है। वह अवस्था आत्मगुणों का चिन्तयन करते हुए जीवन की उज्ज्वल बनाने की प्रेरणा प्रदान करती है।

शरीर का अंतिम-संस्कार

शरीर भर्तुरस्येति पराह्य-शिविकृपितं ।

आगनीन्द्र-नद्यभा-भसि-प्रोक्तुं ग-मुकुटोद्देशा ॥ ३४४ ॥

चंदनाऽग्न्य-कपूर-परी काशमीरजादिभिः ।

घृत-चीरादिभिः श्वास वृद्धिना हृतमेजिना ॥ ३४५ ॥

जगद् गृहस्य सौमर्यं संपात्याभूतपूर्वकं ।

तदाक्तसोपमर्देन पर्यान्तरमानयन् ॥ ३४६ ॥

उस समय निर्वाण कल्याणक की पूजा की इच्छा करते हुए सब देव वहाँ आए। उन्होंने पवित्र, उत्कृष्ट, मोक्ष के साधन, स्वच्छ तथा निर्मल ऐसे भगवान के शरीर को उत्कृष्ट मूल्यवाली पालकी में विराजमान किया। तदनंतर अग्निकुमार नाम के भवतवासी देवों के इन्द्र के रत्नों की कांति से दैदीप्यमान ऐसे अत्यन्त उत्तम मुकुट से उत्पन्न की गई चंदन, अगर, कपूर, केशर आदि सुगंधित पदार्थों से तथा घृत, चीरादि के द्वारा वृद्धि को प्राप्त अग्नि से त्रिमुखन में अभूत पूर्व सुगंध को व्याप करते हुए उस शरीर को अग्नि संस्कार द्वारा भस्म रूप पर्यान्तर की प्राप्ति करा दिया।

तीर्थकर

पूजा करने के पश्चात् कल्पवासी, व्योतिर्णी, अर्थात् एवं अवन्वयी देव अपने अपने स्थान छले गए। अशग कवि कृत वर्वमान चरित्र में भी भगवान के अंतिम शरीर के द्वाह संस्कार का इस प्रकार कथन आया है :—

अरनीन्द्र-नौलि-नरस्त्व-विनिर्वतेष्टै ।
कर्पूर-लौह-हरिचन्दन-सारकाष्टै ॥
संकुषिते सपदि वातकुमारनष्टै ।
इंद्रो मृदा जिनपते जुहुवृश्च शुरीर ॥ १८-१००

अग्नीन्द्र के मुकुट के उक्तपृष्ठ रत्न से उत्पन्न अग्नि में, जो कपूर, लोह, हरिचन्दन देवदारु आदि सार रूप काष्ठ से तथा वायुकुमारों के इंद्रों द्वारा शीघ्र ही प्रबलित की गई थी, इंद्रों ने प्रभु के शरीर का सहर्ष द्वाह-संस्कार किया। हरिवंशपुराण में नेमिनाथ भगवान के परिनिर्वाण पर की गई पूजादि का इस प्रकार कथन किया गया है :—

हरिवंशपुराण का कथन

परिनिर्वाण-कल्याणपूजामंत्यशरीरम् ।
चतुर्विद्यसुरा जैनी चक्रुः शक्रपुरोगमः ॥ ६५-११ ॥

जब नेमिनाथ का परिनिर्वाण हो चुका, तब ईंद्र और चारों प्रकार के देवों ने जिनेन्द्रदेव के अंतिम शरीर सम्बन्धी निर्वाण-कल्याणक की पूजा की।

संव-पुण्डिदिविद्यैः पूजितास्तनवः च्छात् ।
जैनाद्य द्योतयत्यो द्यां विलीना विद्युतो यथा ॥ १२ ॥

जिस प्रकार विद्युत् देवते देवते शीघ्र विलय को प्राप्त होती है, उसी प्रकार गंध पुण्डिदि दिव्य पदार्थों से पूजित भगवान का शरीर क्षणभर में दृष्टि के अंगोंचर हो गया।

स्वस्योदयं जिनादीनो शरीरपरमाणुवः ।
मुच्चंति स्कन्धतामते च्छात् च्छात् चमित्र ॥ १३ ॥

तीर्थकर

यह स्वभाव है कि जिन भगवान के शरीर के परमाणु अंत समय में स्कन्धस्थपता का परित्याग करते हैं और बिजली के समान उत्काल विलय को प्राप्त होते हैं।

निर्वाण स्थान के चिह्न

हरिवंशपुराण में यह भी कहा है :—

ऊर्जयंतगिरौ कज्जी वज्रेणालिख्य पद्मन् ।

लोके सिद्धिशिलां चक्रे जिनलक्षण्युक्तिः ॥ १४-सर्ग ६५.

गिरनार पर्वत पर इंद्र ने परम पवित्र 'सिद्धि-शिला' निर्माणी तथा उसमें जिनेन्द्र के चिह्न वज्र द्वारा अंकित किए।

स्वामी समंतभद्र ने स्वयंभु रत्नोत्र में भी यह बात कही है, कि गिरनार पर्वत पर इंद्र ने निर्वाणप्राप्त जिनेन्द्र नेमिनाथ के चिह्न अंकित किए थे। यहाँ हरिवंश पुराण से यह विशेष बात ज्ञात होती है कि इन्द्र एक विशेष शिला-सिद्धिशिला की रचना करके उस पर जिनेन्द्र के निर्वाण सूचक चिह्नों का निर्माण करता है। आज परंपरा से प्राप्त चरण-चिह्नों की निर्वाणभूमि में अवस्थिति देखने से यह अनुमान किया जा सकता है कि इंद्र ने मुक्ति प्राप्त करने वाले भगवान के स्मारक रूप में चरण-चिह्नों की स्थापना का कार्य किया होगा।

भगवान कैलाश पर्वत पर सुक्त हुए, परचात् वे सिद्धालय में दर्शनगमन स्वभाव बश पहुँचे। इस दृष्टि से प्रथम मुक्तिस्थल ऋषभनाथ भगवान की अपेक्षा कैलाश पर्वत है, बासुपूर्व भगवान की दृष्टि से चंपापुर है, नेमिजिनेन्द्र की अपेक्षा गिरनार अर्थात् ऊर्जयन्तगिरि है, चर्यमान भगवान की अपेक्षा पावापुर है और शेष बीस तीर्थकरों की अपेक्षा सम्मेदशिखर निर्वाण स्थल है। निर्वाण काण्ड में कहा है :—

अग्रवयस्मि उस्हो चपाए वासुपुजजिरणाहो ।

उज्जैते गेमिजिष्ठो पावाए णिव्वुदो महावीरो ॥ १ ॥

बीसं तु जिरणविदा अमरासुखदिदा शुदकिलेसा ।

सम्मेदे गिरियहे णिव्वाणगया णमो तेसि ॥ २ ॥

महत्व की बात

सूक्ष्म दृष्टि से विचार करने पर ज्ञात होगा कि केवल ज्ञान होने के पश्चात् भगवान का परम औदासिक शरीर पृथ्वीतल का स्पर्श नहीं करता है। इसलिए सोऽन्न जाते समय उन्ने भूतल का स्पर्श किया होगा यह विचार उचित नहीं है। भगवान के कर्म-जाल से छुटने का असली स्थान आकाश के बे प्रदेश है, जिनको मुक्त होने के पूर्व उनके परम पवित्र देह ने स्पर्श किया था। तिलोयपरण्ति में द्वैत-मंगल पर प्रकाश ढालते हुए लिखा है :—

एदस्स उदाहरणं पावाण्य रुज्जवत्—चंशदी ।

आहुर्हृ-हृथयहुदी पद्मुक्तौ भृहित् पद्मस्पदरुद्धि ॥

देहश्चविद्युत् केवलणाणावृद्ध-गयण्डेषो वा ।

सेद्धि-धण्डेत्त-श्चण्डपदेसमद्लोक्यपूरणा पुरणा ॥१—२२,२३॥

इस द्वैत मंगल के उदाहरण पावानगर, उर्जयन्त और चंपापुर आदि हैं; अथवा खाडे तीन हाथ से लेकर पांच सौ पच्चीस धनुष प्रभाण शरीर में स्थित और केवल ज्ञान से व्याप्र आकाश प्रदेशों को द्वैत मंगल समझना चाहिए; अथवा जगत् श्रेणी के बन मात्र अर्थात् लोक प्रभाण आत्मा के प्रदेशों से लोकपूरण समुद्रधात द्वारा पूरित सभी लोकों के प्रदेश भी द्वैत मंगल हैं।

स्वयंभूस्तोत्र में लिखा है कि उर्जयन्त गिरि से अरिष्ट नेमि जिनेन्द्र के मुक्त होने के पश्चात् इंद्र ने पर्वत पर चिह्नों को अंकित किया था, जिससे भगवान के निर्वाण स्थान की पूजा की जा सके। कहा भी है :—

ककुदं मूर्वः खच्च-ओषिदुषित-शिष्ठैर्लकृतः ।

मेघपटल-परिवीततप्तस्तव खच्चणनि लिखितानि वज्रेणा ॥२२७॥

यह उर्जयन्त पर्वत पृथ्वी रूप वैल की ककुद के समान था। उसका शिखर विद्याधरों तथा विद्याधरियों से शोभायमान था तथा उसका पट मेघपटल से विरा रहता था। उस पर वज्री अर्थात् इन्द्र ने नेमिनाथ भगवान के चिह्नों को उल्कीण किया था।

इस कथन के आधार पर ईश्वर ने अन्य निर्बाण प्रदेशों पर भी भगवान के चरण चिह्नों की स्थापना की होगी, वह मानना उचित है।

काल-मङ्गल

जिस काल में भगवान ने सोना प्राप्त किया, वह समय समस्त पाप रूपी मल के गलाने का कारण होने से काल मङ्गल माना गया है।

कर्मों के नाश का अर्थ

प्रश्न—सत् पदार्थ का सर्वथा नष्ट नहीं होता है, तब भगवान ने समस्त कर्मों का नष्ट किया, इस कथन का क्या अभिप्राय है ?

समाधान—यह बात यथार्थ है कि सत् का सर्वथा नाश नहीं होता है और न असत् का उत्पाद ही होता है। समतभद्रस्वामी ने कहा है—“नैवाऽसतो जन्म, सतो न नाशो” अर्थात् असत् का जन्म नहीं होता, तथा सत् का नाश भी नहीं होता है। कर्मों के नाश का अर्थ यह है कि आत्मा से उनका सम्बन्ध छूट जाता है। उनमें रागादि विकार उत्पन्न करने की शक्ति दूर हो जाती है। वैसे पदार्थ की शक्ति का नाश नहीं होता है। यहाँ अभिप्राय यह है कि पुद्गल ने कर्मत्व पर्याय का त्याग कर दिया है। वह अकर्म पर्यावरुप में विद्यमान है। अन्य कथायकान् जीव उसे योग्य बनाने पर युनः कर्मपर्याय परिणत कर सकता है। मुक्त होने वाली आत्मा के साथ उस पुद्गल का अब कभी भी युनः बन्द नहीं होगा। कर्मशय का इतना ही मर्यादापूर्ण अर्थ करना उचित है।

निर्बाण-भूमि का महत्व

आत्म निर्भलता सम्पादन में सिद्ध-भूमि का आश्रय ग्रहण करना भी उपयोगी माना गया है। निर्बाण-स्वामी (मुनि) सङ्केषणा के हेतु निर्बाण-स्थल में निवास को अपने लिए इतकारी अनुमत करते हैं। ज्यपकराज चारित्रचक्रवर्ती आचार्य शांतिसागर महाराज ने आत्म-विशुद्धता के हेतु ही कुथलगिरि रूप निर्बाणभूमि को अपनी अन्तिम तपोभूमि बनाया था।

आचार्य शांतिसागर महाराज का अनुभव

आचार्य महाराज की पहले इच्छा थी, कि पावापुरी में जाकर सल्लेखना को स्वीकार करूँ। उनने कहा था—“हमारी इच्छा पावापुरी में सल्लेखना लेने की है। वहां जाते हुए यदि मार्य में ही हमारा शरीरान्त हो जाय, तो हमारे शरीर को जहां हमारे पिता हैं, वहां पहुँचा देना”।

मैंने पूछा था :—“महाराज ! पिता से आपका क्या अभिप्राय है ?”

उत्तर—“महावीर भगवान् हमारे पिता हैं।”

मेरे भाई प्रोफेसर सुशीलकुमार दिवाकरने प्रश्न किया—“तब तो जिनवाणी आपकी माता हुई ?”

उत्तर—“किलकुल ठीक बात है। जिनवाणी हमारी माता है और महावीर भगवान् हमारे पिता हैं। उनने यह भी कहा था कि सिद्धभूमि में रहने से भावों में विशेष निर्मलता आती है तथा वहाँ सुखपूर्वक बहुत उपबास बन जाते हैं ऐसा हमारा अनुभव है। यहाँ कुथलगिरि में पाँच उपबास करते हुए भी हमें ऐसा लगता है कि हमने एक उपबास किया हो।” ये उद्गार महाराज शांतिसागर जी ने १९५३ में कुथलगिरि चातुर्मास के समय व्यक्त किय थे।

निषीधिका

निर्बाणभूमि को निषीधिका कहा गया है। प्रतिक्रमण-ग्रंथ-प्रयी मैं गौतम गणधर ने लिखा है—“णमोत्थु दे णिसीधिए, णमोत्थु दे अरहंत, सिद्ध” (पुष्ट २०) —निषीधिका को नमस्कार है। अरहंत को नमस्कार है। सिद्ध को नमस्कार है। संखृत टीका में आचार्य प्रभाचन्द्र ने निषीधिका के सबृह अर्थ करते हुए उसका अर्थ सिद्धजीव, निर्बाणजीव, उनके द्वारा आभित आकाश के प्रदेश भी किया है। उनने यह गाथा भी उद्घृत की है :—

सिद्ध य सिद्धभूमि सिद्धाण्ड-समाहिन्द्रो णहो-देसो ।

एवाऽमो अस्त्रणाऽमो णिसीहियाऽमो उभानदे ॥

सिद्ध, सिद्धभूमि, सिद्धों के द्वारा आभित आकाश के प्रदेश आदि निषीधिकाओं की मैं सदा वंदना करता हूँ।

उन्मुक्त नहीं कर पाए हैं, उनकी सूख्य को निर्बाण मानना असम्भव है। वीतरागता के पथ को स्वीकार किए बिना निर्बाण असंभव है।

मोक्ष का सुख

तत्वार्थसार में एक सुन्दर शंका उत्पन्न कर उसका समाधान किया गया है।

स्थाददत्तदशरास्य जंतानेष्टादकर्मणः ।

कथं भवति मुक्तस्य सुखमित्युत्तरं श्रृणु ॥ ४६ ॥ मोक्ष तत्वम् ॥

प्रश्न—अष्टु कर्मों के नाश करने वाले शरीर रहित मुक्तात्मा के कैसे सुख पाया जायगा? शंकाकार का अभिप्राय यह है कि शरीर के होने पर सुखोपभोग के लिए साधन रूप इन्द्रियों द्वारा विषयों से आनन्द की उपलब्धि होती थी। मुक्तावस्था में शरीर नाश करने से सुख का सद्वाव कैसे भाना जाय? इस प्रश्न का उत्तर देते हुए आचार्य कहते हैं।

समाधान—सुख शब्द का प्रयोग लोक में विषय, वेदना का अभाव, विषाक, मोक्ष इन चार स्थानों में होता है।

लोके चतुर्धिहर्येषु सुखशुद्धः प्रयुज्यते ।

विषये वेदनामविविपाके मोक्ष एव च ॥ ४७ ॥

‘सुखं वायुः’, ‘सुखं वहिः’—यह पवन आनन्ददायी है। यह अग्नि अच्छ्रो लगती है। यहाँ सुखके विषयमें सुख का प्रयोग हुआ है। दुख का अभाव होने पर पुरुष कहता है—‘सुखितोऽस्मि’—मैं सुखी हूँ। पुरुषकर्म के विपाक से इन्द्रिय तथा पदार्थ से उत्पन्न सुख प्राप्त होता है। श्रेष्ठ सुख की प्राप्ति, कर्मकलेश का अभाव होने से, मोक्ष में होती है। मोक्ष के सुख के समान अन्य आनन्द नहीं है, इससे उस सुख को निरूपण कहा है। विलोकसार में लिखा है—

चक्रक्रुरफणिसुरेदेवहमिंदे जं सुहं तिकालभवं ।

ततो अण्टगुणिदं सिद्धाशु खण्डुहं हेदि ॥ ५६० ॥

चक्रवर्ती, क्रुर, फणीन्द्र, सुरेन्द्र, अहमिन्द्रों में जो क्रमशः अनन्त गुणा सुख पाया आता है; उनके सुखों को अर्जत गुणित करने

तीर्थकर

से जो सुख होता है, उतना सुख सिद्ध भगवान को लेण मात्र में प्राप्त होता है।

सुख-दुःख की भीमांसा

सुख और दुःख की सूक्ष्मता पूर्वक भीमांसा की जाय, तो जात होगा, कि सच्चा सुख तथा शांति भोग में नहीं, त्यग में है। भोग में वृष्णा की वृद्धि होती जाती है। उससे अनाकुलता रूप सुख का नाश होता जाता है। इन्द्रियजनित सुख का स्वरूप समझाते हुए आचार्य कहते हैं तलबार की धार पर मधु लगा दिया जाय। उसको चालते समय कुछ आनन्द अवश्य प्राप्त होता है, किन्तु जीभ के कदने से अपार देना होता है।

विषयजनित सुखों को दुःख कहने के बदले में सुखाभास नाम दिया जाता है। परमार्थ टृष्णि से वह सुखाभास दुःख ही है। पंचाध्यायी में वैष्णविक सुख के विषय में कहा है :—

“नहि तत्सुखं सुखाभासं किन्तु दुःखमसंशयम्”

वह इन्द्रिय जन्य सुख सुखाभास है। यथार्थ में वह दुःख ही है।

शक्र-चक्रवादीना केवलं पुण्यशालिनाम्

तृष्णावीजं रतिस्तेषां सुखायस्तः स्फुतस्तमी ।

महान पुण्यशाली इन्द्र, चक्रवती आदि जीवों के रुष्णा के बीज रूप रति अर्थात् आनन्द पाया जाता है। उनके सुख की ग्राहि कैसे होगी? इन्द्रियजनित सुख कर्मोदित्य के आधीन है। सिद्धों का सुख स्वाधीन है। इन्द्रिय जन्य सुख अंत सहित है, पाप का बीज है तथा दुःखों से मिश्रित है। सिद्धावस्था का सुख अंत है। वहां दुःख का लौश भी नहीं है। विनकारी कर्मों का पूर्ण ज्ञय हो चुका है।

निर्वाण अवस्था

नियमसार में कहा है :—

ण विकर्मं णोकर्मं णवि निता णेव अदृश्याणि ।

ण विधम-सुकर्मणे तथेव होइ णिवाण ॥ २८ ॥

देवकृत अतिशय

जिनेन्द्र भगवान के देवकृत चतुर्दश अतिशय उत्पन्न होते हैं।^१ (१) दर्शों दिशायें निर्मल हो गई थीं। (२) आकाश मेघ-पटल रहित हो गया था। (३) पृथ्वी धान्यादि से सुशोभित हो गई थी। इस विषय में महापुराणकार कहते हैं।

परिनिष्ठन्नस्तात्यादि सस्यसंपन्मही तदा ।

उद्सूखर्षं - रोमाचा स्वामिलाभादिवाभवत् ॥ २५-२६६

भगवान के विहार के समय पके हुए शालि आदि धान्यों से सुशोभित पृथ्वी ऐसी जान पड़ती थी, कि मानो स्वामी का लाभ होने से उसे हर्ष के रोमांच ही उठ आए हों। (४) सुगंधित वायु वह रही थी। (५) मेघकुमार जाति के देवों के द्वारा गंधियुक्त जल की वृष्टि होती थी। (६) पृथ्वी भी एक योजन पर्यन्त दर्पण के समान उज्ज्वला हो गई थी।

कमल रचना

(७) भगवान के विहार करते समय सुगंधित तथा प्रकुलित २२५ कमलों की रचना देवगण करते थे। उनके चरणों के नीचे एक, उनके आगे सात, पीछे सात इस प्रकार पंद्रह सुकर्णमय कमल थे। आकाशादि स्थानों में निर्मित सुवर्ण कमलों की संख्या २२५ कही गई है। आचार्य प्रभाचंद्र ने लिखा है “अष्टसु दिष्ट तद्वत्तरेषु

^१ देवकृत औदृत अतिशय इस प्रकार है :—

देवरचित है चारदश, अर्धमाधी भाष ।
आपसुमाही भित्ता, निर्मल दिश आकाश ॥
होत फूल फूल अृतु सर्वे, पृथिवी काच समान ।
चरण कमल तल कमल है, नक्तैँ जय जय बान ॥
मन्द सुगंब्र वयारि शुनि, गंधोदक की वृष्टि ।
भूमि विषै कण्ठा नदी, हर्षगयी तब मृष्टि ॥
भर्मचक आगे रहै, शुनि बसु मंगलसार ।
अतिशय श्रीश्रहंतके, ये चौतीस प्रकार ॥

आद्यु सप्त-सप्तपद्मानि इति द्वादशोक्तरभेके शतं । तथा तदत्तेषु बोडशयु सप्तसप्तेति अपरं द्वादशोक्तरशतं, पादन्यासे पद्मं चेति पञ्च-विशत्यधिकं शतद्वयम् ॥ १ ॥ छियाकलापटीका पृ० २४६ श्लोक ६ नदीश्वरभक्ति की संस्कृत टीका । आठ दिशाओं में (चार दिशाओं तथा चार विदिशाओं में) तथा उनके अष्ट अंतरालों में सप्त सप्त कमलों की रचना होने से एक सौ बारह कमल हुए । उन सोलह स्थानों के भी सोलह अंतरालों में पूर्ववत् सात-सात कमल इस प्रकार एक सौ बारह कमल और हुए । कुल मिलकर २२४ हुए । ‘पादन्यासे च पद्मं’—चरण की रखने के स्थान के नीचे एक कमल इस प्रकार २२५ कमलों की रचना होती है ।

विहार की मुद्रा

इस कथन पर विचार करने से यह विदित होता है कि भगवान का विहार पद्मासन मुद्रा से नहीं होता है । पैर के न्यास अर्थात् रखने के स्थान पर एक कमल होता है, यहाँ ‘न्यास’ शब्द महत्वपूर्ण है । यदि पद्मासन मुद्रा से गमन होता तो एक चरण के नीचे एक कमल की रचना का उल्लेख नहीं होता ।

‘पद्मासन’ नाम की विशेष मुद्रा से प्रभु का विहार नहीं होता है, किन्तु यह सत्य है कि प्रभु के चरण ‘पद्मों की आसन’ बनाते हुए विहार करते हैं । ‘पद्मासन से’ वे विहार नहीं करते, किन्तु ‘पद्मासन पर’ अर्थात् पद्मरूपी आसन पर वे विहार करते हैं, यह कथन पूर्णतया सुसङ्गत है ।

परम स्थान के प्रतीक

सप्त सप्त पद्मों की रचना सम्बबलः सप्त परमस्थानों की प्रतीक लगती है । धर्म का आश्रय प्रहण करने वाला सप्त परम स्थानों का स्वामित्व प्राप्त करता है । महापुराण में सप्त परम स्थानों के नाम इस प्रकार कहे गए हैं :—

सज्जाति सदगृहित्वं च परिव्राज्यं सुरेन्द्रता ।

साम्राज्यं परमार्हन्त्यं परं निर्वाणमित्यपि ॥३८—६७॥

तीथकर

भगवान विहार करते समय चरणों को मनुष्य के समान ढाते थे, इसका निश्चय महापुराण के इन वाक्यों से भी होता है, यथा :—

भगवच्चरण-न्यास-प्रदेशोऽधिनमःस्थलम् ।

मृदुःस्पर्शमुदारथि पंकजं हैममुदवभौ ॥२५०—२७३॥

भगवान के चरणन्यास अर्थात् चरण रखने के प्रदेश में, आकाशतल में कोमल स्पर्श बाले तथा उत्कृष्ट शोभा समन्वित, सुवर्णमय कमल समूह शोभायमान हो रहा था ।

यतो विजहौ भगवान् हैमब्ज-न्यस्त-सद्क्रमः ।

धर्मामृताम्बु-संवर्षेततो भव्याः धृतिं दधुः ॥२५—२८॥

सुवर्णमय कमलों पर पवित्र चरण रखने वाले बीतराग प्रभु ने जहाँ-जहाँ से विहार किया, वहाँ-वहाँ के भठ्ठों ने धर्मामृत रूपी जल की वर्षी से परम सन्तोष प्राप्त किया था ।

कमल पर उत्प्रेक्षा

भगवान के चरणों के नीचे जो कमलों की रचना होती थी; उसके विषय में धर्मशर्माभ्युदय में बड़ा सुन्दर तथा मनोरम कथन किया गया है :—

अनपायमिव प्राप्तुं पादच्छाया नमस्तले ।

उपकरणे लुलोठस्य पादयोः कमलोत्करः ॥१६८॥

यत्तदा विदधे तस्य पादयोः पर्युपासनम् ।

ऋद्यापि भाजनं लद्म्या स्तेनायं कमलाकरः ॥१७०, २१ सर्वैः ॥

भगवान के चरणयुगल के सभीप में आकर कमलों के समुदाय ने नभोमंडल में प्रभु के चरणों की अधिनाशी छाया का साम लेने के लिए ही चहाँ निवास किया था ।

कमलों ने भगवान की विहार बेला में उनके चरणों की जो समाराधना की थी, प्रतीत होता है इसी कारण वे कमलयून्दलद्मी के द्वारा निवासभूमि बनाए गए हैं ।

तीर्थकर

(८) आकाश में 'जय जय' ऐसी ध्वनि होती थी । (६) संपूर्ण जीवों को परम आनंद प्राप्त होता था । हरिवंश पुराण में कहा है—

विद्युत्युपकराय जिने परमार्थवे ।

बभू, परमानंदः सर्वस्य जगतस्तदा ॥ ३—२१

परम बन्धु जिनेन्द्र देव के जगत् कल्याणार्थे विहार होने पर समस्त जगत् को परम आनंद प्राप्त होता था ।

(१०) पृथ्वी कंटक, पापाण, कीटादि रहित हो गई थी ।

धर्म-चक्र

(११) भगवान् के आगे एक सहस्र आरों वाला तथा अपनी दीपि द्वारा सूर्य का उपहास करता हुआ धर्मचक्र शोभायमान होता था । हरिवंशपुराण में कहा है :—

सहस्रारं हृषीप्त्या सहस्रकिरणवृत्तिः ।

धर्मचक्रं जिनस्याग्रे प्रस्थानास्थानयोरभात् ॥ ३—२६

तिलोयपर्णत्ति में धर्मचक्रों के विषय में इस प्रकार कहा है :—

जक्षिलंदमस्थएसुं किरणुञ्जल-दिव्य-धर्मचक्राणि ।

दृण संठयाहं चत्तारि-जणस्स अच्छरिया ॥ ४—६१३

यज्ञेन्द्रों के सस्तकों पर स्थित तथा किरणों से उज्ज्वल ऐसे चार दिव्य धर्म-चक्रों को देखकर लोगों को आश्चर्य होता है ।

(१२) संपूर्ण विरोधी जीवों में भी आपस में मैत्री उत्पन्न हो गई थी । हरिवंश पुराण में लिखा है :—

अन्योन्यनंवमासोदुमद्माणामपि द्विषां ।

मैत्री बभू, सर्वत्र, प्राणिनां धरणीतले ॥ ३—५७

जो विरोधी जीव एक दूसरे की गंध भी सहन करने में असमर्थ थे, सर्वत्र पृथ्वी तल पर उन प्राणियों में मैत्री भाव उत्पन्न हो गया था ।

जीवों में विरोध दूर होकर परस्पर में प्रीति भाव उत्पन्न करने में प्रीतिकर देव तत्पर रहते थे ।

तीर्थकर

(१३) ज्वजा सहित अष्ट मंगल-द्रव्य युक्त भगवान का विद्वार होता था । शूँगर, कलश, दर्पण, व्यजन (पंख), ज्वजा, चामर, छत्र, तथा सुप्रतिष्ठ (स्वस्तिक) ये आठ मंगल द्रव्य कहे गए हैं । त्रिलोकसार में कहा है—

भूंगर-कलश-दर्पण-दीजन-ज्वज-चामरातपत्रमथ ।

सुप्रतिष्ठ मंगलानि च अष्टविकल्पातानि प्रत्येकम् ॥ ६८ ॥

ये प्रत्येक १०८ होते हैं ।

(१४) सर्वार्थमागधी वाणी द्वारा जीवों को शांति प्राप्त होती थी । हरिकंशपुराण में लिखा है—

अमृतस्येन धारा तां भाषा सर्वार्थमागधी ।

पिबन् कर्णपुटैजैनी तत्परं त्रिजगत्तनः ॥ ३—१६ ॥

“जिनेन्द्र भगवान की सर्वार्थमागधी भाषा को असृत की धारा के समान कर्ण-पुटों से रस पान करते हुए त्रिलोक के जीव संतुष्ट हो रहे थे ।”

भगवान की दिव्यध्वनि सागथ नाम के अंतर देवों के निमित्त से सर्व जीवों को भलीप्रकार सुनाई पड़ती थी । आचार्य पूज्यपाद द्वारा रचित नंदीश्वर भक्ति में इस अर्थमागधी भाषा का नाम सर्वार्थमागधी लिखा है—‘सर्वार्थमागधीया भाषा’ । टीकाकार आचार्य प्रभाचन्द्र ने लिखा है ‘सर्वेभ्यो हिता सार्वा । सा धासौ अर्थमागधीया च ।’ सबके लिए हितकारी को सर्व कहते हैं । यह अर्थमागधी भाषा सर्वहितकारी थी ।

प्रातिहार्य

तीर्थकर भगवान समवशरण में अष्ट प्रातिहार्यों से समलैङ्गित हैं “अट्टपाडिहेरसहियाण्” पद तीर्थकर भक्ति में आया है । उन प्रातिहार्यों की अपूर्व छटा का जैन मंथों में समूर चर्णन पाया जाता है ।

पुष्प-वर्षी

(१) पुष्प वृष्टि पर इस प्रकार प्रकाश डाला गया है । आकाश से सुखास युक्त पुष्पों की वर्षा हो रही थी । इस विषय में धर्मशर्माभ्युदय

तीर्थेकर

काञ्च का कथन वहा मधुर और सामिक लगता है। कवि कहता है :—

वृष्टिः पौष्टी सा कुलोऽभूजमस्तः, संभाव्यते नात्र पुष्पाणि यस्मात् ।

यद्वा ज्ञाते द्रागनंगस्य दस्ताहर्त्तमीत्या हत्या दामानिषेतु ॥२१-२२॥

आकाश से यह पुष्प की बर्षा किस प्रकार हुई? यही आकाश में पुष्पों के रहने की संभावना नहीं है, प्रतीत होता है कि अरहत भगवान के भय से शीघ्र ही काम के हाथ से उसके पुष्प-भय बाण गिर पड़े।

दुदुभि नाद

(२) आकाश में देवों द्वारा दुदुभि का मधुर शब्द चित्र को आनंदित करता था। महाकवि हरिचन्द्र धर्मशार्माभ्युदय में कहते हैं :—

क्षेयं लक्ष्मीः को दशं निष्पुहत्वं, को दं ज्ञानं कास्त्यनौद्धत्यमीहक् ।

रेरे बूत द्राक्षकुतीर्थी इतीव ज्ञाने भर्तु दुन्दुभियोम्न्यवादीत ॥२०-११॥

‘अरे! मिथ्यामत-बादियो! यह तो बताओ इस प्रकार की समझशरण की अनुपम लक्ष्मी कहाँ और भगवान की श्रेष्ठ निष्पुहता कहाँ! कि वे उस लक्ष्मी का सर्पर्श भी नहीं करते? कहाँ इनका श्रिकालगोचर ज्ञान और कहाँ उनकी मद राहत वृत्ति? दुदुभि का शब्द यह कथन करता हुआ प्रतीत होता है।’

चमर

(३) भगवान के ऊपर चौसठ चमर देवों द्वारा ढारे जा रहे थे। वे चमर भगवान को प्रणाम करते हुए तथा उसके फल स्वरूप उज्ज्ञति को बताते थे। कल्याण मंदिर स्तोत्र में यही बात इन शब्दों में प्रगट की गई है :—

स्वामिन् । सुदूरमक्षनस्य समुत्पत्तं मन्ये वर्दति शुच्यः सुर-चामौघाः ।

येऽस्मै नतिं विदधते मुनिषुग्नवाय, ते नूनभूच्वगतयः खलु शुद्धभावाः ॥२२॥

हे स्वामिन! हमें यह प्रतीत होता है कि दूर से आकर आप पर ढारे गए पश्चिम देवों कृत चामरों का समुदाय यह कहता है, कि जो

नीर्थकर

सिद्ध भगवान के कर्म, कर्म नहीं हैं। चिन्ता नहीं है। आर्त तथा रौद्र ध्वनि नहीं है। धर्मध्यान तथा शुद्धध्यान नहीं है। ऐसी अवस्था ही निर्बाण है।

निर्बाण तथा सिद्धों में अभेद

कुदकुदस्वामी ने यह भी कहा है :—

शिव्यारमेव सिद्धा सिद्धा शिव्यारमिदि समुद्दिट्टा ।

कस्मत्रिमुक्तो श्राप्ता गच्छइ लोकाप-फजलं ॥ १८३॥ नियमसार ॥

निर्बाण ही सिद्ध हैं और सिद्ध ही निर्बाण हैं (दोनों में अभेदपना है)। कर्मों से वियुक्त आत्मा लोकाप्र पर्यन्त जाती है।

सिद्धों के सुख का रहस्य

भोजन-पानादि द्वारा सुख का अनुभव संसारी जीवों को है मुक्ति में ऐसी सामग्री का अभाव होने से कैसे सुख माना जाय ? यह उंका स्थूलदृष्टि वालों की रहती है। इसके समाधनार्थी सिद्धभक्ति का यह कथन महत्व पूर्ण है। भगवान ने भूख-प्यास की ग्रादुर्भूति के कारण कर्म का नाश कर दिया है। उसकी बेदना नष्ट होने से विविध भोजन, व्यंजन आदि व्यर्थ हो जाते हैं। अपवित्रता से संबंध न होने के कारण सुगंधित माला आदि का भी प्रयोगन नहीं है। गर्लान तथा निद्रा के कारण रूप कर्मों का ज्य हो गया है, अतएव मृदु शयनासनादि की आवश्यकता नहीं है। भीषण रोगजनित पीड़ा का अभाव होने से उस रोग के उपशमन हेतु ली जाने वाली औषधि अनुपयोगी है अथवा हश्यमान जगत् में प्रकाशमान रहने पर दीप के प्रकाश का प्रयोजन नहीं रहता है, इसी प्रकार सिद्ध भगवान के समस्त इच्छाओं का अभाव है, इसलिए वाद्य इच्छा पूर्ति करने वाली सामग्री की आवश्यकता नहीं है। मोहज्वर से पीड़ित जगत् के जीवों का अनुभव मोहयुक्त स्वस्थ अर्थात् आत्म स्वभाव में अवस्थित सिद्ध भगवान के विषय में लगाना अनुचित है। कहा भी है :—

नार्थःकुत्सृद्विनाशात् विविधस्युतैर्द्वयानैरशुच्या

नास्पृष्टे गैध-मल्यै नैह मृदुशयनैर्लोनि-निद्राद्यभावात् ।

आतंकोत्तरमाणे तदुपशमनसद्वेषजा-नर्थलावद् ।
दोषानर्थक्षयद्वा व्यषगत-तिर्मिरे दृश्यमाणे समस्ते ॥ ८ ॥

अधिनाशी साम्यवादः

अबर्णनीय ईंटियजभित सुख का अनुभव लेने वाले सर्वार्थसिद्धि के अहमिन्द्र सदा यशी अभिलाषा करते हैं कि किस प्रकार उनको सिद्धों का स्वाधीन, इंटियातीत अधिनाशी सुख प्राप्त हो। सर्वार्थसिद्धि के अहमिन्द्रों में पूर्णतया समानता रहने से पुण्यात्माओं का परिपूर्ण साम्यवाद पाया जाता है, ऐसा ही साम्यवाद इनसे द्वादश योजन ऊचाई पर विराजमान रिद्धों के मध्य पाया जाता है। यह आध्यात्मिक विभूतियों के मध्य स्थित साम्य है। अहमिन्द्रों का साम्यवाद तेतीस सागर की आयु समाप्त होने पर तत्त्वण समाप्त होता है अर्थात् वहों से आयु तय होने पर अवस्थान्तर में आनं पड़ता है। सिद्धों के मध्य का साम्यवाद अधिनाशी है। वे सब आत्माएं परिपूर्ण तथा स्वतंत्र हैं। एक दूसरे के परिणामन में न साधक हैं न वाधक हैं।

सुख की कल्पना

आचार्य रवियेष ने पद्मतुराण में वडी सुन्दर बात कही है—

जनेभ्यः सुखिनो भूयः भूयस्य चक्रवर्तीनः ।

चक्रिभ्यो व्यंतरस्तेभ्यः सुखिनो ज्योतिषोऽमराः ॥ १०५—१८७ ॥

ज्योतिभ्यो भवनवासास्तेऽनुत्तरविसिनः ।

तसो ग्रीवेयकावासास्तेऽनुत्तरविसिनः ॥ १८८ ॥

अनंतानंत-गुणतस्तेभ्यः सिद्धि-पदस्थिताः ।

सुखं नास्तमुक्तुष्ट विद्यते सिद्धसौख्यतः ॥ १८९ ॥

मनुष्यों की अपेक्षा राजा सुखी है। राजाओं की अपेक्षा चक्रवर्ती सुखी है। चक्रवर्ती की अपेक्षा व्यंतरदेव तथा व्यंतरों की अपेक्षा ज्योतिषीदेव सुखी हैं। ज्योतिषी देवों की अपेक्षा भवनवासी तथा भवनवासियों की अपेक्षा ग्रीवेयकावासी तथा ग्रीवेयकावासियों की अपेक्षा विगव वैजयन्त जर्वत अपराजित तथा सर्वार्थसिद्धि रूप रूप अनुकूलवासी सुखी हैं।

तीर्थकर

तित्तथ्यरणामागोदं कम्मं वंधदि" (ताम्रपत्र प्रति पृष्ठ ५) । उस महाबैध के सूत्र में सोलह कारणभावनाओं के नामों का इस प्रकार कथन आया है—

कदिहि कारणोहि जीवा तित्तथ्यरणामागोदं-कम्मं वंधदि । तत्त्व इमेणाहि सोलहकारणोहि जीवा तित्तथ्यरणामा गोदं कम्मं वंधदि । दंसगू विसुज्जदाएः विश्वायसंपरणदाएः, सीलवदेसु शिरदि आसदाएः अत्रासपसु अपरिहोणदाएः 'लग्नलुभ-पडिभज्ञक (वुज्ञक) रणदाएः, लद्धिरविग-संपरण-दाएः अरहंतमतीएः, वद्यसुद्भतीएः, पवयणुभतीएः, पवयणुच्छल्लदाएः, पवयणुप्रभावणदाएः, अभिक्षदणां रणरणापयुक्तदाएः ।

उपरोक्त नामों में प्रचलित भावनाओं से तुलना करने पर विदित होगा कि यहाँ आचार्य-भक्ति का नाम न गिनकर उसके स्थान में "श्वणलब-पडिभुजभागदा" भावना का जाग्रह किया गया है । इसका अर्थ है—क्षण में तथा लब में अर्थात् ज्ञान-क्षण में अपने रत्नत्रय धर्म के कलंक का प्रवालन करते रहना श्वणलब-प्रतिष्ठोवनना है ।

इन सोलह कारणों के द्वारा यह मनुष्य धर्म तीर्थकर जिन के बली होता है । कहा भी है—जरुस इण्ठं कम्मस्स उद्वेण सदेवासुर-माणुसस्स लोगस्स अचिह्निज्ञा पूजिणिज्ञा वंद्वणिज्ञा एमं सणिज्ञा धम्मतित्तथ्यरा जिणा केवली (केवलिणी) भवति ।

तीर्थकर प्रकृति के बंधक

जिस तीर्थकर प्रकृति के उदय से देव, अमुर तथा मानवादि द्वारा बन्दनीच तीर्थकर की पदची प्राप्त होती है, उस कर्म का बंध तीनों प्रकार के सम्यकत्वी भरते हैं । सम्यकत्व के होने पर ही तीर्थकर प्रकृति का बंध होता है । किन्तु आचार्यों का कथन है कि प्रथमोपशम सम्यकत्व का काल अन्तमेवत् प्रसारण अल्प है । उसमें सोलह भावनाओं का सम्भाव सम्भव नहीं है । अतः उसमें तीर्थकर प्रकृति का बंध नहीं होगा ।

यह भी बात समरण चीर्घ है, कि इसका वंश मनुष्यगति में ही केवली अथवा शुद्धिज्ञी वे ज्ञानीं के समीप प्रवरम्भ होता है । 'तित्तथ्यरवंध-पारंभया एरा केवला-दुर्भाग्य ।' (८३ गो० कर्मकांड)

उनसे भी अनंतानंतरगुणे सुखयुक्त सिद्धि पद को प्राप्त सिद्ध भगवान हैं। सिद्धों के सुख की अपेक्षा दूसरा और उत्कृष्ट आनंद नहीं है।

सिद्ध परमेष्ठी की महस्ता को योगी लोग भली प्रकार जानते हैं। इससे महापुराणकार उनको 'योगिनां गम्यः'—योगियों के ज्ञान गोचर कहते हैं। जिवसेन स्वामी का यह कथन प्रत्येक भुमुख के लिए ध्यान देने चाहता है :—

यीत्परमोप्यसौ ध्येयो भव्यानां भव्यविच्छिन्ने ।

विच्छिन्नक्षेत्रस्याम्य तावग्नेऽर्पितो गृणः ॥ २२-११६ ॥

भव्यात्माओं को संसार का विच्छेद करने के लिए वीतराग होते हुए भी इन सिद्धों का ध्यान करना चाहिए। कर्म वंधनका विच्छेद करने वाले सिद्ध भगवान का यह नैसर्गिक गुण कहा गया है।

आचार्य का अभिप्राय यह है कि सिद्ध भगवान वीतराग है। वे ध्वनि किसी को कुछ नहीं देते हैं, किन्तु उनका ध्यान करने से तथा उनके निर्मल गुणों का चितवन करने से आत्मा की मलिनता दूर होती है और वह मुक्ति के भाग में प्रगति को प्राप्त करती है। सिरेजन निर्विकार तथा निराकार सिद्धों के ध्यान की रूपातीत नाम के धर्म ध्यान में परिगणना की गई है।

रूपातीत-ध्यान

रूपातीत ध्यान में सिद्ध परमात्मा का किस प्रकार योगी चिन्तन करते हैं वह ज्ञानार्थी भी इस प्रकार कहा है :—

द्योमाकारमन्ताकारं निष्पत्तं शात्मच्युतम् ।

स्वरमांगत्वित्यन्त्यन् स्वप्रदेशर्थनैः स्थितम् ॥ २२ ॥

लोकाग्र-शिखरासीलं शिवीभूतमनामयम् ।

पुरुषाकारसापत्रमयमूर्ते च चिन्तयेत् ॥ २०-२३ ॥

आकाश के समान अमृत, पौद्वगलिक आकार रहित, परिपूर्ण, शांत, अविनाशी, चरम देहसे किंचित् न्यून, वनाकार

आत्म प्रदेशों से युक्त, लोकात्रके शिखर पर अवस्थित, कल्याणमय, स्वस्थ, रपशोंदिमुण रहित तथा पुरुषाकार परमात्मा का ध्यान सूक्ष्मातीत ध्यान में करे ।

ध्यान के लिए मार्ग-दर्शन

ध्यान के अभ्यासी के हितार्थ आचार्य शुभचंद्र ने ज्ञानार्थव में यह महत्व पूर्ण मार्गदर्शन किया है :—

अनुप्रेक्षात्र वर्त्यस्य स्युः सदैव निर्बन्धनम् ।

चित्तभूमौ स्थिरकृत्य स्वन्दृहृपं निरप्य ॥ ४१—३ ॥

हे साधु ! अनुप्रेक्षात्रों का चित्तबन सदा धर्मध्यान का कारण है, अतएव अपनी मनोभूमि में द्वादश भावनाओं को स्थिर करे तथा आत्म स्वरूप का दर्शन करे ।

ब्रह्मदेव सुरि का यह अनुभव भी आत्म ध्यान के प्रेमियों के ध्यान योग्य है “यद्यपि प्राधमिकानां सचिकल्पावस्थावां चित्तस्थितिकरणार्थं विषय-कषायरूप-दुर्घात्मनवचनार्थं च जिनप्रतिमात्मादिकं ध्येयं भवतीति, तथापि निश्चय-ध्यानकाले स्वशुद्धात्मैव इति भावार्थः” (परमात्मप्रकाश टीका पृष्ठ ३०२, पद २८८)—यद्यपि सचिकल्प अवस्था में प्रारंभिक श्रेणी वालों के चित्त को स्थिर करने के लिए तथा विषय-कषायरूप दुर्घात्मन अथोत् आर्तध्यान, रौद्रध्यान दूर करने के लिए जिन प्रतिमा तथा जिन वाचक अन्तरादिक भी ध्यान के योग्य हैं, तथापि निश्चय ध्यान के समय शुद्ध आत्मा ही ध्येय है ।

जिनेन्द्र भगवान की मूर्ति के निमित्त से आत्मा का रागभाव मन्द होता है, परिणाम निर्भल होते हैं तथा सम्यदर्शन की आप्रिहाती है ।

सिद्ध-प्रतिमा

सिद्ध परमात्मा का ध्यान करने के लिए भी जिनेन्द्र देव की प्रतिमा उपयोगी है । सिद्ध प्रतिमा के स्वरूप पर आचार्य बसुनंदि सिद्धांतचक्रवर्ती ने मूलाचार की टीका में इस प्रकार प्रकाश डाला

है :—“अष्टमहाप्रानिहार्यसमन्विता अहंत्यतिमा, नद्रहिता सिद्ध-प्रतिमा ।”—जो प्रतिमा अष्टप्रानिहार्ये समन्वित हो, वह अरहंत मगवान की प्रतिमा है। अष्टप्रानिहार्ये रहित श्रात्मा को सिद्ध-प्रतिमा कामना चाहिए। इस विषय में यह कथन भी ध्यान देने योग्य है, “अथवा कुत्रिमाः यास्ता अहंप्रतिमाः, अकुत्रिमाः सिद्धप्रतिमाः” (गुण्ड २१ गाया २५)—अथवा संश्लेष्ण गुण्ड विजेत्र प्रतिमा अरहंत प्रतिमा हैं। अकुत्रिम प्रतिमाओं को सिद्ध प्रतिमा कहा है।

इस आगम बाणी के होते हुए जो वालु विशेष में पुरुषकार शून्य स्थान बनाकर उसके पीछे दृश्य को रखकर उसे सिद्ध प्रतिमा मानने की प्रवृत्ति विचार योग्य है। उस प्रकार की मृति का जब आगम में विधान नहीं है तब आगम की आज्ञा को शिरोधार्ये करने वाला व्यक्ति अपना कर्तव्य और कल्याण स्वर्वं विचार सकता है। दक्षिण भारत के प्राचीन और महत्वपूर्ण जिन भेदिरों में इस प्रकार को सिद्ध प्रतिमाएँ नहीं पाई जातीं, जैसी उत्तर भांत में कहीं-कहीं देखी जाती है। आगम-प्राण सत्पुरुषों को परमागम प्रतिपादिन प्रवृत्तियों को ही प्रात्साहन प्रदान करने का गूर्ण प्रयत्न करना चाहिए।

निर्वाण यद और दिगम्बरत्व

सिद्ध यद को प्राप्त करने के लिए संश्लेष्ण परिग्रह का स्वार कर बन्द्र रहित (अचंल) मुद्रा का धारण करना अत्यंत आवश्यक है। यह दिगम्बर मुद्रा निर्वाण का कारण है इसलिए इसे निर्वाण मुद्रा भी कहते हैं। दक्षिण भारत में दिगम्बर दीक्षा लेने वाले मुनि राज को “निर्वाण-स्वामी” कहने का जननाम में प्रचार है। अजैन भी निर्वाण-स्वामी को जानते हैं।

सिद्धों का ध्यान परम कल्याणदायी है, इसना सात्र जानकर भाग तथा विषयों में निमग्र व्यक्ति कुछ ज्ञान वैठकर ध्यान करने का अभिनव करता है, किन्तु इससे मनोरथ सिद्ध नहीं होता। ध्यान के योग्य सामग्री का मूलाग्राहन टीका में इस प्रकार उल्लेख किया गया है :—

रमन्त्यतः कल्याणां निश्चहो त्रित्यरणम् ।

मनेत्तदाभ्यां जयेत्ते ति समाधी ध्यानजनन्मनः ॥ १० ३४ ॥

वस्त्रादि परिषद का परित्याग, बपायों का निप्रह, व्रतों की धारण करना, सन तथा इंद्रियों का वश में फरना रूप सामर्थी ध्यान की उत्पत्ति के लिए आवश्यक है।

इच्छ्य परिषद-परित्याग का उपयोग

“ वाह्यचेजादिभेदस्वयम् ५ अभ्यंतरपरित्यागमूलः ॥ ”— वाह्य पदार्थ-वस्त्रादि का परित्याग अंतरंग त्याग का मूल है, जैसे चांदल के ऊपर लगी हुई मलिनता दूर करने के पूर्व में तंदुल का छिलका दूर करना आवश्यक है, तत्पश्चात् चांदल के भीतर की मलिनता दूर की जा सकती है, इसी प्रकार वाह्य परिषद् त्यागमूर्खक अंतरंग में निर्मलता प्राप्त करने की प्राप्तता प्राप्त होती है। जो वाह्य मलिनता को धारण करते हुए अंतरंग मलिनता को छोड़ ध्यान का आनन्द लेने हुए चिछों का ध्यान करना चाहते हैं, कर्मों की निर्जरा तथा संवर करने की सनोकासना करते हैं, वे जल का मंथन करके घृत ग्राहि का उच्चोग सहशा कर्य करते हैं। इससे यह स्पष्ट हो जाता है, कि वस्त्रादि के भार से जो मुक्त नहीं हो सकते हैं, उनकी गुक्कि को ओर यथार्थ में प्रवृत्ति नहीं होती है। जो देशसंयम धारण करते हुए दिग्भ्यर मुद्रा की लालसा रखता है, वह श्रावक मार्गस्थ है। धीरे-धीरे वह अपनी प्रिय पदबी की प्राप्ति कर सकेगा, किन्तु जो वस्त्र-त्यागादि को अवैर्य सोचते हैं, वे सकलंक श्रद्धा वश अकलंक पदबी को स्वप्न में भी नहीं प्राप्त कर सकते हैं। गंभीर विचार वाला असुभवी सत्युरुप पूर्वोक्त वात का महत्व शोब्र समझेगा।

सूलाराधना में कहा है, शूकुटी चढ़ाना आदि चिछों से जैसे अंतरंग में क्रीधादि विकारों का सञ्चाब सूचित होता है, इसी प्रकार वाह्य अचेलता (वस्त्र त्याग) से अंतर्मल दूर होते हैं। कहा भी है :—

वहिरकरणविमुद्धी अभ्यंतरकरण-सोयणत्याप ।

ए हु कंठस्थ सोधी सक्का सत्युरुप काहुजे ॥ १३४८ ॥

वाह्य तथ द्वारा अंतरंग में विमुद्धता आती है तथा जो धान्य सतुरुप है, उसका अंतर्मल नष्ट नहीं होता है। तुष्ण्यून्य धान्द नहीं शुद्ध किया जाता है।

इस शान्ति के उदाहरण से यह बात स्पष्ट हो जाती है, कि अंतरंग मल दूर करने के पूर्व बाह्य स्थूल परिप्रह रूप मलिनता का स्थान आवश्यक है। कोई-कोई लोग सोचते हैं, अंतरंग पवित्रता पद्धते आती है, परन्तु परिप्रह का स्थान होता है। यह अभ्यृण्ड हाधि है। बस्त्रादि त्याग के उपरान्त परिणाम अप्रमत्त गुणस्थान को प्राप्त होते हैं। बस्त्रादि सामग्री समन्वय शरीर के रहने हुए देशसंबंध गुणस्थान से आगे परिणाम नहीं जा सकते हैं।

यह बात भी ध्यान देने योग्य है, कि ऐसे कृत्रिम नमून गुद्राधारी भी व्यक्ति रहते हैं, जिनने बाह्य परिप्रह का तो त्याग कर दिया है, किन्तु इनमें मल स्वच्छ नहीं है, वह उत्तमता के अनुकूल नहीं है। इसके सिवाय यह भी विषय नहीं सुलाना चाहिए कि जिसकी आंतरिक शुद्धि है, उसके पहले बाह्य परिप्रह रूप विकृति दूर होनी चाहिए।

बाह्य परिप्रह द्वारा जीव-बात

बाह्य परिप्रह में जिनको दोष नहीं दिलता है, वे कम से कम यह तो सोच सकते हैं कि बस्त्रादि को स्वच्छ रखने में उनकी धोने आदि के कार्य में त्रस-स्थावर जीवों का भात होता है, वह हिंसा समर्थ आत्मा बना सकती है, अतः बाह्य परिप्रह के स्थान द्वारा अहिंसादि की परिपालना होती है यह बात समन्वयशील न्यायबुद्धि मानव को ध्यान में रखना उचित है। कोई-कोई सोचते हैं कि हमारे यहाँ शास्त्रों में बस्त्रादि परिप्रह के त्याग बिना भी साधुत्व माना जाता है। ऐसे लोगों को आत्महितार्थ गहरा विचार करना चाहिए। यह सोचना चाहिए कि मनुष्य जीवन का पाना खिलवाड़ नहीं है। आत्मकल्याण के लिए भय, संकोच, मोहादि का त्याग कर सत्य को शिरोधार्य करना सत्पुरुष का कर्तव्य है। संपूर्ण कर्मों का नाश करने वाले सिद्ध परमेश्वरी की पदवी अरहंत भगवान से बड़ी है, यद्यपि भगवान शब्द दोनों के लिए उपयोग में आता है।

सिद्धों के विशेष गुण

इन सिद्धों के चार अनुजीवी गुण कहे गए हैं। जो धार्तया

तीर्थंकर

कर्मों के विनाश से अरहंत अवस्था में ही उत्पन्न होते हैं। ये गुण भावात्मक कहे गए हैं। ज्ञानावरण के त्रय से केवलज्ञान, दर्शनावरण के विनाश से केवलदर्शन, मोहनीय के उच्छ्रेद से अविचलित सम्यक्त्व तथा अंतराच के नाश इतरा अनेतरवीर्यता रूप गुण चतुष्प्रथ प्राप्त होते हैं। अवातिया कर्षों के अभाव में चार प्रतिजीवी गुण उत्पन्न होते हैं। वैदनीय के विनाश से अव्याक्राधत्व प्रगट होता है। गोत्र के नाश होने पर अगुरुलबु गुण प्राप्त होता है। नाम कर्म के अभाव में अवगाहनत्व तथा आयु कर्म के (जिसे जगत् मृत्यु, यमराज आदि नाम से पुकारता है) विनाश होने पर सुदमत्व गुण प्रगट होते हैं। इन अनुजीवी तथा प्रतिजीवी गुणों से सम्बन्धित यह सिद्ध पर्याय है। इसे स्वभाव-द्रव्य-व्यञ्जन-पर्याय भी कहा है। आलाप-पद्धति में लिखा है “स्वभाव-द्रव्य-व्यञ्जन-पर्यायाऽचरमशरीरात्-किंचित् चूलः पिण्डपर्यायः (पृष्ठ २३६)”

कैलाशगिरि पर मंदिरनिर्माण

भगवान् ऋषभदेव के निर्वाण के कारण कैलाश पर्वत पूज्य स्थल बन गया। चक्रवर्ती भरत ने उस पर्वत पर अपार वैभवपूर्ण जिन मंदिर बनवाए थे। उन मंदिरों की रक्षार्थी अजितनाथ भगवान के तीर्थ में उत्पन्न सगर चक्रवर्ती के पुत्रों ने आसपास खाई खोदकर इसे जल से भरा था। उत्तरपुराण में कहा है:—

राजाप्याङ्गाप्रिता यूयं कैलासे भरतेशिना ।

गृहा कृता महात्मैश्चतुविरातिरहंताम् ॥ २०७ ॥

तेषां गंगां प्रकुर्वीत्वं परिखां परितो गिरिम् ।

इति तेषि तथा कुर्यन् दंडस्तनेन स्तवरम् ॥ १०८ ॥ अध्याय १.

चक्रवर्ती सगर ने अपने पुत्रों को आज्ञा दी कि महाराज भरत ने कैलाश पर्वत पर महारक्षों के अरहंत देव के चौबीस जिनालय बनवाए हैं। उस पर्वत के चारों ओर खाई के रूप में गंगा का प्रवाह बहा दो। यह सुनकर उन राजपुत्रों ने दण्डरक लेकर शीघ्र ही उस काम को पूर्ण कर दिया। गुणभद्र आचार्य ने यह भी कथन किया है कि राजा भगीरथ ने वैराग्य उत्पन्न होने पर बरदत्त पुत्र को राज्यलद्धी देकर कैलाश पर्वत पर जाकर शिवगुप्त महासुनि के समीप जिन

दीक्षा ली और गंगा के किनारे ही प्रतिमायोग धारण किया। गंगा के तट से ही उन्ने मोक्ष प्राप्त किया था। इन्द्र ने आकर लीरसागर के जल से भागीरथ मुनि के चरणों का अभिषेक किया था। उस अभिषेक का जल गंगा में पिला, तब से ही यह गंगा संसार में नीर्थ रूप में पूज्य मानी जानी है। कहा भी है—

गुरेन्द्रे खास्थ दुर्विद्वय-पश्चिमामं षेचनात् ।

ऋग्ये रुद्रव्राहस्य गंगायः संगमे सति ॥ १४० ॥

तदाप्रभृति तीर्थत्वं गंगायस्मिन्नु पापहात् ।

कुलवोल्कुर्ण तपो गगतं निर्वृतिं गतः ॥ १—१४१ ॥

वैदिक लोग भी कैलाशगिरि को पूज्य मानते हैं—वे हिमालय पर्वत के समीप जाकर कैलाश की यात्रा करते हैं। कैलाश का जैसा वर्णन उत्तरपुराण में किया गया है, वैसी सामग्री का सद्भाव अब तक ज्ञात नहीं हो सका है। उसके शिथय में यदा-कदा कोई लेख भी छपे हैं, किन्तु उनके द्वाराऐसी सामग्री नहीं मिली है, जिसके आधार पर उस तीर्थ की वंदना का लाभ ढाया जा सके। कैलाश नदि के पर्वत का ज्ञान होने के साथ निर्विण स्थल के सूचक कुछ जैनचिन्हों का सद्भाव ही उस तीर्थ के विषय में संदेहमुक्त कर सकेगा। अब तक तो उसके विषय में पूर्ण आज्ञानकारी है।

उपयोगी चित्तवन

अव्याहतमात्रों को मोक्ष प्राप्त तीर्थकरों के विषय में यह किन्तु करना चाहिये कि चेतन्य ज्योति समलंकृत चौबीसों भगवान सिद्धालब ने विराजमान हैं। भगवान ऋषभदेव, बासुपूज्य और नेमिनाथ ने पद्मासन से मोक्ष प्राप्त किया, शेष इककीस तीर्थकरों की मुक्ति खड़ासन से हुई थी, अतः उनका उसी बासन में चित्तवन करना चाहिये। जैसे दीप वली के अभाव समय महावीर प्रभु के विषय में व्यान करते समय खोना चाहिए कि पावापुरी के चरणों के ठीक उपर लोक के अपभाग में खड़ासन से सात हाथ कँचाई बाली आत्मज्योति विराजमान है। तिलोयपरणति में कहा है—

उस्हो य वधुपुज्जो रेमी पल्लंकवद्या सिद्धा ।

आउसरगेण जिणा सेता भृति समवरणा ॥४—१२५०॥

मोक्ष की प्राप्ति के चौथ्य स्थान कर्मभूमि मानी गई है। पन्द्रह कर्मभूमियाँ जंबूदीप, धातकीखण्ड तथा पुष्करार्ध द्वीप में हैं। जंबूदीप में भरतचौत्र, ऐरावत चौत्र तथा विदेह चौत्र (देषकुठ तथा उत्तरकुठ को छोड़कर) रूप कर्मभूमि मानी गई है। आजकल जंबूदीप सम्बन्धी विदेह में पूर्व तथा पश्चिम विदेहों के दो-दो भागों में चार विद्यमान तीर्थकर पाए जाते हैं। धातकीखण्ड में उनकी संख्या आठ कही है, कारण वहाँ दो भरत, दो ऐरावत, दो विदेह कहे गए हैं। पुष्करार्ध द्वीप में धातकीखण्ड सहशा वर्णन है। वहाँ भी आठ विद्यमान तीर्थकर हैं। इस प्रकार कम से कम $4+6+8=20$ बीस विद्यमान तीर्थकर कहे गए हैं। अधिक से अधिक तीर्थकरों की संख्या एक समय में एक सौ सत्तर कही गई है।

तीर्थकरों की संख्या

पंच भरत, पंच ऐरावत जैत्रों में दुष्मासुषमा नामके चतुर्थ कालमें दस तीर्थकर होते हैं। एक विदेह में बत्तीस तीर्थकर होते हैं। पाँच विदेहों में १६० तीर्थकर हुए। कुल मिलाकर उनकी संख्या १७० कही गई है। हरिवंशपुराण में लिखा है :—

द्वौपैष्वर्धतृतीयेषु सप्तति-शतात्मके ।

धर्मज्ञेत्रे त्रिकालोभ्यो जिनादिभ्यो नमो नमः ॥

अदाई द्वीप में १७० धर्मज्ञेत्रों में भूत, वर्तमान तथा भविष्यत् काल सम्बन्धी अरहतादि जिनेन्द्रों को नमस्कार हो।

विदेह में तीर्थकरों के कल्याणक

विदेह के तीर्थकरों में सबके पाँचों कल्याणकों का नियम नहीं है। भरत तथा ऐरावत में पंचकल्याणकवाले तीर्थकर होते हैं। विदेह में किन्हीं के पाँच कल्याणक होते हैं, किन्हीं के तीन होते हैं, किन्हीं के दो भी कल्याणक होते हैं। इस विषय में विशेष इस प्रकार जानना चाहिये कि विदेह में जन्मप्राप्त श्रावक ने तीर्थकर के पादमूल में तीर्थकर प्रकृति का वंध किया। यह यदि चरमशरीरी है, तो उस जीव के तपकल्याणक, हानकल्याणक तथा निर्वाणकल्याणक होंगे। यदि श्रावक के स्थान में मुनि पदवी प्राप्त महापुरुष ने तीर्थकर प्रकृति का

बंध किया और वह अरम शरीरी आत्मा है तो उनके ज्ञानकल्याणक तथा मोक्षकल्याणक होते हैं। पाँच कल्याणक वाले तीर्थकर तो सर्वत्र चिर्यात हैं। चार कल्याणक नथा एक कल्याणक वाले तीर्थकर नहीं होते। कहा भी है :—

“तीर्थदधारं मश्वरमागारणसंयत-देशसंवतयोस्तदा कल्याणानि निक्रमणादीनि त्रीणि, प्रमत्ताप्रमत्तयोस्तदा ज्ञाननिर्वाणे दे। प्रागभवे तदा गर्भावतारादीनि पञ्चत्यवसेयम्” (गोमटसार कर्मकांड गाथा ५४६ की संस्कृतटीका पृष्ठ ७०८) — जब तीर्थकर प्रकृति के बंध का प्रारंभ चरमशरीरी असंजभी अथवा देशसंयती करते हैं, तब तप, ज्ञान तथा निर्वाण ये तीन कल्याणक होते हैं। जब प्रमत्त संयत तथा अप्रमत्त संयत बंध का प्रारंभ करते हैं, तब ज्ञान और निर्वाण ये दो कल्याणक होते हैं। यदि पूर्वभव में बंध को प्रारम्भ किया था, तो गर्भावतरण आदि पञ्चकल्याणक होते हैं।

सूक्ष्म विचार

इस संबंध में सूक्ष्म विचार द्वारा यह महत्व की बात अवगत होगी कि तीर्थकर प्रकृति सहित आत्मा को तीर्थकर कहते हैं। उसका उदय केवली सगवान में रहता है। उसकी सत्ता में तो मिथ्यात्व गुणस्थान तक ही सकती है। एक वर्याक्ति ने भरतक्षेत्र में तीर्थकर प्रकृतिका बंध किया। वह सरण कर यदि दूसरे या तीसरे नरक में जन्म धारण करता है, तो अपर्याप्तावस्था में वह मिथ्यात्मी ही होगा। सम्यक्त्वी जीव का दूसरी आदि पृथिव्यों में जन्म नहीं होगा है। उन पृथिव्यों में उत्पन्नि के उपरान्त सम्यक्त्व हो सकता है। तीर्थकर प्रकृति की सत्ता वाला जीव तीसरे नरक तक जाता है। वहाँ सम्यक्त्व उत्पन्न होने के उपरान्त पुनः तीर्थकर प्रकृति का नंव हो सकता है। तीर्थकर प्रकृति के बंध का आरंभ मनुष्य गति में होता है, उसका निष्टापन देवगति-तथा नरक-गति में भी होता है।

तीर्थकर का निर्वाण

तीर्थकर रूप में जन्म धारण करने वाली आत्मा के गर्भ, अन्म, तप तथा ज्ञान कल्याणक होते हैं। इन अवस्थाओं में तीर्थकर

तीर्थकर

प्रकृति का अस्तित्व रहता है। अयोग केवली के अंतिम समय में तीर्थकर प्रकृति का जब हो गया, अतः उसकी सत्ता शेष नहीं रही। निर्बाण प्राप्त सिद्ध जीव के तीर्थकर प्रकृति नहीं है। उनका निर्बाण-कल्याणक किस प्रकार तीर्थकर का निर्बाण कल्याणक कहा जायगा? अब वे तीर्थकर पद बाच्यता से अतीत हो चुके हैं; अतएव सूक्ष्म दृष्टि से तीर्थकर नामकर्म सहित आत्मा के गर्भ, जन्म, दीक्षा तथा ज्ञान कल्याणक कहे जायंगे।

यहाँ यह राक्षा उत्तम होती है कि आगम में तीर्थकर को पंचकल्याण-संपत्ति (पंचकल्याण-संपरणाण) क्यों कहा है ? इसके समाधान में यही कहा जायगा कि भूतपूर्व नैगम नय की अपेक्षा यह कहा जाता है। एवंभूतनय की अपेक्षा ऐसा नहीं कहा जा सकता। जैन धर्म का सौन्दर्य उसकी स्वादादृश्यां पायत्र देशनामें है, जिसके कारण अविरोध रूप से पदार्थ का कथन होता है। उसी स्वादादृ से इस प्रश्न पर दृष्टि डालने पर शंका दूर हो जाती है।

भरत तथा ऐरावत में पंचकल्याणक बाले ही तीर्थकर क्यों होते हैं, विदेह के समान तीन अथवा दो कल्याणक संपत्ति महापुरुष क्यों नहीं होते ? इसका विशेष कारण चितनीय है। भरत तथा ऐरावत में एक उत्सर्पिणी में चौबीस तीर्थकर होते हैं और अवसरिणी में भी चौबीस होते हैं। अवसरिणी के चौथे काल में तथा उन्सरिणी के तीसरे काल में इनका सज्जाव माना गया है। दुष्मा-सुष्मा काल के सिवाय अन्य कालों के होने पर इन स्थानों में भोक्तुमार्ग नहीं रहता। विदेह में नित्य भोक्तुमार्ग है, कारण वहाँ दुष्मासुष्मा काल का सदा सज्जाव पाया जाता है। वहाँ तो ऐसा होता है कि एक तीर्थकर के समक्ष कोई अन्य तीर्थकर प्रकृति का बंध करता है। जब युरुदेव तीर्थकर सोक चले गए, तो उस समय इस चरम शरीरी आत्मा के दीक्षा लेने पर तपादि कल्याणकों के क्रम में वाधा नहीं आती। दो तीर्थकरों का परस्पर में दर्जन नहीं होता, जैसे दो चक्रवर्तियों आदि का भी परस्पर दर्शन नहीं होता। भरत तथा ऐरावत में ऐसी पद्धति है कि एक तीर्थकर के समीप किसी ने तीर्थकर प्रकृति

तीर्थकर

इस प्रकृति का वंध तिर्यंच गर्भत वो लोड शेष तीन गतियों में होता है। इसका उत्कृष्टपने से अम्लमुहूर्त अधिक आठ वर्ष न्यून दो कोटि पूर्व अधिक तेतीस साल तक प्रभाण काल पर्याल वंध होता है। केवली श्रुतकेवली का सानिध्य आवश्यक कहा है, क्योंकि "सद्बन्धन ताहमिक-शुद्धिवशेषासंभवात्" उनके सानिध्य के सिवाय चैसी विशुद्धता का अन्यत्र अभाव है।

नरक की प्रथम पृथ्वी में तीर्थकर प्रकृति का वंध पर्याप्त तथा अव्याप्त अवस्था में होता है। दूसरी तथा तिसरी पृथ्वी में पर्याप्त अवस्था में ही इसका वंध होता है। अगे के नरकों में इस प्रकृति का वंध नहीं होता है। कहा भी है—

घममे तिर्थं वंधति यंसेयाणु पुण्याणो चेत् ॥१०८॥ शोऽ द्वै०

गोमटसार कर्मकांड^१ गाथा १३६ में लिखा है कि तीर्थकर प्रकृति का उत्कृष्ट स्थितिवेद अधिकरत सम्यक्त्वी के होता है। तित्थयर्च समुख्यसो अविरदसम्यो उमजे ॥ इसकी संस्कृत टीका में लिखा है—“तीर्थकर उत्कृष्ट-स्थितिकं नरकगति-गमनाभिमुख-मनुष्याशंचत सम्यक्त्वाद्विरेष वद्धात्” (बड़ी टीका अ० १३४) — उत्कृष्ट स्थिति सहित तीर्थकर प्रकृति को नरकगति जाने के उन्मुख असंयत सम्यक्त्वी मनुष्य ब्राह्मण है, किन्तु उसके तीव्र संकलेश भाव रहता है। उत्कृष्ट स्थिति वंध के लिए तीव्र संकलेश वृक्षत पारणाम आवश्यक है। नरक गति में गमन के उन्मुख के तीव्र संकलेश के कारण तीर्थकर रूप शुभ प्रकृति का अल्प अनुभाग वंध होता क्योंकि “सुदृपयडीए विसोही तिव्वी अनुदाणे संकिलेसेष्य” (१३५) — शुभ प्रकृतियों का तीव्र अनुभाग वंध विशुद्ध भावों से होता है तथा उन्मुख प्रकृतियों का तीव्र अनुभाग वंध अंसेश से होता है;

अपर्वकरण ग्रुणस्थान के दृश्ये जाय तक इस तीर्थकर प्रकृति का वंध होता है। वहाँ इसका उत्कृष्ट अनुभाग वंध पड़ेगा। स्थिति वंध का स्थ विपरीत होगा जबो; बढ़ न्यून होगा।

सोलह कारण भाज्ज्ञाओं में दर्शन विशुद्धि की मुख्यता मानी गई है। ८० आशाधर जी ने सामाजिक अध्याय द के ७६ वें श्लोक की टीका में लिखा है—“एक्षया-असहावया विनयसंपन्न-

तीर्थकर

का बंध किया है जैसे श्रेष्ठिक यज्ञ ने दीर भगवत के सानिध्य में तीर्थकर प्रकृति का बंध किया था। उसके उपरान्त वह जीव वा तो स्वर्ग में जायगा, या नरक में जायगा, इसके पश्चात् वह तीसरे भव में तीर्थकर होकर मुक्त होता है।

विदेह नित्य धर्मभूमि है, अतएव वहाँ चरम शरीरी जीव तीर्थकर प्रकृति का बंधकर उसी भवमें मोक्ष जाता है। भरतलेत्र, ऐरावत क्षेत्र में एक ही भव में तीर्थकर प्रकृति का बंध करके उसी भव से मोक्ष जाने का क्रम नहीं है। बीस कोङ्कणी सागर प्रमाण कल्प काल में भरत तथा ऐरावत में चौबीस तीर्थकर उत्सर्पिणी तथा चौबीस ही अवसर्पिणी में होगे। विदेह का हाल अपूर्व है। इतने लम्बे काल में वहाँ से विपुल संख्या में तीर्थकर मुक्त प्राप्त करते हैं। एक कोटि पूर्व की आयु प्राप्त कर मोक्ष जाने के पश्चात् दूसरे तीर्थकर की उत्पत्ति होने में कोई प्रतिबन्ध नहीं है।

सिद्धलोक और कर्मभूमि का लेत्रफल

कर्मभूमियों से ही जीव सिद्ध होते हैं, किन्तु सिद्धलोक का लेत्र पैतालीस लाख योजन प्रमाण कहा है, उसमें कर्मभूमि तथा भोगभूमियों का लेत्र आ जाता है। अतः प्रश्न उत्पन्न होता है कि क्या देवकुरु उत्तरकुरु हैमवत क्षेत्र, हरिलेत्र, रम्पक लेत्र, हैरण्यवत् लेत्रों से भी मोक्ष होता है? यदि मोक्ष मानते हो, तो उनको भोगभूमि के स्थान में कर्मभूमि क्यों नहीं कहा गया है?

इस प्रश्न का समाधान अत्यन्त सरल है। सर्वार्थसिद्धि में पठ्यपाद् स्वासी के द्वारा कहा गया कथन ध्यान देने योग्य है—“कस्मिन् लेत्रे सिध्यन्ति? प्रत्युत्पन्नाहिनचापेक्षया सिद्धिलेत्रे, स्वप्रदेशो, आकाश प्रदेशो वा सिद्धिर्भवति। भूतयाहिनचापेक्षया जन्मप्रति पञ्चदशसु कर्मभूमिषु, संहरणं प्रति मातुपक्षेत्रे सिद्धिः” (अध्याय १०, सूत्र ८ की टीका)। प्रश्न—किस लेत्र में सिद्ध होते हैं? इत्तर—वर्तमान को प्रहण करने वाले नय की अपेक्षा निर्बाणलेत्र से मुक्त होते हैं; अपनी आत्मा के प्रदेशों में मुक्त होते हैं, अथवा शरीर के द्वारा युद्धीत आकाश के प्रदेशों से सिद्धि होती है। भूतकाल को प्रहण करने वाले नय की अपेक्षा से पंद्रह कर्मभूमि में जन्म प्राप्त जीव वहाँ सिद्ध होता है। वहाँ

तीर्थकर

अन्ध प्राप्त जीव को देव आदि अन्य क्षेत्रों में ले जावें, तो समस्त मनुष्यक्षेत्र निर्बाणभूमि है। इस कथन से शंका का निराकरण हो जाता है।

महत्व की बात

सर्वार्थसिद्धि में एक और सुन्दर बात लिखी है “अवसर्पिण्यां” सुषम-दुष्ममायाः अन्त्ये भागे दुष्मसुषमायां च जातः सिध्यति । न तु दुष्ममायां जातो दुष्ममायां सिध्यति । अन्यदा नैव सिध्यति । संहरणतः सर्वस्मिकान्ते उत्सर्पिण्यामवसर्पिण्यां च सिध्यति” (१० अश्याय सूत्र ६)—अवसर्पिणी काल में सुषम-दुष्ममा नाम के नृतीय काल के अंतिम भाग में तथा दुष्मस-सुषमा नामके चतुर्थकाल में जन्मज्ञान लग्ने वाला दोहरा जाता है। दुष्ममा नामक पंचम काल में उत्पन्न हुआ पंचम काल में मुक्त नहीं होता । अन्यकालों में मोक्ष नहीं होता । किसी देवादि के द्वारा लाया गया जीव उत्सर्पिणी, अवसर्पिणी के सभी कालों में सिद्ध पदवी को प्राप्त करता है । इस कथन का भाव यह है कि विदेह सदृश कर्मभूमि में सदा मोक्षमार्ग चालू रहता है । अन्य कर्मभूमि के क्षेत्रों में काल क्रृत परिवर्तन होने से मोक्षमार्ग रुक गया । ऐसे काल में भी देवादि के द्वारा लाया जीव इन क्षेत्रों से मुक्त हो सकता है, जहां मुक्ति जाने वोग्र चतुर्थ काल का सद्धाव नहीं है ।

प्रश्न :—जब समस्त पैतालीस लाख योजन अमाणु मनुष्य क्षेत्र को निर्बाणस्थल माना है, तब पावापुरी, चम्पापुरी आदि कुछ विशेष स्थानों को निर्बाण स्थल मानकर पूजने की पद्धति का अन्तरण रहस्य क्या है ?

समाधान—आगम में लिखा है कि छठवें काल के अन्त में जब उनधास दिन शेष रहते हैं, तब जीवों को आसदायक भयंकर प्रलयकाल प्रवृत्त होता है । उस समय महा गंभीर एवं भीषण संवर्तक वायु बहती है, जो सात दिन पर्यन्त वृक्ष, पर्वत और शिला आदि को चूर्ण करती है । इससे जीव मूर्छित होते हैं और मरण को प्राप्त करते हैं । मेघ शीतल और ज्वार जल तथा विष जल में से प्रत्येक को सात-

तीर्थेकर

सात दिन तक बरसाते हैं। इसके सिवाय वे मेघ-भूमि, धूलि, वज्र तथा अग्नि की सात-सात दिन तक वर्षा करते हैं। इस क्रम से भरत क्षेत्र के भीतर आर्य खण्ड में चित्रा पृथ्वी के ऊपर स्थित वृद्धिगत एक ओजन की भूमि जलकर नष्ट हो जाती है। वज्र और महाअग्नि के बल से आर्य खण्ड की बड़ी हुई भूमि अपने पूर्ववर्ती स्वरूप की ओङ्कर धूलि एवं कीचड़ की कल्पता रहित हो जाती है। (तिलोचपरणति ३४७ पृष्ठ)। उत्तरपुराण में लिखा है :—

ततो वस्त्राः वैषम्यविमो सति सवतः
भैचित्रा समा भूमिः समाप्तात्रावसर्पिणी ॥ ७६—४५३

उत्तरास दिन की अग्नि आदि की वर्षा से पृथ्वी का विषम-पना दूर होगा और समान चित्रा पृथ्वी निकल आयगी। यहाँ पर ही अवसर्पिणी काल समाप्त हो जायगा। इसके पश्चात् उत्सर्पिणी काल प्रारंभ होगा। उस समय बीर, अमृत आदि जाति के मेघों की वर्षा होगी, उससे सब वस्तुओं में रस उत्पन्न होगा। आगम के इस कथम से यह स्पष्ट हो जाता है कि छठवें काल के अन्त में सभी भवनादि कृत्रिम सामग्री इस आर्य खण्ड में नष्ट हो जायगी, तब निर्वाण स्थान आदि का भी पता नहीं रहेगा। इस स्थिति में आगमी होने वाले जीव अपने समय से मोक्ष जाने वाले महापुरुषों के निर्वाण स्थानों को पूजेंगे। इतनी विशेष बात है कि सम्मेदशिखर को आगम से तीर्थेकरों की स्थायीनिवारणभूमि माना है। इस हुँडावसर्पिणी कालके कारण आदिनाथ भगवान का कैलाश, नेमिनाथ का गिरनार, वासुपूज्य का चंपापुर तथा बीर प्रभु का पावस्पुर निर्वाण स्थान बन गए। अन्य काल में ऐसा नहीं होता; इसलिए सम्मेदशिखर तो अविनाशी तीर्थरूपता धारण करता रहेगा। अन्य तीर्थों की ऐसी स्थिति नहीं है। इससे उनकी शाश्वतिकता स्वीकार नहीं की गई है।

यह बात भी विचारणीय है कि जिस स्थान से किन्हीं पूज्य आत्माओं का साक्षात् संवर्ध रहा है, जिसका इतिहास है, उस स्थान पर जाने से भक्त हृदय को पर्याप्त प्रेरणा मिलती है। उज्ज्वल भावनायें

तीर्थोंकर

जागती है। अन्य स्थान में ऐसा नहीं होता। पावापुरी के पुण्य पद्म-सरोवर में जो पवित्र परिणाम होते हैं, वे भाव समीप वर्ती अन्य ग्रामों में नहीं होते यद्यपि अतीत काल की अपेक्षा सभी स्थानों से मुक्त होने वाली आत्माओं का सम्बन्ध रहा है। अपने कल्पणा तथा लाभ का प्रत्यक्ष विचार करने वाला व्यक्ति उन स्थानों की दी वंदना करता है, जहाँ के बारे में निरचित इतिहास ज्ञात होता है। जिस स्थान से कौन, कब सौक्ष गण इसका पता न हो, वह क्या ग्रेषण प्रदान करेगा? विचारवास्तु व्यक्ति उन्हीं कार्यों में प्रवृत्त होता है, जिनसे उसका द्वित होता है। इस प्रकाश में शंका का समाधान हो जाता है। सिद्धों की प्रणाम करने वाला व्यक्ति लोकधर्मभाग में विराजमान समस्त मुक्त आत्माओं को प्रणाम करता है।

आनन्द की बात

निर्बाण भूमि की वंदना से एक विशेष आनन्द की बात यह रहती है कि चरण चिन्हों के समीप खड़े होकर हम कल्पना के द्वारा उस स्थान के ठीक ऊपर सिद्धलोक में विराजमान भगवान का विचार करके उनको प्रणाम कर सकते हैं। उस जगह के ठीक ऊपर सिद्ध रूप में भगवान हैं, यह हम ज्ञान नेत्र से देख सकते हैं। जैनधर्म में ये कृतकृत्य सिद्ध जीव ही परमात्मा माने गए हैं।

सिद्धों की संख्या

मूलाचार से सिद्धों के विषय में अल्पबहुत्व पर इस प्रकार प्रकाश ढाला गया है :—

मणुरामदीए धोथा तेहिं असंखिज्जगुणा गिर्ये ।

तेहिं असंखिज्जगुणा देवगदीए हुवे जीवा । १७० । पर्याप्त्यचिकार

सबसे कम जीव मनुष्य गति में हैं। उनसे असंख्यात गुणों नरकगति में हैं। नारकियों से असंख्यात गुणों देवगति में हैं।

तेहिंतोरांतमुणा सिद्धगदीए भवेत् भवरहिया ।

तेहिंतोरांतमुणा तिरयगदीए किलोसंता ॥ १७१ ॥

देवगति के जीवों की अपेक्षा सिद्धगति में संसार परिभ्रमण रहित अनंतगुणेण सिद्ध भगवान् हैं। उन सिद्धों से अनंतगुणे जीव तिर्यचगति में क्लेश पाते हैं। तिर्यचों में भी निगोदिथा एकेन्द्रिय जीव अनंतानंत हैं।

एग्रिगोदसरौ जीवा द्रवध्यमाणाण्डे दित्य ।

सिद्धेहि अण्टगुणा सञ्चेण वितीदकालेण ॥ १६३ ॥

द्रव्य प्रमाण से देखने पर एक निगोदिथा जीव के शरीर में सिद्धराशि से अनंतगुणेण तथा सर्व व्यतीत काल से अनंतगुणेण जीव हैं।

इन विकारादीन दुःखी निगोदिथा जीवों की विचिन कथा है। कहा भी है :—

अतिर्य अण्टजीवा जेहि ण पत्तो तसाण परिणामो ।

भाव कलंक-सुपउरा रिगोदवासं ण मुच्छति ॥ १६२ ॥

उन तिर्यचगति के जीवों में ऐसे जीव भी अनंत संख्या में हैं, जिनने अब तक ब्रह्म पर्याय नहीं प्राप्त की है। वे मलिनता-प्रचुर भावों के कारण निगोदवास को नहीं छोड़ पाते हैं।

अभव्यों की संख्या

ऐसी जीवों की स्थिति विचारते हुए किसी महान आत्मा का निर्वाण प्राप्त करना कितनी बड़ी बात है, यह विवेकी व्यक्ति सोच सकते हैं। जीव राशि में एक संख्या अभव्य जीवों की है, जिनका कभी निर्वाण नहीं होगा और वे संसार परिभ्रमण करते ही रहेंगे। भव्यों की अपेक्षा उनकी संख्या अत्यन्त अल्प है। अभव्य राशि को अनंत गुणित करने पर जो संख्या प्राप्त होती है, उससे भी अनंत गुणित सिद्धों की राशि कही गई है गोम्मटसार कर्मकांड में लिखा है :—

सिद्धाण्डिमसारं अभव्यसिद्धादण्टगुणमेव ।

समर्थपवद्धं दंवदि ओमवसदो दु विस्तिथे ॥ ४ ॥

सिद्धराशि के अनंतवें भाग तथा अभव्यराशि से अनंत

तीर्थकर

गुणित प्रमाण एक समयमें कर्मसमूहरूप समय-प्रबद्ध को वह जीव बांधता है। वह चंद्र योग के अनुसार विसदृश होता है अर्थात् कभी न्यून, कभी अधिक परमगुणों का बंध होता है।

जीवप्रदोधिनी टीका में उपरोक्त कथन इस प्रकार किया गया है :—

“सिद्धराश्यन्तैकभार्त, अम्यसिद्धेभ्योऽनंतगुणं तु-पुनः योगवशात् विसदृशं समयप्रबद्धं बन्धाति। समये समये प्रबन्धते इति समयप्रबद्धः”

उत्सर्पिणी काल में सिद्धों की अल्प संख्या

राजवार्तिक में अकलेक स्वामी लिखते हैं, उत्सर्पिणी काल में सिद्ध होने वाले जीव सबसे कम हैं। अब सर्पिणी काल में सिद्ध होने वालों की संख्या उनसे विशेष अधिक कही गई है। अनुउत्सर्पिणी-उत्सर्पिणी काल (विदेह में नित्य चतुर्थकाल रहता है अतः वहाँ उत्सर्पिणी-अनुउत्सर्पिणी का विकल्प नहीं है। वहाँ का काल अनुउत्सर्पिणी-उत्सर्पिणी काल कहा जायगा) की अपेक्षा सिद्ध संख्यातगुणे हैं। कहा भी है “सर्वहस्तोका उत्सर्पिणी सिद्धाः। अवसर्पिणी सिद्धाः विशेषाधिकाः। अनुउत्सर्पिणवसर्पिणो सिद्धाः संख्येयगुणाः”—तत्त्वार्थ राजवार्तिक अध्याय १०, दूत्र १०, पृष्ठ ३६६।

विशेष कथन

पूज्यपाद स्वामी ने कहा है—“सर्वतः स्तोका लबणोदसिद्धाः, कालोदसिद्धाः संख्येयगुणाः। जंबूदीपसिद्धाः संख्येयगुणाः। धातकीखण्डसिद्धाः संख्येयगुणाः। पुष्करार्धसिद्धाः संख्येयगुणाः” (वृत्त्वाय १०, दूत्र १०)—सबसे न्यून संख्या लबणसमुद्र से सिद्ध होने वालों की है। उनसे संख्यातगुणों कालोदधि से सिद्ध हुए हैं। उनसे भी संख्यात गुणित जंबूदीप से सिद्ध हैं। धातकीखण्ड द्वीप से सिद्ध होने वाले संख्यातगुणे हैं। पुष्करार्धदीप से सिद्ध होनेवाले उनसे संख्यातगुणे हैं।

“जघन्येन एकसमये एकः सिध्यति, उत्कर्षेणाष्टोत्तरसंख्या” —जघन्य से एक समय में एक जीव सिद्ध होता है, अधिक से अधिक

एक सौ आठ जीव एक समय में मुक्त होने हैं।

ज्ञानानुयोग की अपेक्षा लिङ्गों के विषय में इस प्रकार कथन किया गया है, मति-शुत-मनःपर्ययज्ञान को प्राप्त करके सिद्ध होने वाले सबसे कम हैं। उनसे संख्यात्मगुण मतिज्ञान तथा शतज्ञान से सिद्ध हुए हैं। मतिज्ञान, श्रुतज्ञान, अधिज्ञान, मनःपर्ययज्ञान से सिद्ध संख्यात्मगुण हैं। मति-श्रुत तथा अधिज्ञान से सिद्ध उनसे भी संख्यात्मगुण हैं। इससे यह ज्ञात होता है कि भोक्त जाने वाली संयमी आत्मा मति-श्रुतज्ञान युगल के साथ अधिज्ञानावरण का भी ज्ञानोपशम प्राप्त करती है। राजवाचिक में लिखा है—“सर्वस्तोकाः मति-श्रुत-मनःपर्ययसिद्धाः, मतिश्रुतज्ञानसिद्धाः संख्येयगुणाः। मतिश्रुतावधिज्ञानसिद्धाः संख्येयगुणाः। मतिश्रुतावधिज्ञानसिद्धाः संख्येयगुणाः (पृष्ठ ३६७, अध्याय १०—१०)

जीवों की सामर्थ्य के भेद से कोई-कोई अन्योपदेश द्वारा प्रतिबुद्ध हो मुक्त होते हैं। कोई-कोई द्वयों सिद्धिपद के स्वामी बनते हैं। अकलीकस्वामी ने कहा है—“केचित् प्रत्येकबुद्धसिद्धाः, परोपदेश-मनपेत्य स्वशक्त्यैवाविभूतज्ञानातिशयः। अपरे बोधितबुद्धसिद्धाः, परोपदेशपूर्वकज्ञानप्रकर्णसंकरितः” (पृष्ठ ३६६)—कोई तो प्रत्येक बुद्ध-सिद्ध हैं, क्योंकि उनने परोपदेश के बिना अपनी शक्ति के द्वारा ज्ञानातिशय को प्राप्त किया है। अन्य बोधितबुद्ध-सिद्ध कहे गए हैं, वे परोपदेशपूर्वक ज्ञान की उत्कृष्टता को प्राप्त करते हैं। इस अपेक्षा से तीर्थकर भगवान् प्रत्येकबुद्ध सिद्ध कहे जायेंगे।

परमार्थ-दण्डि

इस प्रकार विविध हृषियों से सिद्ध भगवान् के विषय में परमार्थ में प्रकाश डाला गया है। परमार्थतः सब सिद्ध समानरूप से स्वभावरूप परिणत हैं। उनका यथार्थ बोध न मिलने से एकान्त पक्षवालों ने आन्त धारणाएँ बना ली हैं।

सिद्ध भगवान् के विषय में विविध अपरमार्थ विवारों का निराकरण करते हुए सिद्धान्त चक्रवर्ती आचार्य नेमिचन्द्र कहते हैं—

अद्विहकमविद्वा सोदीभूता गिरुंजगणा गिर्चा ।

अद्विगुणा किदकिच्छा लोयग्ग-गिरासिणो गिर्डा ॥ गो० जो० ६८

वे सिद्ध भगवान् ज्ञानावरणादि अष्टकमों से रहित हैं, अतएव वे सदाशिव मत की मान्यता के अनुसार सदा से मुक्त अवस्था संपन्न नहीं हैं। वे जन्म, मरणादि रूप सहज दुःख, रागादि से उद्भूत शारीरिक दुःख, सर्पादि से उत्पन्न आगंतुक पीड़ा, अङ्गुलता रूप मानसिक उथथा आदि के संताप से रहित होने से शोतृलता प्राप्त हैं, अतएव सुखी हैं। इससे सांख्यमत की कल्पना का निराकरण होता है, क्योंकि वह सांख्य मुक्तात्मा के सुख का अभाव कहता है—“अनेन मुक्तौ आत्मनः सुखाभावं बदन् सांख्यमतमपाकृतम्”

वे भगवान् कमों के आख्य रूप मल रहित होने से निरंजन हैं। इससे सन्धासी (भस्फरी नामके) मत का निराकरण होता है, जो कहता है “मुक्तात्मनः पुनः कर्मजनसंतर्गेण संसारोस्ति”—मुक्तात्मा के फिर से कर्मरूपी मल के संसर्ग होने के कारण संसार होता है। वे सिद्ध प्रति समय अर्थीपर्यायों द्वारा परिणमन युक्त होते हुए उत्पाद-व्यय को प्राप्त करते हैं तथा विशुद्ध चैतन्य-स्वभाव के सामान्य भाव रूप जो द्रव्य का आकार है वह अन्वय रूप है उसके कारण सर्व कालाप्तित अव्यय रूप होने से वे नित्यता युक्त हैं। इससे ‘परमार्थतो नित्यद्रव्यं न’—बास्तव में कोई नित्य पदार्थ नहीं है, किन्तु प्रतिज्ञण चिनाशीक पर्याय मात्र हैं, इस बौद्ध मत का निराकरण होता है। वे ज्ञानवीर्यादि अष्ट गुणयुक्त हैं। “इत्युपलक्षणं तेन तदनुसार्यनिन्तासंतगुणानां तेष्वेवात्भवितः”—मैं आठ गुण उपलक्षण मात्र हैं। इनमें उन गुणों के अनुसारी अनंतानंत गुणों का अनंतभाव हो जाता है। इससे नैयायिक तथा वैशेषिक मतों का निराकरण होता है, जो कहते हैं “ज्ञानादिगुणा-नामत्यंतोच्छित्तिरात्मनो मुक्तिः”—ज्ञानादि गुणों के अत्यन्ताभाव रूप मोक्ष है।

वे भगवान् कृतकृत्य हैं, क्योंकि उनने ‘कृतं निष्ठापितं कृत्यं सकलकर्मन्त्यत्कारणालुष्टानादिकं यैसते कृतकृत्याः’ सम्यदर्शन चारित्रादि के अनुष्ठान द्वारा सकल कर्मन्त्य रूप कृत्य अर्थात् कार्य को संपन्न कर लिया है। इससे उस मान्यता का निराकरण होता है,

हीर्थैकर

जिसमें सदामुक्त ईश्वर को विश्व निर्माण में संलग्न बताकर अकृत-कृत्य कहा गया है (ईश्वरः सदामुक्तोऽपि जगन्निर्मापणे कृतादरत्वेना-कृतकृत्यः)

वे लोकत्रय के ऊपर तत्त्वात्तब्जय के नीन में निवास करते हैं (तत्त्वात्प्रांते निवासिनः—स्थास्नवः) । इससे मांडलिक मत का निवारण होता है, जो मानता है कि मुक्त जीव विश्वाम न कर निरन्तर ऊपर ही ऊपर चले जाते हैं (आत्मनः उर्ध्वगमन-एवाभाव्यात् मुक्ता-चस्थायां कचिद्वपि विश्वामाभावात् उपर्युक्ति गमननिति वदन्मांडलिकमसं प्रत्यस्तं । गो० जी० टीका पृष्ठ २७८)

पंचम सिद्धगति

मुक्तत्माओं की गति को सिद्धगति कहा है । यह चार गतियों से निन्न है, जिनके कारण संसार में परिव्रमण होता है । इस पंचम गति के विषय में नेमिचंद्राचार्य कहते हैं :—

जाइ-जरा-मरण-भया संजोगविजोग-दुख-सखणाओ ।

रोगादिगाय जिससे ए संति सा होदि सिद्धगई ॥ गो० जी० १४२

जिस गति में जन्म, जरा, मरण, भय, संयोग वियोग जनित दुःख,^१ आद्वारादि संज्ञायें, शारीरिक व्याधि का अभाव है, वह सिद्धगति है ।

^१ हस लिखने के विषय में गोभृत्तार जीवकाट्टड के अंग्रेजी अनुवाद में स्व० जस्टिस जे० एल० जैनी लिखित वह अंश मार्गिक है :—

"The conditions of liberated souls is described here. Liberation implies freedom from Karmic matter, which shrouds the real glory of the soul, drags it into various conditions and makes it experience multifarious pleasures and pains. But when all the karmas are destroyed, the soul which by nature has got an upward motion rises to the highest point of the universe--the Siddha-Shila and there lives for endless time in the enjoyment of its own glorious qualities un-encumbered by the worldly pleasures or pains. This is the ideal condition of a soul."

(Gommatasara—Page 101)

तीर्थंकर

इस सिद्धगति की कामना करते हुए मूलाचार में कहा है :—

जा गदी अरहंताणं शिद्धाणं च जा गदी ।
जा गदी वीतमोहाणं रा मे भवदु सस्तदा ॥ २१६ ॥

जो गति अरिहंतों की है, जो गति कृतकृत्य सिद्धों की है, जो गति वीतमोह मुनीन्द्रों की है, वह मुझे सदा प्राप्त हो ।

मुक्ति का उपाय

इस मुक्ति की प्राप्ति का अर्थार्थ उपाय जिनेन्द्र वीतराग के धर्म की शरण अहं रहना है । जैन प्रार्थना का यह वाक्य महत्वपूर्ण है :— चत्तारि सरणं पव्वज्ञामि अरहंतसरणं पव्वज्ञामि, सिद्धसरणं पव्वज्ञामि, साहूसरणं पव्वज्ञामि, केवलिपरणतो धर्मो सरणं पव्वज्ञामि—मैं चार की शरण में जाता हूँ । अरहंतों की शरण में जाता हूँ । सिद्धों की शरण में जाता हूँ । साहुओं की शरण में जाता हूँ । केवली प्रणीत धर्म की शरण में जाता हूँ । यहाँ धर्म का विशेषण केवलिपरणत अर्थात् सर्वज्ञ भगवान द्वारा कथित महत्वपूर्ण है । संसार के चक्र में कौसे हुए संप्रदायों के प्रवर्तकों से यथार्थ धर्म को देशना नहीं प्राप्त होती है ।

मार्मिक कथन

इस प्रसंग में विद्यावारिधि सब० चंपतरायजी चारन्दण्डला, का कथन चितन पूर्ण है :—

यथार्थ में जैनधर्म के अबलंबन से निर्वाण प्राप्त होता है । यदि अन्य साधना के मार्गों से निर्वाण मिलता, तो वे मुक्तात्माओं के विषय में भी जैनियों के समान स्थान, नाम, समय आदि जीवन की बातें उपस्थित करते । “No other religion is in a position to furnish a list of men, who have attained to Godhood by following its teachings.” (Change of heart, page 21)—जैन धर्म के सिवाय कोई भी धर्म उन लोगों की दूची उपस्थित करने में समर्थ नहीं है, जिनने उस धर्म की आराधना द्वारा हैरबरत्व प्राप्त किया है ।

तादि-तीर्थकरत्वकारणान्तर-रहितया, दृष्टिशुद्ध्या श्रेणिको नाम मराध
महामंडलेश्वरो तीर्थकृत् धर्म तीर्थकरः भविता भविष्यति ।” अर्थात्
विनय-संपन्नतादितीर्थकरत्व के कारणान्तरों से रहित केवल एक दर्शन
विशुद्धि के द्वारा श्रेणिक नामक मगधवासी महामंडलेश्वर धर्म-
तीर्थकर होंगे ।

भिन्न-दृष्टि

उत्तरधुराण में प्रकृत प्रसंग पर प्रकाश डालने वालों एक
भिन्न दृष्टि पाई जाती है । वहाँ पर्वं ७४ में श्रेणिक राजा ने गणधरदेव
से पूछा है, मेरी जैन धर्म में बड़ी भारी अद्वा प्रगट हुई है तथापि मैं
ब्रतों को क्यों नहीं घरण कर सकता ? उत्तर देते हुए गणधरदेव ने
कहा—तुमने नरकायुका वंध किया है । यह नियम है कि देवायु के
बंध को छोड़कर अन्य आयु का बंध करनेवाला फिर ब्रतों को स्वीकार
नहीं कर सकता । इसी कारण तुम ब्रत धारण नहीं कर सकते । हे
महाभाग ! आशा, सार्ग, धीज आदि इस प्रकार की अद्वाओं में से
आज तुम्हारे कितनी ही अद्वाएँ विद्यमान हैं । इनके सिवाय दर्शन-
विशुद्धि आदि शास्त्रों में कहे हुए जो सोलह कारण हैं, उनमें से सब
या कुछ कारणों से यह भव्यतीव तीर्थकर नाम कर्म का बंध करता
है । इनमें से दर्शनविशुद्धि आदि कितने ही कारणों से तू तीर्थकर
नामकर्म का बंध करेगा । मर कर रत्नप्रभा नरक में जायगा और
वहाँ से आकर उत्सर्पिणी काल में महापद्म नामक प्रथम तीर्थकर
होगा । अन्यकार के शब्द इस प्रकार हैं—

एतास्यपि महाभाग तत्र संत्यग्य कल्पन ।

दर्शनाद्यगम्भोक्त-शुद्ध षोडशकारणैः ॥४५.१॥—७४॥

भव्यो व्यस्तैः रस्तर्तैश्च नामात्मीकुरुतेऽपि भू ।

तेषु अद्वादिभिः कैश्चिद् वध्वा तत्त्वामकारणैः ॥४५.२॥

रत्नप्रभां प्रविष्टः संस्तुतफलं मध्यमायुषा ।

भुक्त्वा निर्गत्य भव्यास्मिन् महापद्माख्यन्तर्थकृत ॥४५.३॥

इस विपव में तत्वार्थी श्लोकवातिकालकार का यह कथन
ध्यान देने योग्य है । विद्यानांद स्वामी कहते हैं—

तीर्थकर

इस संबंध में चौबीस तीर्थहुरों की पूजा में आगत पाठ के परिशीलन से पर्याप्त प्रकाश प्राप्त होता है तथा शांति मिलती है। यहाँ तीर्थकरों के अन्मस्थान, यह-यही, माता-पितादि का कथन करते हुए निर्वाण भूमि का वर्णन पूर्वक नमस्कार अपेण किया गया है।

साकेतपुरे नाभिराजमरुदेव्योजीताय क्रमकवर्णाय पञ्चशत्-
धनुरुच्छेदाय वृषभलाङ्गनाय, गोमुख-चक्रेवरी-यज्ञयज्ञीसमेताय चतुर-
शीतिलक्ष्मपूर्वायुष्काय लैलासपर्वते कर्मज्ञयं गताय वृषभतीर्थकराय
नमस्कारं कुर्वे ।

साकेतपत्तने जितारिसृष्टि-विजयादेव्योजीताय सुवर्णवर्णाय
शजलाङ्गनाय पञ्चाशदधिकशतचतुष्टयधनुरुच्छेदाय महायज्ञ-रोहिणी
यज्ञयज्ञीसमेताय द्वासपतिलक्ष्मपूर्वायुष्काय सम्मेदे सिद्धिवरकूटे कर्मज्ञयं-
गताय श्रीमद्विजित-तीर्थकराय नमस्कारं कुर्वे ।

सावर्तीपत्तने हठरथमूर्ति-सुपेणादेव्योजीताय सुवर्णवर्णाय
चतुःशतधनुरुच्छेदाय श्रीमुख-श्रवणी-वद्वाच्चित्तेजाय श्रवणलङ्घनाय
षष्ठिलक्ष्मपूर्वायुष्काय सम्मेदगिरौ हत्तधवलकूटे परिनिर्वृताय श्रीशंभव-
तीर्थकराय नमस्कारं कुर्वे ।

श्रीकौशलदेशे अयोध्यापत्तने संवरनृप-सिद्धार्थमहादेव्यो
जीताय सुवर्णवर्णाय पञ्चाशदधिकत्रिशतधनुरुच्छेदाय पञ्चाशलक्ष्म-
पूर्वायुष्काय कपिलांगनाय यज्ञेश्वरवज्रयुक्तलाय यज्ञयज्ञीसमेताय सम्मेद-
गिरौ आनन्दकूटे कर्मज्ञयंगताय श्रीमद्विभिन्नदनतीर्थेश्वराय नमस्कारं कुर्वे ।

अयोध्यापुरे मेघरथनृप-कुमारलादेव्योजीताय सुवर्णवर्णाय
त्रिशतधनुरुच्छेदाय चक्रवाकुलाङ्गनाय चत्वारिंशललण्डपूर्वायुष्काय तुंबर-
पुरुषदत्तात्रज्ञयज्ञीसमेताय सम्मेदे अविचलकूटे कर्मज्ञयं गताय
श्रीसुमतितीर्थेश्वराय नमस्कारं कुर्वे ।

कौशंबीपत्तने धरणवृप-सुपीमादेव्योजीताय लोहितवर्णाय
कमललाङ्गनाय त्रिशललक्ष्मपूर्वायुष्काय पञ्चाशदधिक-द्विशतधनुरुच्छेदाय
पुष्प-मनोकेशायज्ञयज्ञीसमेताय सम्मेदगिरौ सोहनकूटे कर्मज्ञयंगताय
श्रीपद्मप्रभतीर्थेश्वराय नमस्कारं कुर्वे ।

वाराणसीपत्तने सुप्रतिष्ठनृप-पृथ्वीदेवीमहादेव्योजीताय
स्वस्तिकलाङ्गनाय हरितवर्णाय द्विशतधनुरुच्छेदाय चतुर्विंशतिलक्ष-

तीर्थकर

पूर्वायुष्काय वरन्दिन्कालीयक्षयक्षीसमेताय सम्मेदे ग्रभासकृटे कर्म-
क्षयंगताय श्रीसुषार्दतीर्थकराय नमस्कारं कुर्वे ।

चंद्रपुरीपत्तने महासेनमहाराज । लक्ष्मीवतीदेव्योर्जीताय
चंद्रलांछनाय शुभ्र-वर्णाय पंचाशाढविकैकशन-धनुरुच्छेदाय इशलक्ष्मी
पूर्वायुष्काय शाम-व्याप्तामालिनीयक्षयक्षीसमेताय सम्मेदे ललितघन
कृटे कर्मक्षयंगताय श्रीचंद्रपुरीर्थेश्वराय नमस्कारं कुर्वे ।

काकदीपत्तने उषीयमहाराज । ज्यवरामादेव्योर्जीताय शुभ्र
वर्णाय शतधनु । रुच्छेदाय दिलक्ष्मीपूर्वायुष्काय कक्षटलांछनाय अजित
महाकाली । यक्षयक्षीसमेताय समेदगिरौ सुप्रभकृटे कर्मक्षयंगताय श्री
पुष्पदंततीर्थेश्वराय नमस्कारं कुर्वे ।

अद्युरेद्दरथमहाराजसुनंदादेव्योर्जीताय श्रीवृक्षलांछनाय
इक्ष्वाकुवंशाय, सुवर्णवर्णाय नवतिधनुरुच्छेदाय एकलक्ष्मीपूर्वायुष्काय
महा-कालीयक्षयक्षीसमेताय समेदगिरौ विद्युद्वरकृटे कर्मक्षयंगताय श्री
शीतलतीर्थेश्वराय नमस्कारं कुर्वे ॥

सिहपुराधीश्वरविष्णुनृपति-नंदादेव्योर्जीताय सुवर्णवर्णाय
इक्ष्वाकुवंशाय गंडलांछनाय अर्थतिधनुरुच्छेदाय चंतुरशीतिलक्ष्मीवर्षी-
युष्काय ईश्वरगौरीयक्षयक्षीसमेताय समेदगिरौ संकुलकृटे कर्मक्षयं
गताय श्रीश्रीश्वासतीर्थकराय नमस्कारं कुर्वे ।

वसुपूज्यनृप । ज्यदेव्योर्जीताय कुमारबालव्रक्षचारिणे रक्ष-
वर्णाय इक्ष्वाकुवंशाय महिषज्ञानाय सप्रतिधनुरुच्छेदाय द्वासपति-
लक्ष्मीवर्षीयुष्काय सुकुमार-गायिरी-यक्षयक्षीसमेताय चंपापुरसमीपे रजत-
बालुकाल्यनदीतीरे मंदरशैलशिखरे मनोहरीयाने मौक्कंगताय श्री
वासुपूज्यतीर्थकराय नमस्कारं कुर्वे ।

कांपित्याख्यनगरे कृतवर्मगृष्ण-व्रार्थेश्वामादेव्योर्जीताय सुवर्ण-
वर्णाय इक्ष्वाकुवंशाय वराहलांछनाय षष्ठिवनुरुच्छेदाय पंचाशललक्ष्मी-
वर्षीयुष्काय परमुद्गवैरोटी-यक्षयक्षीसमेताय समेदगिरौ वीरसंकुल
कृटे कर्मक्षयंगताय श्रीविमलतीर्थकराय नमस्कारं कुर्वे ।

अबोध्यापत्तने सिहसेननृपति-जयश्यामादेव्योर्जीताय सुवर्ण-
वर्णाय इक्ष्वाकुवंशाय पंचाशाढनुरुच्छेदाय विशललक्ष्मीवर्षीयुष्काय
भल्लूकलांछनाय पातालअनंतमनीयक्षयक्षीसमेताय समेदगिरौ कर्मक्षयं-
गताय श्रीमद्दनंततीर्थकराय नमस्कारं कुर्वे ।

रहपुरे भासुमहाराज - सुप्रभामहादेव्योजीताय हाटकवणीय इच्चाकुर्वशाय वस्त्रलांछनाय पंचोत्तरचत्वारिंशद्वृक्षुरुच्छेदाय दशलक्ष वर्षायुष्काव किन्नर-मानसीयक्षयक्षीसमेताय सम्मेदे दत्तवरकूटे परिनिर्वृत्ताय श्रीधर्मनाथतीर्थेश्वराय नमस्कारं कुर्वे ।

हस्तिनापुरे विश्वसेनमहाराज - ऐराबामहादेव्योजीताय कांचनवणीय चत्वारिंशद्वृक्षुरुच्छेदाय एकलक्षवर्षायुष्काय गृहड - महामानसीयक्षयक्षीसमेताय हरिणलांछनाय कुरुवंशाय सम्मेदशिखरे प्रभासाख्यकूटे कर्मक्षयंगताय श्रीशांतिनाथतीर्थेश्वराय नमस्कारं कुर्वे ।

हस्तिनाख्यपत्तने श्रीसूरसेनमहाराज-कमलामहादेव्योजीताय सुवर्णपर्णीय पंचाविंशतिशत्तुरुच्छेदाय पंचोत्तरनवतिसहस्रवर्षायुष्काय अजलांछनाय कुरुवंशाय गंधर्व-जयायक्षयक्षीसमेताव सम्मेदे ज्ञानवरकूटे कर्मक्षयंगताय श्रीकुंयुतीर्थेश्वराय नमस्कारं कुर्वे ।

हस्तिनापुरे सुदर्शनमहाराज - सुमित्रादेव्योजीताय सुवर्णवणीय कुरुवंशाय त्रिराद्वृक्षुरुच्छेदाय सत्यलांछनाय चतुरशीतिसहस्रवर्षायुष्काय माहेन्द्र-विजयायक्षयक्षीसमेताय सम्मेदगिरौ नाटककूटे कर्मक्षयंगताय श्रीमदरतीर्थेश्वराय नमस्कारं कुर्वे ।

भिथिलापत्तने कुंभमहाराजप्रभावतीदेव्योजीताय हाटकवणीय इच्चाकुर्वशाय पंचविंशतिशत्तुरुच्छेदाय पंचविंशतिशत्तुरुच्छेदाय वर्षायुष्काय कुंभलांछनाय कुवेरअपराजित वक्षयक्षीसमेताय श्रीसम्मेदे संबलकूटे कर्मक्षयंगताय श्रीभिलितीर्थेश्वराय नमस्कारं कुर्वे ।

राजगृहपत्तने सुमित्रमहाराजपद्मावतीदेव्योजीताय इन्द्रनील-रसवर्षीय विश्वतित्त्वपोत्रताय त्रिशत् सहस्रवर्षायुष्काय कर्त्त्वपलांछनाय वस्त्रएवहुस्पिणी - वक्षयक्षीसमेताय हरिंशशाय सम्मेदगिरौ निर्जरकूटे कर्मक्षयंगताय श्रीमुनिद्युग्रतत्त्वतीर्थेश्वराय नमस्कारं कुर्वे ।

मिथिलाख्यपत्तने विश्वनृप-बर्मिलामहादेव्योजीताय कनकवणीय पंचदशवत्तुरुच्छेदाय दशसहस्रवर्षायुष्काय कैरवलांछनाय भृकुटि-चामुण्डीयक्षयक्षीसमेताय इच्चाकुर्वशाय सम्मेदगिरौ मित्रधरकूटे कर्मक्षयंगताय श्रीनमितीर्थेश्वराय नमस्कारं कुर्वे ।

तीर्थकर

शौरीपुराधीशवरसमुद्रविजयमहाराजमहादेवोर्शदेव्यो जीताय
नीलनीरदनिभवणीय दशचापोन्नताय जहस्रवपीयुष्काय शंख
लंबनाय हरिवंशतिलकाय सर्वाङ्ग - कृष्णरिद्वनी - यद्यक्षीसमेताय
उज्ज्यवन्तशिखरे परिनिवृताय श्रीनेमितीयेश्वराय नमस्कारं कुर्वे ।

बाराणसीनगरे विश्वसेनमहाराज - ब्रह्मामहादेव्योजीताय
हरितवणीय नवकरोन्नताय शतवपीयुष्काय सर्पलंबनाय धरणेन्द्र-
पद्मावतीयक्षयज्ञी-समेताय उग्रवंशाय सम्मेदगिरी लुबणेभद्रकूटे परि-
निवृताय श्रीकृश्वर्तीयेश्वराय नमस्कारे कुर्वे ।

श्रीकुण्डपुरे सिद्धार्थेनरेशप्रियकारिद्वयोजीताय वैमवणीय
समहस्तोन्नताय द्वासपतिवप्नोयुष्काय केसरिज्जन्मनाय मातृग-सिद्धार्थिनी-
यक्षयक्षीसमेताय नाथवंशाय पाचापुरमनोहरयनांतरे वहनां सरसां
मध्ये महामणिशिलागतले परिनिवृताय श्रीमद्यतीर्थवर्षभाव तीर्थेश्वराय
नमस्कारं कुर्वे ।

भगवान् के उपदेश का मर्म

जिनेन्द्र भगवान् के कथन को एक ही गाथा द्वारा महामुनि
कुंदकुंद स्वामी हस प्रकार व्यक्त करते हैं :—

रत्तो वंधदि कामं मुच्चदि जीवो विरामसंकुर्तो ।

एसो जिखोवएसो तम्हा कम्मेसु मा रज ॥ ५३० ॥ उमयसर

रागी जीव कर्मों का वंध करता है, वैराग्य-संपन्न जीव
वंधन से मुक्त होता है; यह जिन भगवानका उपदेश है: अतः
है भव्य जीवो ! शुभ अशुभ कर्मों में राग भाव को छोड़ो ।

अभिवंदना

हम विकालवत्तीं तीर्थकरों को इन विनम्र शब्दों द्वारा
प्रणामांजलि अपित करते हैं :—

सकल लोक में भानु सम तीर्थीश जिनराय ।

भाव - शुद्धि के हेतु मैं वदों त्विके पाय ॥

दृग्विशुद्धादयो नमस्तीर्थकृत्वम्य हेतकः ।

समस्ता व्यस्तरुपा वा व्यस्तिरुपा समन्विताः ॥ पृष्ठ ४५६-पद्म १७ ॥

दर्शनविशुद्धि आदि तीर्थकर नाम कर्म के कारण हैं, चाहे वे सभी कारण हीं या पुरुष-पुरुष हीं किन्तु उनको दर्शन विशुद्धि समन्वित होना चाहिये। वे इसके परचात् तीर्थकर प्रकृति के विषय में बड़े गौरवपूर्ण शब्द कहते हैं—

सर्वोत्तिशायि लत्पुण्यं त्रैलोक्याधिपतित्वकृत ॥१८॥

चह पुण्य तीन लोक का आधिपति बनाता है। यह पुण्य सर्वश्रेष्ठ है।

दर्शन विशुद्धि आदि भावनाएँ पृथक् रूप में तथा समुदाय रूप में तीर्थकर पद की प्राप्ति में कारण हैं, ऐसा भी अनेक स्थलों में उल्लेख आता है, यथा हरिवंश पुराण में कहा है—

तीर्थकरनामकर्मणि प्रोडश-तत्कारणात्यमूर्नि ।

व्यस्तानि समस्तानि भवति सद्भव्यमानानि ॥

अकलंक स्वामी राजवार्तिक में लिखते हैं—

तप्त्येतानि प्रोडशकारणानि सम्यग्मव्यमासानि व्यस्तानि समस्तानि च ।

तीर्थकरनामकर्मोदयकारणानि प्रत्येतत्वानि ॥ सूत्र २४, पृष्ठ २६७ ॥

इन भावनाओं में दर्शन विशुद्धि का स्वरूप विचार करने पर उसकी मुख्यता स्पष्ट रूप से प्रतिभासमाप्त होती है। तीर्थकर-प्रकृति रूप धर्म कल्पतरु पूर्ण विकसित होकर सुख रूप सुमधुर फलों से समलैङ्गित होते हुए अगलित भव्यतों को अवर्णनीय आनन्द तथा शान्ति प्रदान करता है, उस कल्पतरु की बीजरूपता का स्पष्टरूप से दर्शन प्रथम भावना में होता है।

दर्शन-विशुद्धि में आगत दर्शन शब्द सम्बद्धर्शन का बाचक है। दर्शन के होने पर प्राप्त विशुद्धता-विशेष रूप यह भावना है। विशुद्धि का अर्थ है वे पुण्यपद उज्ज्वल भाव, जिनका संकलेश की कालिमा से सम्बन्ध न हो, कारण विशुद्धभाव से शुभ फलियों में तीव्र अनुभाग पड़ता है और संकलेश परिणामों से पाप प्रकृतियों में तीव्र अनुभाग पड़ता है।

तीर्थकर

इस सम्बन्ध में यह बात भी ध्यान में रखना उचित है कि तीर्थकर प्रकृति के चंद्र रूप जीवों को कार्य केवली-श्रुतकेवली के पादमूल अर्थात् चरणों के समीप होता है। भरत लेप में इस काल में अब उक्त साधन युगल का अभाव होने से तीर्थकर प्रकृति का बंध नहीं हो सकता है।

केवली के चरणों की समीपता का क्या कारण है ?

इस प्रश्न का उत्तर यह होगा कि उन जिनेन्द्र की दिव्य वाणी के प्रसाद से देव, मनुष्य, पशु सभी जीवों को धर्म का अपूर्व लाभ होता है। वह देखकर किसी महाभाग के हृदय में ऐसे अत्यन्त पवित्र भाव उत्पन्न होते हैं कि मिथ्यात्वरूप महा अद्वी में मोह की दबाविं जलने से अगणित जीव मर रहे हैं, उनके अनुग्रह करने की प्रभो ! आपके समान कृमता, शक्ति तथा सामर्थ्य मेरी भी आत्मा में उत्पन्न हो, जिससे मैं समूर्ण जीवों को आत्मज्ञान का अमृत पिलाकर उनको सचे सुख का मार्ग बता सकूँ । इस प्रकार की विश्वकल्याण की प्रबल भावना के द्वारा सम्यक्त्वी जीव तीर्थकर प्रकृति का बन्ध करता है।*

विनय-सम्पन्नता, अहंत भक्ति, आचार्य भक्ति, प्रबचन-भक्ति, मार्ग प्रभावना, प्रबचन बात्सल्य सहश अनेक भावनाएँ सम्यक्त्व के होने पर सहज ही उसके अङ्ग रूप में प्राप्त हो जाती हैं। जिस प्रकार अङ्गरहीन मन्त्र विष वेदना को दूर नहीं कर सकता है, इसी प्रकार अङ्गरहीन सम्यक्त्व भी जन्म संतानि का ज्यय नहीं कर सकता है। ऐसी स्थिति में सम्यक्त्व शदि सांगोपांग हो तथा उसके साथ सर्व जीवों को सम्यक्ज्ञानामृत पिलाने की विशिष्ट भावना या मङ्गल कामना प्रबल रूप से हो जाय, तो तीर्थकर प्रकृति का बंध हो

* श्रुत केवली के निकट भी पोड़शकारण भावनाएँ भाँई जा सकती हैं। यदि पोड़शकारण भावना माने वाला खण्ड श्रुतकेवली हो, तो उसे अन्य श्रुतकेवली का आध्य श्रहण करना आवश्यक नहीं होगा। जिसका सानिध्य गम्य व्यक्ति को तीर्थकर प्रकृति का बंध करने में सहायक हो लकड़ा है, वह खण्ड उस प्रकृति का बंध नहीं कर सकेगा, ऐसा मानना उचित नहीं प्रतीत होता।

सकता है। दर्शन-विशुद्धि भावना परिपूर्ण होने पर अनेक भावनाएँ अस्पष्ट रूप से उसकी सहचरी रूप में आ जाती हैं। यदि सहचरी रूप भावनाओं के निरूपण को गौण बनाकर कथन किया जाय, तो तीर्थंकर पद में कारण दर्शन-विशुद्धि को भी (मुख्य भावकर) कहा जा सकता है।

श्रेणिक राजा का उदाहरण

इस प्रसङ्ग में पहले महामंडलेश्वर राजा श्रेणिक का उदाहरण आ चुका है। श्रेणिक महाराज अब्रती भ्रे, क्योंकि वे नरकायुका बंध कर चुके थे। वे द्वायिक सम्यकत्वी थे। उनके दर्शन-विशुद्धि भावना थी, यह कथन भी ऊपर आया है। महाबीर भगवान का सानिध्य होने से केवली का पादमूल भी उनको प्राप्त हो चुका था। उनमें शक्तिस्त्वाग, शक्तिस्तप, आवश्यकापरिदाणि, शील-न्रतों में निरति-चारता सहश संयमी जीवन से सम्बन्धित भावनाओं को स्वीकार करने में कठिनता आती है, किन्तु अहंतभक्ति, गणधरादि महान् गुरुओं का श्रेष्ठ सङ्ग रहने से आचार्य-भक्ति, बहुशुत-भक्ति, प्रवचन-भक्ति, मार्ग-प्रभावना, प्रवचन-बत्सलत्व सदृश सद्गुणों का सज्जान स्वीकार करने में क्या बाधा है? ये तो भावनाएँ सम्यकत्व की पोषिकाएँ हैं। द्वायिक सम्यकत्वी के पास इनका अभाव होगा, ऐसा सोचना तक कठिन प्रतीत होता है। अतएव दर्शन-विशुद्धि की विशेष प्रधानता को लक्ष्य में रखकर उसे कारणों में मुख्य भाव गया है। इस विवेचन के प्रकाश में प्रतीयभाव विशेष का निराकरण करना उचित है।

सम्यग्दर्शन तथा दर्शन-विशुद्धि भावना में भेद

इनकी बात विशेष है, सम्यग्दर्शन और दर्शन-विशुद्धि-भावना में भिन्नता है। सम्यग्दर्शन आत्मा का विशेष परिणाम है। वह बैव का कारण नहीं हो सकता। उसके सज्जाव में एक लोक-कल्याण की विशिष्ट भावना उत्पन्न होती है, उसे दर्शन-विशुद्धि-भावना कहते हैं। यदि दोनों में अन्तर न हो, तो मलिनता आदि विकारों से पूर्णतया उन्मुक्त सभी द्वायिक सम्यकत्वी तीर्थंकर प्रकृति के बंधक

तीर्थकर

हो जाते, किन्तु ऐसा नहीं होता, अतः यद् मानना लक्ष सज्जत है, कि सम्यक्त्व के स्वावर्ग में श्री भी विदेश पुरुषभावना का सद्भाव आवश्यक है, जिस शुभ रथ से उस प्रकृति का वंध होता है।

आगम में कहा है कि तीनों सम्यक्त्वों में तीर्थकर प्रकृति का बंध हो सकता है, अतः यह मानना उचित है कि सम्यक्त्व रूप आत्मनिधि के स्वामी होने हुए भी लोकेश्वरिणी, शुभराग रूप विशुद्धभावना का सद्भाव आवश्यक है। इसके बिना त्रायिक सम्यक्त्वी भी तीर्थकर प्रकृति का बंध नहीं कर सकेगा।

त्रायिक सम्यक्त्व भाव यदि तीर्थकर प्रकृति का कारण होता, तो सिद्ध पदबी श्री प्राप्ति के पूर्व सभी केवली तीर्थकर होते, क्योंकि इकेवलज्ञानी घनते के पूर्व ज्ञप्त क्षेत्री आरोहण करते समय त्रायिक सम्यक्त्वी होने का अनिवार्य नियम है। भरत केव्र में एक अक्षसंविणी में चौबीस ही तीर्थकर हुए हैं। इन्हीं अल्पसंख्या ही तीर्थकर प्रकृति की लोकोत्तरता को स्पष्ट करती है। त्रायिक सम्यक्त्वी होने मात्र से यदि तीर्थकर पदबी प्राप्त होती, तो महावीर तीर्थकर के समवशारण में विचमान ३०० केवली सामान्य केवली न होकर तीर्थकर केवली हो जाते, किन्तु ऐसा नहीं होता। एक तीर्थकर के समवशारण में दूसरे तीर्थकर का सद्भाव नहीं होता। एक स्थान पर एक ही समय जैसे दो सूर्य या दो चन्द्र प्रकाशित नहीं होते, उसी प्रकार दो तीर्थकर एक साथ नहीं पाए जाते हैं।

हरिवंशपुराण में कहा है—

नान्योन्यदर्शनं जातु चक्रिणां धर्मचक्रिणाम् ।

हलिनां वासुदेवानां त्रैलोक्यप्रतिचक्रिणाम् ॥ सर्वं ५४—५५ ॥

चक्रवर्ती, धर्मचक्रवर्ती, वासुदेव, प्रतिवासुदेव तथा बलदेव इनका और अन्य चक्रवर्ती, धर्मचक्रवर्ती, वासुदेव, प्रतिवासुदेव तथा बलदेव का क्रमशः परस्पर दर्शन नहीं होता है।

तीर्थकर प्रकृति के सद्भाव का प्रभाव

तीर्थकर प्रकृति का उदय केवली अवस्था में होता है। “तिर्थ केवलिणि” यह आगम का वाक्य है। यह नियम होते हुए भी

तीर्थकर भगवान के गर्भकल्याणक, अन्मरुल्याणक तथा तप्तकल्याणक रूप कल्याणक ग्रन्थ तीर्थकर प्रकृति के सद्गुरु मात्र से होते हैं। होनहार तीर्थकर के गर्भकल्याणक के छह माह पूर्वी ही विशेष प्रभाव हाइगोचर होने लगता है। भरत तथा गणवन क्षेत्र में पञ्चकल्याणक वाले ही तीर्थकर होते हैं। वे देवगति से आते हैं या नरक से भी चयकर मनुष्य पदबी प्राप्त करते हैं। तिर्थीकरण से आकर तीर्थकर रूप से जन्म नहीं होता है। निर्यतों में तीर्थकर प्रकृति के सत्त्व का निपेत्र है। “तिरिये ए तित्थसत्त” यह वाक्य गोमदसार कर्मकांड में आया है।

पञ्चकल्याणक वाले तीर्थकर

पञ्चकल्याणक वाले तीर्थकर मनुष्य पर्याय से भी चयकर नहीं आते। वे नरक या देवगति से आते हैं। अपनी पर्वाय परित्याग के छह माह शेष रहने पर नरक में देव आकर होनहार तीर्थकर के असुरादि कृत उत्पत्ति का निधारण करते हैं। उत्पत्ति से आने वाले देव के छह माह पूर्व माला नहीं मुरकाती है। बिलोकसार में कहा है—

तित्थयरसंतकमधुसरनं शिरप् शिवस्यति सुरा।

छमासाठ्यसेसे लगे अमलाण्डमलंका ॥५६॥

भरत क्षेत्र सम्बन्धी वर्तमान चौधीस तीर्थकर स्वर्गमुख भोग कर भरत क्षेत्र में उत्पन्न हुए थे। इनमें नरक से चयकर कोई नहीं आए। आगमभी तीर्थकर भगवान महापद्म, अभी प्रथम नरक में चौरासी हजार वर्ष की आयु धारण कर नरक पर्याय में हैं। वे नरक से चयकर उत्पर्णिमी काल के आदि-तीर्थकर होंगे।

नरक से निकलकर आने वाली आत्मा का तीर्थकर रूप में विकास तत्त्वज्ञों को बढ़ा मधुर लगता है, किन्तु भक्त-हृदय को यह ज्ञातकर सनोवन्धन होती है, कि हमारे भगवान नरक से आवेंगे। ईश्वर कर्त्तव्य सिद्धान्त मानने वालों को तो यह कहकर सन्तोष उत्पन्न किया जा सकता है, कि नरक के दुःखों का प्रत्यक्ष परिचयार्थी तथा वहाँ के जीवों के कल्याण निमित्त परम कारुणिक प्रभु ने बराहावतार धारणादि के समान नरकावतार रूपता अङ्गीकार की, किन्तु जैन सिद्धान्त के अनुसार उपरोक्त समाधान असङ्गत है। ऐसी

स्थिति में उपरोक्त समस्या पर इस दृष्टि से विचार करना तर्कपूर्ण प्रतीत होता है।

स्वर्ग या नरक गमन का कारण

जीव विशुद्ध भावों से पुण्य का संचय कर स्वर्ग जाता है तथा संकलेश परिणामों के कारण पाप का संग्रह कर नरक जाता है। पुण्य-कर्म को उदयावली द्वारा ज्यु करने के लिये जैसे होनहट तीर्थकर का स्वर्गीगमन सुसङ्गत है, उसी न्यायानुसार संचित पाप राशि को उपभोग द्वारा ज्यु करने के लिये नरक पर्याय में जाना भी तर्कपूर्ण है। मोक्ष को प्राप्त करने के हेतु संचित पुण्य एवं पाप का ज्यु आवश्यक है।

जो लोग सम्यक्त्व की अपूर्व महिमा से परिचित हैं, उसकी दृष्टि में इन्द्रिय जनित स्वर्ग का सुख तथा नरक के दुःख समान रूप से अनात्म भाव हैं। आत्मसुख का अनुभव करने वाला सम्यक्त्वी जीव हीनावस्था में भी लत्वतः दुखी नहीं रहता है। सम्यक्त्वी जीव अपने को मनुष्य, देव, नारकी आदि न सोचकर ज्ञानमयी आत्मा अनुभव करता है।

तत्त्वज्ञानी आचार्य अमितगति के शब्दों में वह सोचता है कि “मेरी आत्मा अकेली है। उसका विनाश नहीं होता। वह मलिनता रहित है, ज्ञान स्वरूपवाली है। शेष समस्त पदार्थ मेरी आत्मा से जुड़े हैं। कर्मों की विविध विपाकरूप अवस्थाएँ मेरी नहीं हैं। वे कुछ काल तक टिकनेवाली हैं।”

इस आध्यात्मिक दृष्टि से देखने पर इन्द्रियजनित दुःख के समान इन्द्रियजन्य सुख की स्थिति का बोध होता है। अतः तीर्थकर चाहे नरक से आकर नरपर्याय धारण करें, चाहे सुर पदवी के परबालू मानव देह को प्राप्त करें, उनके तीर्थकरत्व में कोई ज्ञाति नहीं पहुँचती है। आचार्य श्री १०८ शांतिसागर महाराज से एक बार इससे कहा था, सम्यक्त्व के सद्वाच में चाहे जीव किसी भी पर्याय में रहे, उसकी आध्यात्मिक शांति में कोई वादा नहीं आती। उनसे एक सुन्दर हृषींत दिया था, एक व्यक्ति सुबर्ण पात्र में रखकर अमृत सहश मधुर भोजन

तीर्थकर

करता है और दूसरा मृत्तिका पात्र में उस मिष्टगन्न का सेवन करता है, आधार की उच्चता, लयुता से पदार्थ के स्वाद में कोई अन्तर नहीं रहता है, इसी प्रकार देव, नरकादि पर्याय रूप भिन्न आश्रामों के होते हुए भी सम्यक्लानी जीव के आत्मरस पान की अलौकिक छटा को कोई भी क्षति नहीं प्राप्त होती।

गुणजन्य विशेषता

तीर्थकर की विशेषता उनके आत्मगत गुणों को दृष्टिपथ में रखकर अवगत करनी चाहिये। महाकवि धनंजय की यह उक्ति कितनी मधुर तथा मानिक है।

तस्यात्मजस्तस्य प्रितेति देव ।

त्वां धेऽक्रपायन्ति कुलं प्रकाश्य ।

तेऽद्यापि चन्द्राशमनमित्यददर्य

पाणौ कृतं हेतु पुनर्त्यजन्ति ॥२३॥ विश्वापहर स्तोत्र

हे आदि जिनेन्द्र ! जो आपके कुल को प्रकाशित करते हुए आपको नाभिराय के नन्दन कहते हैं, भरतराज के पिता प्रतिपादन करते हैं, इस प्रकार कुल के गौरव-गान द्वारा आपकी महिमा के निरूपण से ऐसा प्रतीत होता है कि वे विशुद्ध सुवर्ण को प्राप्त करके उसकी स्तुति करते हुए उसकी पापाण से इत्पत्ति का प्रतिपादन करते हैं; अर्थात् कहाँ पापाण और कहाँ सुवर्ण ! इसी प्रकार कहाँ आपके कुल की कथा और कहाँ आपका विभुवन में अलौकिक ऊबन, जिसकी समंग कहाँ भी नहीं दृष्टिगोचर होती है ?

तीर्थकर भक्ति

पुण्यशाली नरेन्द्र एवं देवेन्द्र जिनेन्द्र की स्तुति करते हैं। इसमें उतनी अपूर्वता नहीं दिखती, जितनी बीतरामी महालानी शुभनीन्द्रों द्वारा तीर्थकर की वंदना तथा भक्ति में लोकोत्तरता स्पष्ट होती है। तीर्थकर भक्ति का यह पाठ बड़े-बड़े साधुजन पढ़ा करते हैं—

“इच्छाभि भेते चउवीस-तित्वयमभित्ति काउसगो कल्पो तस्मा
खोचेतु पञ्चमहाकल्पाण्यसंपर्शणाणं अरुमहापालिहेरसहियाणं चउतीस-

तीर्थकर

ऋतिसप्तविसेस-संयुक्ताण्, वस्तीस देविन्द-मणिपटुड-मथृयमहियाण्, बलदेव-
बाषुदेव-चक्रकहर-रिसि-भुणि-अइ-आणगारोदगाहाण् । धुइरायसहस्र सिंहलयाण्
उरहाण्ड-वीर देवियमेत्यगहारिण् । वीर त्रिलक्ष्मी ह अन्धेमि
पूज्जेमि वंदामि रामांशामि, दुक्खलयद्वारो, कम्मकरुओ, वीहिलादो गुणह-
गमण् उमाहिमरण्, जिशागुणस्पृष्टि होउमजकं ।”

हे भगवन् ! मैं समस्त दोषों को दूर करने के लिए चौबीस तीर्थकरों की भक्तिरूप कायोत्सर्ग धारण करता हुआ अपने पूर्वकृत कर्मों की आलोचना करता हूँ । पञ्चमहाकल्याणकों से सुशोभित, अष्टमहाप्रातिहार्थों से युक्त चौबीस अनिशय विशेष संयुक्त, वस्तीस देवेन्द्रों के मणिमय मुकुट समलंकृत मस्तकों के द्वारा पूजित, बलदेव, बाषुदेव, चक्रवर्ती, ऋषि, मुनि, शति, अनगार इनके द्वारा बेश्चित, शत-सहस्र अर्थात् लाखों स्तुतियों के स्थान, वृषभादि महावीर पर्यन्त मङ्गल पुरुषों की मैं सर्वकाल अर्ची करता हूँ । पूजा करता हूँ । वंदना करता हूँ । मैं उनको प्रणाम करता हूँ ।

मेरे दुखों का छब दो, कर्मों का चब दो, रहनव्रय का लाभ हो, सुगति मैं गमन हो । समाधि पूर्वक मरण हो । जिनेन्द्र की गुण-सम्पत्ति मुझे प्राप्त हो ।

इस तीर्थकर भक्ति में उनकी अनेक विशेषताओं का उल्लेख किया गया है । वृषभादि महावीर पर्वत चौबीस तीर्थकरों का प्रथम विशेषण है “पञ्च-महाकल्याणसंपणणाण्”—वे पञ्च महान कल्याणकों को प्राप्त हैं । अतएव यस्मु के पञ्च कल्याणकों आदि के विषय में प्रकाश डालना इच्छित प्रतीत होता है कारण वे तीर्थकर को छोड़ अन्य जीवों में नहीं पाए जाते ।

पञ्च-कल्याणक

इस संयार को पञ्च प्रकार के संकटों, अकल्याणों की आश्रय-भूमि माना गया है । उनको दृढ़य, चंत्र, काल, भव तथा भावरूप पञ्च परावर्तन कहते हैं । तीर्थकर भगवान के गर्भ, जन्म, तप, ज्ञान तथा मोक्ष का स्वरूप चित्तवन करने वाले सत्पुरुष को उक पञ्च परावर्तन-

तीर्थकर

रूप संसार में परिभ्रमण का कष्ट नहीं उठाना पड़ता है। उनके पुण्य-जीवन के प्रसाद से पंच प्रकार के अकल्याण छूट जाते हैं तथा यह जीव मोक्षरूप पंचभगति को प्राप्त करता है। पंच अकल्याणों की प्रतिपक्ष रूप तीर्थकर के जीवन की भर्म, जन्मादि पंच अवस्थाओं की पंचकल्याण या पंचकल्याणक नाम से प्रसिद्धि है।



गर्भ-कल्याणक

जिनेन्द्र भगवान के जननी के गर्भ में आने के छह माह पूर्व से ही इस वसुन्धरा में भावि तीर्थकर के मङ्गलमय आगमन की महत्ता को सूचित करने वाले अनेक मुभ लादे सम्प्रदाय हीं उन्हीं हैं।

जन्मपुरी का सौन्दर्य

भगवान शृणुभद्रे व के माता महदेवी के गर्भ में आने के छह माह पूर्व ही इन्द्र की आज्ञानुसार देवों ने स्वर्गपुरी के समान अयोध्या नगरी की रचना की थी। उसे साकेता, विनीता तथा सुकोशलामुरी भी कहते हैं। उस नगरी की अपूर्व रमणीयता का कारण महाकवि जिनसेन खासी के शब्दों में यह था—

स्वर्गस्यैव प्रतिच्छ्रद्धं भूतेकिऽस्मिन् विघ्निमिः ।

विशेषरमण्यैव निमिषे सामैः पुरी ॥१२—७१॥

देवों ने उस अयोध्या नगरी को विशेष मनोहर बनाया। इसका कारण यह प्रतीत होता है कि देवताओं की यह इच्छा थी, कि मन्त्रज्ञों में भी स्वर्ग की एक प्रक्षिकृति रही आवे।

उस नगरी के मध्य ने सुरेन्द्रभवन से स्वर्णी करने वाला महाराज नामिराज के निवासार्थ नरेन्द्रभवन की रचना की गई थी। उसकी दीवालों में अनेक प्रकार के दृश्यानन्द भयि लगे थे। सुवर्णमय स्तम्भों से वह समलंकृत था। पुष्प, मूँगा, मुक्कादि की मालाओं से शोभायमान था।

सर्वतोभद्र प्राप्ताद

हरिवंशपुण्य में लिखा है, कि उस राजभवन का नाम सर्वतोभद्र था। उसके ८१ मंजले थे। वह परकोटा बाटिका-ड्यानादि

तीर्थेकर

से शोभायमान था । हरिवंशपुराणकार के शब्द इस प्रकार हैं—

सर्वतोमद्रसंहेसौ प्राप्तादः सर्वतो मतः ।

सैकारीति पदः शालवाप्युदानाच्छलंकृतः ॥सर्ग ८—४॥

शालकुमयस्तम्भो विचित्रमणिभिर्ज्ञः ।

पुष्पविद्रुमन्तुक्षादिमालामिहपणोभितः ॥३॥

तीर्थेकर आदिनाथ भगवान् जिस नगरी में जन्म लेने वाले हैं, तथा जहाँ सभी देव, देवेन्द्र निरन्तर आया करेंगे, उसकी श्रेष्ठ रचना में संदेह के लिए स्थान नहीं हो सकता । इसका कारण महापुराणकार इस प्रकार प्रगट करते हैं—

सुत्रामा सूत्रधारोऽस्याः शिलिपनः कल्पज्ञः सुरः ।

वास्तुजातं भद्रोऽकृत्स्ना सोऽद्वा नास्तु कथं पुरी ॥१२—७५॥

इस शिलेन्द्रपुरी के निर्माण में इन्द्र महाराज सूत्रधार थे, कल्पवासी देव शिल्पी थे, तथा निर्माण के देव लक्ष्मी पूर्वी पड़ी थी, वह नगरी प्रशंसनीय कथों न होगी ? वह नगरी द्वादश योजन प्रसाण विस्तारवुक्त थी ।

जिनसेन स्वामी का कथन है—“इस अयोध्या नगरी में सब देवों ने हर्षित होकर शुभ दिन, शुभ मुहूर्त, शुभ योग तथा शुभ

^१ इनसे यह बात त्यक्त गात हो जाती है, कि बैज्ञानिक जैग संस्कृति में मुहूर्त शोधन आदि ज्योतिष शास्त्रोंके बातों का तत्त्वान्वयन् तथान है । जैनागम के द्वादश अङ्गों में ज्योतिर्विद्या की नीं परिगणना की गई है । जो व्यक्ति यह कह दिया करते हैं कि ग्रन्थों आदि विचार सब व्यर्थ की बातें हैं, इसमें कुछ तर नहीं है, वे जैन-दृष्टि से अपरिचित हैं । आचार्य बीरसेन ने धवला दीका में बताया है कि महारानी शुभनीन्द्र धरसेनाचार्य ने भूत्यलि पुष्पदेत सुनियुगल के जो भद्राकल्प यदिपाहुड का उपदेश देसा प्रारम्भ किया था, वह शुभ लियि, शुभ नशन, शुभवार में कार्य सन्दर्भ किया गया था । धवला दीका के ये शब्द ध्वान देने योग्य हैं—

“धरसेन गदारण सोमन्तिहि-शुभलत-वारे नंथो पारदो”

(पृष्ठ ७०, गाग १)

तौरेंकर

सर्वन^१ में पुरुषाह वाचन किया। जिन्हें अनेक संपदाओं की परम्परा प्राप्त हुई है, ऐसे महाराज नाभिराज तथा महाराजी महदेवी ने हर्षित हो समृद्धियुक्त अयोध्या नगरी में निवास प्रारम्भ किया।

निश्कदशवैतयोः पुत्रो जनितेति शतक्रतुः ।

तयोः पूर्जा व्यवहत्तोच्चैः अभिषेकपुरस्सरम् ॥१२—८३॥

इन राजदर्पात के सबैं पुत्र उत्पन्न होने वाले हैं, इसलिए शृंग ने अभिषेक पूर्वक उन दोनों की बड़ी पूजा की थी।

रत्न-दृष्टि

भगवान के जन्म के १५ माह पूर्व से उस नगरी में प्रभात, मध्याह, सायंकाल तथा मध्य रात्रि में चार बार साढ़े तीन करोड़ रत्नों की वर्षा होती थी। इस प्रकार चौदह करोड़ रत्नों की प्रतिदिन वर्षा हुआ करती थी। महापुराण एवं हरिवंशपुराण में लिखा है कि

‘मैंने देला आचार्य शांतिसागर महाराज सदा महत्वपूर्ण धार्मिक अनुष्ठानों के विषय में पंचाङ्ग देखा करते थे। एक दिन मैंने पूछा था—“महाराज मुहूर्त देखने में क्या सार है? किसी आदमी के मन में वैराग्य उत्पन्न होने ही उसे दीक्षा देना चाहिये। आप दीक्षा का मुहूर्त वयों विचारा करते हैं?” महाराज ने कहा था—“शाल में लिखा है कि मुहूर्त में दीक्षा देना ठीक है, कब ठीक नहीं है। असत्य में जिनकी दीक्षादि विधि हुई है, उनमें अनेकों को हमने छोड़ होते देला है। अतः विचारकर योग्य समय पर कार्य करना चाहिये।”

अल्पकल ज्योग्यिविद्या की योग्यता रखने वाले व्यक्ति कम मिलते हैं। अल्पकली मुहूर्त-शुद्धि के नाम पर प्रायः अल्पमत अशुभ काल को ही अविवेक वदा शुभ मुहूर्त बता देते हैं। इसका कुफल देख जन-साधारण भ्रम-बरण शास्त्र को ही दोष देने लगते हैं। विचारक व्यक्ति का कर्तव्य है कि सुधोग्य विद्वान् से योग्यता ले अपना कार्य सम्पन्न करे।

महाराज नाभिराज ने जब योग्य मुहूर्त में अयोध्या महानगरी में प्रवेश किया था, तब अन्य युसुओं का क्या कर्तव्य है यह स्वयं सरू हो जाता है?

यह रत्नवर्षा राजभवन में होती थी। वर्द्धमान चरित्र में कहा है कि तिर्थगिरि भक्त नामके देवगण लुकेंर की आङ्गा से चारों दिशा में साढ़े तीन कोटि रत्नों की वर्षा करते थे। (संग १३—ख्लोक ३६)

सुरांगनाओं द्वारा माता की सेवा

अनेक देवांगनाएँ जिनेन्द्र जननी की सेवार्थी राजभवन में पहुँची, श्री देवी भगवान के पिता से कहने लगीं।

निजेरासुर-नरेन्द्रगेषु त कोडधुनापि गुणसामयमृच्छाति ।

अप्रतस्तु सुतसा यतो गुरुस्त्वं जगदूत्रयशुरोर्भविष्यति ॥५—२६॥

धर्मशार्माभ्युदय ॥

देव, असुर, सामव तथा नागकुमारों में अब कौन आपके गुणों से समानता को प्राप्त करेगा, क्योंकि आप त्रिलोक के गुरु के भी गुरु होंगे ?

इसके पश्चात् वे देवियों माता की सेवा के लिए अन्तःपुर में प्रवेश करती हैं। अशग कवि ने लिखा है कि कुण्डल पर्वत पर निवास करने वाली चूलावती, सालनिका, नवमालिका, त्रिशिरा, पुष्पचूला, कनकचित्रा, कनकादेवी तथा वारुणी देवी नाम की अष्टदिक् कन्याएँ इन्द्र की आङ्गा से जिनमाता की सेवार्थी गई थीं।

पूर्व, पश्चिम, उत्तर, दक्षिण इन चारों दिशाओं में सामान्य दृष्टि से समानता होते हुए भी पूर्व दिशा को विशेष महत्व इसलिए दिया जाता है कि भूमंडल में अपना उच्चल प्रकाश प्रदान करने वाला भास्कर उसी दिशा में उदय को प्राप्त होता है। प्रभातकाल में सूर्योदय के बहुत पहले से ही पूर्व दिशा में विशेष रमणीय लगती है। इसी प्रकार जिनेन्द्र-जननी के रम्भ से दया-धर्म के मूर्य तीर्थकर परमदेव का जन्म होने के पहले से ही अपूर्व सौभाग्य और सातिशय पुण्य की प्रभा दृष्टिगोचर होती है। तीर्थकर भगवान के जन्म लेने के पहले से ही वह भावि जिनमाता मनुष्यों की तो बात ही क्या देवेन्द्रों स्था इन्द्राणियों के द्वारा भक्तिपूर्वक सेवा तथा पूजा को प्राप्त करती है। यह

स्वप्न-दर्शन

प्रत्येक जिनेन्द्र-जननी सोलह स्वप्नों को रात्रि के अन्तिम प्रहर में दर्शन के पश्चात् अपने पतिदेव से उनका फल पूछती है, जिससे माता को अपार आनन्द प्राप्त होता है। कामगति के सुप्रभगवान के गर्भ में आगमन की सूचना देते हैं। माता अपने पतिदेव से स्वप्नों का वर्णन करती हुई, उनका फल पूछती है: तब भगवान के पिता कहते हैं—

नामेऽतंगचरितो त्रृष्णो वृषात्मा
सिहेन् विक्रमधनो रमयाऽविकशीः ।
सूर्यां धृत्यश्च शिरसा शशिता छमच्छित्
सूर्येण दीप्तिमहितो ऋषतः सुखः ॥२८॥
कल्याणभावकलशतः सरसः सरस्तो
गम्भीरधीरुद्विनारान्तस्तदीशः ।
देवाहितास-मणिराश्यनलैः प्रतीत-
देवोर्यागम्भुषोदशम-कर्मदाहः ॥२९—३॥ मुनिसुब्रतकाव्य

हे देवि ! गजेन्द्र दर्शन से सूचित होता है, कि तुम्हारा पुत्र उच्च चरित्रवाला होगा। वृषभदर्शन से धर्मात्मा, सिंहदर्शन से पराक्रमी, लक्ष्मी से अधिक श्री सम्पन्न, माला से सबके द्वारा शिरोवार्य, चन्द्रमा से संसार के सन्ताप को दूर करनेवाला, सूर्यदर्शन से अधिक तेजस्वी, मत्स्यदर्शन से रूप सम्पन्न, कलश से कल्याण को प्राप्त, सरोवर से बात्सल्यभाव युक्त, समुद्र से गम्भीर बुद्धिवाला, सिंहासन से सिंहासन का स्वामी, देवविमान से देवों का आगमन, नागभवन से नागकुमार देवों का आगमन, रक्षराशि से गुणों का स्वामी तथा अरिनदर्शन से सूचित होता है कि वह पुत्र कर्मों का इाह करके मोक्ष को प्राप्त करेगा।

माता मरुदेवी के स्वप्न में दिखा था, कि उनके मुख में वृषभ ने प्रवेश किया। उसका फल यह था, कि वृषभनाथ भगवान तुम्हारे गर्भ में प्रवेश करेंगे। अन्य तीर्थकरों के आगमन के

समय वृथम के आकार के स्थान में गजाकारवारी शरीर का मुख-द्वार से प्रवेश होता है।

जिनेन्द्र जननी के समान सोलह स्वप्न अन्य माताओं को नहीं दिखते हैं। अष्टाङ्ग निमित्त विद्या में एक भेद स्वप्न-विज्ञान है। निरोग तथा स्वस्थ व्यक्ति के स्वर्णों द्वारा भविष्य का विध होता है। ऊन्नचूड़ामणि काल्य में कहा है—

अस्वप्नपूर्वे हि जीवानं न हि जातु शुभाशुभम्।

जीवों के कभी भी स्वप्नदर्शन के बिना छुभ तथा अछुभ नहीं होता है। इस विद्या के ज्ञाताओं की आज उपलब्धि न होने से उस विद्या को अवधारी मानना भूलभरी बात है। तुलनात्मक रीति से विविध धर्मों का साहित्य देखा जाय, तो याकि जिनेन्द्र शिशु की श्रेष्ठता को सूचित करने वाले उपरोक्त स्वप्न समुदाय जिनमाता के सिवाय अन्य माताओं की नहीं दिखते। इस स्वप्नदर्शन के प्रश्न पर गम्भीरतापूर्वक हास्टि ढालने वाले को जिनेन्द्र तीर्थकर की श्रेष्ठता स्वर्य समझ में आए बिना न रहेंगी। माता के गर्भ में पुण्यहीन शिशु के आने पर अमङ्गल स्वप्न आते हैं।^१

उपरोक्त स्वप्नदर्शन के पश्चात् तीर्थकर होने वाली आत्मा माता के गर्भ में आ गई।

^१ इस प्रस्तुति में यह उल्लेज स्मरणवोत्तम है, कि वरसेनाचार्य शिरमार की चन्द्रगुप्ता में थे। प्रभल में उन मुनीन्द्र को स्वप्न आया था, कि दो द्ववलबर्णीय दृष्टि उनके चार आरा, जिन्होंने उनकी तीन श्रद्धालु दो और उनके चरणों में पड़ गए। इस स्वप्नदर्शन के उपरान्त उन्होंने कहा—“जयते सुध-देवदा-जिनवारी जयवंत हो। उसी दिन शुद्धलि, पुण्यदन्त नाम से आगामी प्रसिद्ध होने वाले सुन्न युगल आनन्दार्देव के रूपीप आए, जिनने उनकी प्रस्ताव किया (ध्वला दीका भाग ६, पुल्ल ६८)। धर्मेनानार्थ स्वप्नादि अष्टांग निमित्त शारीर के पारदर्शी विद्यान् थे। इति कथन के प्रकाश में स्वप्न-विज्ञान का महत्व सर्वत्र बात होता है।

गर्भवितरण

उस खम्मथ समस्त सुरेन्द्र गर्भवितरण की बात चिह्नित निरिक्षणों से आनकर अर्थात्यापुरी से आए। सब देवेन्द्रों तथा देवों ने उस पुण्य नगरी की प्रदक्षिणा की और महाराज नाभिराज तथा माता महदेवी को ममस्कार किया। वडे हृष्ट से गर्भकल्याणक का महोत्सव मनाया गया। भगवान के मनुष्यावु का उदय है ही। माता के गर्थ में आने से उनके मनुष्यावु के उदय में कोई अन्तर नहीं पड़ता।

गर्भ तथा जन्म में तुलना

तत्कृष्टि से गर्भ भै आना तथा गर्भ से बाहर जन्म लेने में कोई अन्तर नहीं है। इस अपेक्षा से गर्भकल्याणक और जन्मकल्याणक में अधिक भेद नहीं दिखता। अन्तर इतना ही है कि जन्म लेने पर उन प्रभु को चर्म चलुआई से दूरीन का सौभाग्य सबको प्राप्त होता है। भगवान का सद्गुरु भाता के उदर के भोजर गर्भकल्याण में हो जाता है। इसी कारण उनका प्रभाव अद्भुत रूप से दिखने लगता है।

प्रसु का प्रभाव

उनके प्रभाव से माता की बुद्धि अद्भुत विशुद्ध हो जाती है और वह परिचालिका देवियों द्वारा प्रश्ने गए अत्यन्त कठिन मामिक तथा गूढ़ प्रश्नों का सुन्दर समाधान करती है।

भगवान स्वर्ग छोड़कर अर्योध्या में आए हैं, किन्तु उनकी सेवा में तत्पर देव-देवी समुदाय को देखकर ऐसा लगता है कि स्वर्ग रवर्ग ही उन प्रभु के पीछे-पीछे यहाँ आ गया है। देवताओं का चित्त स्वर्ग बापिस जाने का नहीं होता था, कारण जो निधि निषेन्द्र-भगवान के रूप में अब अर्योध्या में आ गई है, वह अन्यत्र नहीं है।

सेवा का पुरस्कार

अब माता का त्रिशोष भवेत्तरज्ञन तथा सेवा आदि का कार्य देवांगनाएँ करने लगी। इन्द्र का एकगात्र यह लक्ष्य था कि देवाधिदेव

की सेवा श्रेष्ठ रूप में सम्पन्न हो। इस श्रेष्ठ सेवा तथा भक्ति का पुरस्कार भी तो असाधारण प्राप्त होता है।

बादिराज गुरि ने एकीभाव स्तोत्र में लिखा है ~ भगवन् !
इन्द्र ने आपकी भली शक्ति सेवा की इसमें आपकी महिमा नहीं है।
महत्व की बात तो यह है कि उस सेवा के प्रसाद से उस इन्द्र का संसार परिव्रक्षण छूट जाता है। कहा भी है—

इन्द्रः सेवा तत्र सञ्चुरुर्ता त्तिः तया श्लाघनं ते ।

तस्यैवेषं भद्रस्यकर्ता श्लाघ्यतामातन्तिः ॥

शची का अद्भुत सौभाग्य

त्रिलोकसार में जिखा है कि सौधर्म स्वर्ग का इन्द्र, उसकी इन्द्राणी वही से चक्रकर एक मनुष्य¹ भव धारण करके मोक्ष को प्राप्त करते हैं। सौधर्मेन्द्र तो साधिक दीं सागर प्रमाण देवानु पूर्ण होने के परचात् मनुष्य होकर मोक्ष पाता है, किन्तु उसकी पृष्ठेवी शची-इन्द्राणी पञ्चपन पञ्च प्रमाण आयु को भोग मनुष्य होकर शीघ्र मोक्ष जाती है। सागर प्रमाण स्थिति के समान पञ्चपन पञ्च की आयु बहुत कम है। इन्द्राणी के शीघ्र भोक्ष जाने का कारण यह प्रतीत होता है कि यिनमाता व्यक्ति प्रभु इन दोनों की सेवा का अपूर्व सत्या उत्कृष्ट सौभाग्य उसे प्राप्त होता है। इस उच्चबल कार्य से उसे अपूर्व यिन्द्राणी प्राप्त होती है। लौकान्तिक देव की पदवी महाम है। उनकी स्थिति आठ सागर है। सर्वार्थसिद्धि के देव लोकोन्दर हैं। उनकी स्थिति तेतीस सागर है। इतने लम्बे काल के पश्चात् उन अद्वान देवों को मोक्ष का लाभ मिलता है। शची का भाग्य सञ्चालन में अद्भुत है, कारण स्त्रीलिङ्ग छेद वह शीघ्र निर्वाण को प्राप्त करती है। जिनेन्द्र-भगवान की भक्ति का प्रत्यक्ष उदाहरण इन्द्राणी है।

¹ तोदम्भो वरदेवी सलोकवाला व दिव्यवरनिदा ।

लोकान्तिक-उच्चबल तदेति त्रुआः शिल्पुर्देवं जंति ॥५४८॥ त्रिलोकसार

सौधर्मेन्द्र, शची, उनके संग आदि लौकिक, दक्षिणेन्द्र, लौकान्तिक, सर्वार्थसिद्धि के देव वहाँ से चय करके निवन से भोक्ष जाते हैं।

देवियों का कार्य

माता की सेवा में तत्पर श्री आर्द्ध देवियों ने क्या कार्य किया इसे महाकवि जिनसेन इस प्रकार कहते हैं—

श्री हृषीतुतिश्च कौर्तिश्च वृद्धिलद्दम्यौ च देवताः ।

यित्रं लज्जां च धैर्यं च स्तुतिवैष्वं च वैभवम् ॥१२ - १६॥

श्री देवी ने माता में श्री अथीन् शोभा की वृद्धि की । ही देवी ने ही अथीन् लज्जा की, त्रुति देवी ने धैर्य की, कौर्ति देवी ने स्तुति की, वृद्धि देवी ने ज्ञान की तथा लज्जा देवी ने विभूति की वृद्धि की ।

माता के शरीर में गर्भवृद्धि का वाल्य चिन्ह न देखकर प्रभु के पिता के शक्तिमन को इससे शान्ति भिजती थी, कि जिनमाता की तीव्र अभिलाषा चिमुबन के उद्धार रूप दोहला में व्यक्त हुआ करती थी ।

भुनिशुब्रतकाव्य में लिखा है—

गर्भस्य लिंगं परमाणुकस्पमध्येतद्गोचरनवेद्य रक्षी ।

जगत्क्रयोद्धारण-दोहरेन परं नामणां वृद्धुवेसस्त्वां ॥४—६॥

भगवान के पिता ने जिनेन्द्रजननी के शरीर में परमाणु-प्रमाण भी गर्भ के चिन्ह न देखकर केवल जगत्क्रय के उद्धाररूप दोहला से उसे गर्भचत्ती समझा ।

इस कथन से जिनेन्द्रजननी की शरीर स्थिति सम्बन्धी परिस्थिति का ज्ञान होता है, वैसे भगवान की गर्भकल्याणक सम्बन्धी अपूर्व सामग्री को देखकर सभी जीव प्रभु के गर्भवंतरण को भली प्रकार जानते थे और उनके जन्म-महोत्सव देखने की ममता से एक-एक लक्षण को ध्यानपूर्वक गिना करते थे ।

मनोहर-चित्रण

महापुराणकार ने लिखा है—

रत्नगर्भा धरा जाता हृषगर्भः सुरोत्तमः ।

द्योममायाज्जगद्गर्भं गर्भाधानोत्सवे विभोः ॥१२—६॥

तीर्थकर

भगवान के गर्भकलयाएँ के उत्सव के समय पृथ्वी तो रत्नवर्षी के कारण रत्नगर्भी हो रही है; सुरराज हृष्णर्भ अर्थात् हृष्णपूर्ण हो गए हैं। जगन्नार्भ अर्थात् पृथ्वीमण्डल जीवों को प्राप्त हुआ, अर्थात् संसार भर में प्रभु के गर्भावतरण की बार्ता घिरवात हो रही ।

गर्भस्थ शिशु जैसे-जैसे चर्धमान हो रहे थे, वैसे-वैसे माता की तुल्दि विशुद्ध होती जा रही थी। नवमा माह निकट आने पर सेवा में संलग्न देवियों ने अत्यन्त गृह तथा सनेहरंजक प्रश्न भाता से पूछना आरम्भ किया तथा भाता द्वारा सुन्दर समाधान प्राप्त कर वै हर्षित होती थी ।

सेवा का आनन्द

कोई वह सोचे कि जिन-जननी की विविध प्रकार से सेवा करने में महान पुण्यबली देवियों को कष्ट होता होगा, तो अनुचित बात होगी। जिन माता के गर्भ में सति, श्रुति, अवधिज्ञानयारी तीर्थकर-प्रकृति सम्पन्न जिनेन्द्रियेव हैं। उनकी सेवा तथा सत्संग से जो उनको आनन्द प्राप्त होता था, वह स्वात्म-स्ववेत्र ही था। दूसरा अवक्षि उस भावान सौभाग्यजनित रस का कैसे कथन कर सकता है?

तीर्थकर रूप अपूर्व निमित्त के सुधोरण से माता के ज्ञान का अद्भुत विकास हो गया था। देवता भी माता के महान ज्ञान तथा अनुभव से अपने को कृतार्थी करते थे।

माता से प्रश्नोत्तर

देवियों के द्वारा माता से किए गए प्रश्नोत्तरों की रूपरेखा समझने के लिये महापुराण से लिखित ये प्रश्नोत्तर महत्वपूर्ण हैं। देवियों ने पूछा—

....कः पैजरन्धारते....कः पृथ्व-निस्वनः ?

कः प्रतिष्ठा जीवनां....कः पाठ्योच्चरच्युतः ? ॥१२—२३॥

माता ! पिंजरे में कौन रहता है ? कठोर शब्द करनेवाला कौन है ? जीवों का आश्रय कौन है ? अच्छर-च्युत होने पर भी पढ़ने

योग्य क्या पाठ है ?

माता ने उत्तर दिया—

शृङ्कः पंजरमध्यास्ते काकः परुष निस्वनः ।

लोकः प्रतिष्ठा जीवानां श्लोकः पाठ्येन्द्रच्युतः ॥२३७॥

कः पंजरमध्यास्ते ?—इसमें ‘गु’ शब्द जोड़कर माता कहती हैं—गुक पिजरे में रहता है। दूसरे प्रश्न के उत्तर में माता ‘का’ शब्द जोड़कर कहती है—काँह रखर दाता ‘काक’ पही होता है। तीसरे प्रश्न के उत्तर में माता ‘लो’ शब्द को जोड़कर कहती है—जीवों का आश्रय ‘लोक’ है। चौथे प्रश्न के उत्तर में माता कहती है—‘श्लो’ शब्द को जोड़ने से अक्षर-च्युत होने पर भी ‘श्लोक’ पठनीय है।

तीन देवियों ने क्रम-क्रम से ये प्रश्न पूछे—

कः समुत्सृज्यते धान्ये घट्यत्यस्त्र को घटम् ।

वृषान्दशति कः एषी वदायै रक्षैः पृथक् ॥२४४॥

माता ! धान्य में क्या छोड़ दिया जाता है ? घट को कौन बनाता है ? वृषान् अर्थात् चूहों को कौन पापी भक्षण करता है ? इनका उत्तर पृथक्-पृथक् शब्दों में बताइये जिनके आदि के अक्षर पृथक्-पृथक् हों ?

माता ने उत्तर दिया—‘पलाल’ धान्य में छोड़ा जाता है। ‘कुलाल’ कुसकार घट को बनाता है। ‘विडाल’ चूहों को खाता है। इस उत्तर में प्रारम्भ के दो शब्द पृथक्-पृथक् होते हुए अन्त का अक्षर ‘ल’ सबमें है।

प्रगट रूप से अनेक देवियाँ माता की बड़े विवेक पूर्वक सेवा करती थीं।

शर्ची द्वारा गुप्तसेवा

महापुराण में अह महत्वपूर्ण कथन आया है—

निग्रुहं च शर्ची देवी सिष्मेने किल साप्सराः ।

मध्योनाऽघ-चिनाशास्य प्रहिता तां महासुतीम् ॥२५६॥

तीर्थयात्रा

अपने समस्त पापों का नाश करने के लिए इन्द्र के द्वारा भेजी गई इन्द्राणी अनेक आप्सराओं के साथ माता की गुप्त रूप से सेवा करती थी।

प्रभु की माता में प्रारम्भ से ही लोकोच्चरता थी। अब जिनेन्द्र देव के गर्भ में आवें से वह सचमुच मैं अगत् की माता या जगद्गुरु ही गई। उनकी महिमा का कौन बताने कर सकता है?

धर्मस्थ-प्रभु का वर्णन

गर्भकल्याणके वर्णन प्रसङ्ग में माता के गर्भ में विराजमान तथा सूर्य सदृश शीघ्र ही उदय को प्राप्त होने वाले उन भगवान की अवस्था पर प्रकाश डालने वाला धर्मशार्मिण्युदय का यह पद कितना भावपूर्ण है—

ममेऽवसङ्गाधि मलैस्त्वलंकिर्त्तिः ।

ज्ञानत्रयं त्रिमुद्वनैकमासुर्द्यभार ।

तुमोदयादिं गहनात्तस्तोषि धाम ।

किं नाम मुच्यते कदाचन तिमरशिमः ॥६—८॥

वे जिन्मगवान् गर्भ में निवास करते हुए भी मल से अकलेक अंग गुक्के थे। त्रिमुद्वन के अद्वितीय गुह उन प्रभु ने सत्ति, श्रुत तथा अवधिं इस ज्ञानत्रय को धारण किया था। उन्नत उदयाचल के गहन में छिपा हुआ भी तिमरशिम अर्धान् सूर्य क्या कभी अपने तेज को छोड़ता है?

भगवान वो माता के गर्भ में विराजमान हैं। वे चर्म-चक्षुओं के अगोचर अवश्य हैं, किन्तु उनके प्रभाव से माता मैं वृद्धि को प्राप्त सौन्दर्य तथा ज्ञान का अद्भुत विकास देखकर सभी लोग वह जानते थे, कि इस असाधारण स्थिति का क्या कारण है। श्राची दिशा के गर्भ मैं सूर्य प्रारम्भ मैं छिपा रहता है, फिर भी विश्व को प्रकाश देने वाले तेजःपुङ्ग प्रभाकर के प्रभाव से उस दिशा मैं विलक्षण सौन्दर्य तथा अपूर्वता नवनरोचर होती है; ऐसी ही स्थिति भगवान के गर्भ मैं विद्यमान रहने पर जिनेन्द्रजननी की हुई थी। माता के सौन्दर्य की

तीर्थकर

कलक एक देवी की इस सुन्दर उक्ति में प्रतीत होती है, जो उसने प्रथम के रूप में माता के समव उपस्थिति की थी। देवी पूछती हैं—

माता की स्तुति

किमेन्द्रुरेको लोकेऽस्मिन् ल्यवास्व मुदुरेक्षितः ।

आश्रित्या बलाद्य यद्गेषं कलायनम् ॥१२—२५४ महामुराण॥

हे माता ! यह तो बताओ कि क्या तुमने इस जगत् में एक चंद्रमा को ही सृष्टु देखा है, जो उसकी परिपूर्ण कलालूप संपत्ति को तुमने जबरदस्ती छीनकर अपने पास रख लिया है ?

यही व्याज-स्तुति अलंकार के द्वारा माता के अनुपम सौन्दर्य पर प्रकाश डाला गया है। महाकवि जिनसेन स्वामी माता की एक अपूर्व विशेषता को स्पष्टगति शब्दों द्वारा व्यक्त करते हैं—

स नसीन परं कंचित् न अते सम स्वयं जनैः ।

आंद्रिकलेय रुद्रयीः देवीत च सरस्वती ॥१२—२६७॥

माता को स्वयं सभी लोग प्रणाम करते थे। माता किसी को प्रणाम नहीं करती थी। गर्भ में भगवान को धारण करने से माता की समता कौन कर सकता है ? अतः जिनजननी महान् सौन्दर्य पूर्ण चन्द्रकला तथा भगवती सरस्वती सदृश प्रतीत होती थीं।

प्रमु की जन्म-वेला

भगवान के जन्म का समय समीप आ गया है। उस समय भगवान के पिता महाराज नाभिराज की स्थिति पर महामुराण-कार इन अर्थपूर्ण शब्दों में शकारा डालते हैं—

अनेक देवियाँ आदर के साथ जिसकी सेवा करती हैं, ऐसी माता मरुदेवी परमसुख देने वाले और तीनों लोकों में आश्चर्य उत्पन्न करने वाले भगवान ऋषभदेव रूपी तेजः पुञ्ज का धारण कर रही थी और महाराज नाभिराज कमलों से शीभायमान सरोबर के समान जिनेन्द्र हाने वाले सुत रूपी सूर्य की प्रतीक्षा करते हुए बड़ी आकृक्षा के साथ महान् धैर्य को धारण कर रहे थे।

तीर्थकर

जगद्भ्या महादेवी साता महेश्वी के गर्भ में विराजमान
ऋषभनाथ प्रभु का ज्ञान लेत्रों द्वारा दर्शन कर सुसुच्छ जन उन परम
प्रभु को प्रणाम करते हुए महान् सुख का अनुभव करते थे। प्रत्येक
के अन्तःकरण में बाल-जिनेन्द्र के सत्त्वात् दर्शन की अवर्णनीय उत्कृष्टा
उत्पन्न ही रही थी। काल व्यतीत होते देर नहीं लगती। सुख के ज्ञान
तो और भी बेग से बीत जाते हैं। अब वह मङ्गल बेला समीप है,
जब त्रिभुवन को सुखदाता देवाविदेव भगवान् आदीश्वर प्रभु का
जन्म होने वाला है। उन प्रभु की शतशः प्रणाम है।



जन्म-कल्याणक

प्राची के गर्भ में स्थित सूर्य सहशा जननी के रमे में वे धर्म-सूर्य जिनेन्द्र भव्यों को अधिक हर्ष प्रदान कर रहे थे, किन्तु जिस समय उन प्रभु का जन्म हुआ, उस समय के आनन्द और शान्ति का कौन वर्णन कर सकता है? अन्तःकरणों में सभी जीवों ने जिनेन्द्र जन्म जनित आनन्द का अनुभव किया। विभुवन के सभी जीवों को सुख प्राप्त हुआ। जन्म के समय जननी को कोई कष्ट नहीं हुआ। देवियाँ सेवा में तैयार थीं।

पुण्य बातावरण

उस समय का नैसर्गिक बातावरण रमणीय और सुदूर ही गया। नभीमण्डल अत्यन्त स्वच्छ था। मन्द सुगन्ध पघन का संचार हो रहा था। आकाश से सुरान्धित पुण्यों की वर्षा हो रही थी। प्राकृतिक मुद्रा को धारण करके आत्मा की वैभाविक परणति का त्याग कर आपनी प्राकृतिक स्थिति को ये जिनेन्द्र शीघ्र ही प्राप्त करेंगे, इसलिए सचेतन एवं अचेतन प्रकृति के मध्य एक अपूर्व उल्लास और आनन्द की रेखा दिखाई पड़ती थी। महापुराण में जन्म के समय हुई मधुर बातों का इस प्रकार वर्णन किया गया है—

दिशः प्रसत्तिमासेदुः आसीन्दिर्मलमम्बरम् ।

गुणानामस्य वैमलयं अनुकर्तुमित्र प्रभोः ॥१३—५॥

उस समय समस्त दिशाएँ स्वच्छता को प्राप्त हुई थीं।

दीर्घकर

आकाश भी निर्मल हो गया था। उससे ऐसा प्रतीत होता था मात्रा
भगवान के गुणों की निर्मलता का वे अनुकरण कर रहे हों।

प्रजानां ववृषे दर्षः सुरा विस्मयमाश्यन् ।

अम्लानि कुसुमान्युचैः मुमुक्षुः सुरभूहाः ॥६॥

प्रजा का दर्श बढ़ रहा था। देव आरचर्य को प्राप्त हो रहे
थे। कल्पबृक्ष प्रचुर प्रमाण में प्रफुल्लित पुष्पों की वर्षा कर रहे थे।

अभाहताः पृथुध्वाना दध्वन्दिविजानकाः ।

मृदुः सुर्विशिष्टिराम भृत्यंतं तश्च वृत्तौ ॥७॥

देवों के दृश्यमि अपने आप ऊँचा शब्द करते हुए बज रहे
थे। कोमल, शीतल और सुगन्धित पवन मन्द-मन्द वह रहा था।

प्रचक्षल मही तोषात् नृत्यन्तोव चलदग्निरिः ।

उद्देलो जलधिनूनं आगमत् प्रमदे परम् ॥८॥

उस समय पदाङ्गों को कमित करती हुई पृथ्वी भी हिलने
लगी थी, मात्रा आनन्द से नृत्य ही कर रही हो। समुद्र की लहरें
सीमा के बाहर आती थीं, जिनसे सूचित होता था कि वह परम
आनन्द को प्राप्त हुआ हो।

मुनिसुक्रत-ऋष्य में लिखा है:—

गृहेषु शंखाः भवनाभरणां कन्त्सरणां पठहाः पदेषु ।

ज्योतिस्सुराणां सदनेषु सिंहाः कल्पेषु घटाः स्वयमेव नेतुः ॥४—३६॥

प्रभु के जन्म होते ही भवनवासियों के यहाँ शंखध्वनि होने
लगी। व्यंतरों के यहाँ भेरीनाद होने लगा। ज्योतिषी देवों के यहाँ
सिंहनाद तथा कल्पवासियों के यहाँ स्वयमेव घटा बजने लगे।

सौधर्मेन्द्र का विस्मय

उस समय सौधर्मेन्द्र का आसन कमित हुआ, तथा भस्तक
खुक गया था। सौधर्मेन्द्र चकित हो सोचने लगे कि वह किस

तीर्थकर

निर्भय, शंकारहित, अत्यन्त बालान्द्रभाव, सुख-प्रकृति, स्वच्छन्दभावबाले तथा शीघ्र कार्य करने वाले व्यक्ति का कार्य है ?

हरिहरेऽनुरुद्धरण मैं कहत हूँ—

असनस्य प्रक्षेपेन दध्यौ विस्मितवीरुद्धदा ।

सौधमेन्द्रश्चलन्मौलिर्भूत्वा मूर्धानमृक्षतम् ॥८—१२३॥

अतिवलेन सुन्देन स्वतंत्रेणाशुकारिणा ।

निर्भयेन विश्वकेन वेनेदमध्यनुष्टितम् ॥१२४॥

इन्द्रमहाराज पुनः चिन्तानिमग्न होकर विचार करते हैं—

देवदानवल्लभस्य स्वपराक्रमशालिनः ।

कथंचित्प्रतिकूलस्य यः समर्थः कदर्थने ॥१२४॥

हन्त्रः पुरुदरः शकः कथं न गणितोऽयुना ।

सोऽहं कंपयतनेन सिंहासनमकंपनम् ॥१२५॥

अपने पराक्रम से शोभायमान भी देव-दानव समुदाय के किंचिन् ग्रतिकूल होने पर जो उनके दमन करने की सामर्थ्य धारण करता है, ऐसे शक, पुरुदर, इन्द्र नामधारी मेरे अकोपित सिंहासन को कंपित करते हुए उसने मेरी कुछ भी गणना नहीं की !

सहसा सौधमेन्द्र के चित्त में एक बात उत्पन्न हुई, कि तीनों लोकों में ऐसा भगवान तीर्थकर भगवान के सिवाय अन्य से सम्भावनीय नहीं है—“संभावयामि नेहर्ज्ञ प्रभावं सुवनत्रये । प्रभुं तीर्थकरादन्यम् ।” पश्चात् अविज्ञान द्वारा ज्ञात हो गया कि भरतज्येष्ठ मैं भद्राराज नाभिराज के यहाँ ऋषभनाथ तीर्थकर का जन्म हुआ है । तत्काल ही वह विस्मयभाव मदान् अरानन्दरस मैं परिणत हो गया । “अथतां जिन इत्युक्त्वा प्रणाम कृतांजलिः” (१२८ सर्ग ८) — जिनेन्द्र भगवान जयर्वत हों । ऐसा कहकर सात घेड़ जा हाथ जोड़कर सौधमेन्द्र ने जिनेन्द्र भगवान को परोक्षरूप से प्रणाम किया ।

जन्मपुरी को प्रस्थान

शीघ्र ही तीन लोक के रवासी तीर्थकर का जन्म जानकर देवों की हाथी, धोद्वा, रथ, गन्धवं, पियादे, वेज तथा तृत्यकारिणी

तीर्थोक्ति

रूप सात प्रकार की सैन्य इन्द्र महाराज की आवाज से दिक्कली। उस समय शोक, विपाद आदि विकारों का लवेत्र अव्याप्त हो गया था। सर्वजगत् आजन्द के सिन्धु में निमन्त्रित था। शान्ति का सागर दिग्दिगन्त में लहरा रहा था।

प्रश्न ?

इस प्रथम में एक शंका उत्पन्न होती है कि भगवान का जन्म तो अबोध्या में हुआ और उनके जन्म की सूचना देने वाली वायु-ध्वनि खर्गलोक में होनी लगी। इन्हों के उक्तुद मुक्त गए। इस कथन का क्या कोई वैज्ञानिक समाधान है ?

समाधान

जिनागम में जगद् ब्रह्मापी पक पुद्गल का महास्कंद्र शाना है, वह दृष्टि है। आज के भौतिक शास्त्रों ने 'पर्य' नाम का एक तत्त्व माना है, जिसके साध्यम से हजारों मील का शब्द रेडियो अन्तर्राष्ट्रीय प्रवाह सुनाई पड़ता है। इस विषय से आगवा का यह अवधारणानि देने चाहिये है। तत्त्वार्थी सूक्त में पुद्गल के शब्द, वर्थ आदि भेदों का उल्लेख करते हुए उसका भेद सूखमता के साथ सूखना भी बताया है। तत्त्वार्थीराजवार्तिक में लिखा है "द्विविधं स्थौर्यमवर्गतत्त्वं । तत्त्वार्थं जगद् ब्रह्मविभिन्नं महास्कंद्रे (अध्याय ५, लूक १५, पृष्ठ २३३) ।—दो प्रकार की सूखना कही गई है। पुद्गल की अन्तिम सूखलता जगत् भर में ब्रह्म महास्कंद्र में है। इस महास्कंद्र के भाग्यम से जिन्दान् जन्म की सूचना तत्काल सम्पूर्ण जगत् की अनोयास प्राप्त हो जाती है। इस महास्कंद्र तत्त्व का स्वरूप किसी भी एकान्तवादी सिद्धान्त में नहीं बताया गया है, कारण वे एकान्तवाद अल्पज्ञों के कथन पर आधित हैं और जैनभौम सर्वज्ञ के परिपूर्ण ह्यान तथा तदुक्तुसार निर्दोष बाणी पर अवस्थित हैं।

देवसेना

सिद्धान्तहसार दीपक में लिखा है कि इन्द्र महाराज की सवारी के आगे-आगे सात प्रकार की सेना मधुर गीत शाती हुई चलती थी। असिध्यम जाति के देवों ने राज, तुरङ्ग आदि का रूप धारण किया था। देवगति नाम कर्म का उदय होते हुए भी अर्लप

तीर्थकर

पुरुष होने के कारण उन आभियोग्य जाति के देवों को विविध प्रकार के बाहन आदि का रूप धारण करना पड़ता था। ऐसी ही दशा किलिपिक देवों की हीन पुरुष होने के कारण होती है। वे अशुद्ध पिंडधारी न होते हुए भी शद्रों के समान उच्च देवों से पृथक् गमनादि कार्य करते हैं। जिनेन्द्र जन्मोत्सव के समय उनका कहाँ स्थान रहता है, यह पृथक् रूप से उल्लेख नहीं किया गया है।

गज रूपधारी देवों की सेना विघ्नधर, कामदेव आदि का पञ्ज स्वर में गुणगान करती है। तुरङ्ग सेना ऋषभ स्वर में मांडलिक महामांडलिक राजाओं का गुणगान करती है। देवरथ वाली सेना गांधार स्वर में बलभद्र, नारायण, प्रतिनारायण के बल-बीर्य का गुणगान करती हुई चृत्य करती जाती थी। पैदल रूप देवसेना मध्यम स्वर में चक्रवर्ती की विभूति, बल, बीर्यादि का गुणगान करती थी। वृषभ सेना पंचम स्वर में लोकपाल जाति के देवों का गुणानुवाद करती हुई चरमशरीरी मुनियों का गुणगान करती थी। धैवत स्वर में गन्धर्व-सेना गणधरदेव तथा ऋषिभारी मुनियों का गौरवगान करती थी। नृत्यकारिणी सेना निपाद स्वर में तीर्थकर भगवान के छियालीस गुणों का और उनके पुरुष जीवन का संबुद्ध गमन करती थी।

अद्भुत रस का उद्दीपक ऐरावत

सौभरेन्द्र ने एक लाख योजन के ऐरावत हाथी पर शची के साथ बैठकर अनेक देवों से समलंकृत हो अयोध्या के लिए प्रस्थान किया। ऐरावत गज का वर्णन अद्भुत रस की जागृत करता है। दैविक चमत्कार का वह अत्यन्त मनोहर रूप था। विकिया शक्ति सम्पन्न देवों में कल्पनातीत शक्ति रहती है। उनका शरीर औदारिक शरीर की अपेक्षा अत्यन्त सूखम होता है। उस सूखम परिणामत प्राप्त वैक्रियिक शरीर का स्थूल रूप दर्शन ऐरावत हाथी के रूप में होता था। वह

^१ “यवेह दासः वाहनादित्यपारं कुर्वन्ति तथा तत्राऽभियोग्याः वाहनादिनादेवोपकुर्वन्ति । किलिवं पापं तदेवामर्लिति किलिवाष्काः तैत्त्वाद्यासित्वानीशा मताः” —

तत्त्वार्थराग्वार्तिक, अश्याय ४, श्ल ५, पुस्तक १५३

गज लौकिक गजेन्द्रों से भिज था। देव सामर्थ्य का सुभवुर प्रदर्शन था। उस गज के बत्तीस मुख थे। प्रत्येक मुख में आठ-आठ दंत थे। प्रत्येक दंत पर एक-एक सरोबर था। प्रत्येक सरोबर में एक-एक कमिलिनी थी। एक-एक कमिलिनी में बत्तीस-बत्तीस कमल थे। कमल के प्रत्येक पत्ते पर बत्तीस-बत्तीस देवांगनाएँ मधुर नृत्य कर रही थीं। इस प्रकार २५६ दृृत, ८१६२ कमल, २६२१४४ कमल-पत्र तथा ८३८८०८ देवाङ्गनाएँ थीं। यही बात मुनिसुब्रत काण्डा में इस प्रकार लिखी है:—

द्वात्रिशदास्त्वानि मुखेष्टदंता द्वैडिव्यरब्दौ विस्तीर्णी विस्त्व्यां।

द्वात्रिशदब्जानि दलानि चाप्ते द्वात्रिशदिद्विदस्य रेतुः ॥५—१३॥

ऐरावत का स्वरूप चिन्तन करते ही बुद्धिजीवी मनुष्य में अद्भुत रस उत्पन्न हुए विना न रहेगा। यदि वह सोचे कि स्थूल रूप-धारी छोटे दर्पण में बड़े-बड़े पदार्थ प्रतिबिम्ब रूप से अपना सूक्ष्म परिमण्ण करके प्रतिबिम्बित होते हैं। छोटे से केसरा द्वारा बड़ी चरसुओं का चित्र खींचा जाता है, तब इससे भी सूक्ष्म वैक्रियिक शरीरधारी देव रचित ऐरावत गज का सज्जाव पूर्णतया समीक्षक बुद्धि के अनुरूप है। सभ्यगृहप्रिजीव की अङ्ग पदार्थों की अचित्य शक्ति को ध्यान में रखकर ऐसी बातों को शिरोधार्य करने में संकोच का अनुभव नहीं करती है। सर्वज्ञ वीतराग, हितोपदेशी भगवान के द्वारा कथित तत्त्व होने से ऐसी बातें सम्यक्त्वी सद्भज ही स्वीकार करता है। इन बातों को काल्पनिक समझने वाला आगम की विविध शाखाओं का मार्मिक ज्ञान होते हुए भी सम्यक्त्व शून्य ही स्वीकार करना होगा, कारण सम्यक्त्वी जीव प्रवचन में कथित समस्त तत्त्वों को प्राप्ताशिक मानता है। एक भी बात को न मानने वाला आगम में सिद्धात्मोदय के अधीन भाना गया है तथा अङ्ग शून्य कहा गया है :

सम्यक्त्वी जीव आगमोक्त आश्चर्यप्रद बातों के विहृद्ध अश्रद्धा कामुकाव त्यागकर यह सोचता है:

सूदमं जिनोदितं तत्वं हेतुभिन्नैव हन्त्यते ।

आज्ञासिद्धं च तद् ग्राहां नान्यधावादिनां जिनः ॥

सर्वेषु निरन्त्रदेव द्वारा कथित तत्त्व आनन्द सूक्ष्म है। उसका युक्तिओं द्वारा स्वेच्छन नहीं हो सकता। उसे भगवान् की आज्ञा रूप से प्रामाणिक भावकर अहण करना चाहिये, क्योंकि जिनेन्द्र अन्यथा प्रतिपादन नहीं करने हैं। रागद्वेष तथा अज्ञान के द्वारा मिथ्या कथन किया जाता है। जिनेन्द्रदेव सर्वेषां बीतरता एवं हितोपदेशी है; अतः उनकी वाणी में सुमुख भव्य संदेह नहीं करता है।

विशेष बात

एक बात विशेष विचारणीय है। आधुनिक विज्ञान के अनुसन्धान द्वारा ऐसी अनेक शोधों तथा आविष्कारों की उपलब्धि हुई है, जिसका जैन शास्त्रों में पहले ही कथन किया जा चुका है। पुरुष लक्ष्य में अचिन्त्य अनन्त शक्तियों का भवद्वार है, यह जैन-मान्यता। आज के यौत्तिक विचित्र आविष्कारों द्वारा समर्थन को प्राप्त कर रही है। वैज्ञानिकों की एटम (अणु) सम्बन्धी शोध ने संसार को खुकित कर दिया है। अमेरिक वैज्ञानिक ऑस्ट्राइन ने यह प्रमाणित कर दिया¹ कि एक ग्राम वजन के पुरुष में शक्ति का इतना महान् भवद्वार भरा है कि उससे दिलही से कलकत्ता पूरी लदी हुई डाकगाड़ी छह सौ वार गमनागमन कर सकती है। अमेरिकन शास्त्र द्वारा प्रकाशित पुस्तक 'Exploring the Atom'² में लिखा है "जब

1 Einstein proved mathematically that one gram of matter, if wholly converted into energy could perform about $900,000,000,000,000,000$ ergs of work. One gram is about one masha in the Indian system of weights..... And the amount of energy expressed above can enable the fully loaded Calcutta Mail to make six hundred trips between Delhi and Calcutta—"Einstein's contribution to World" article in 'The American Reporter' of March, 1957.

2 "When we strike a match we have enough heat to light a candle. But if we could break up the match atom by atom converting its entire mass into energy, it is said that we could have enough heat to melt all the snow in the Swiss Alps"—Exploring the Atom' Page 5.

हम दियासलाई की एक लकड़ी जलाते हैं, तब एक मोसबच्ची जलाने और्म्य पर्याप्त गमीं प्राप्त होनी है। यदि हम उस दियासलाई के अणुओं का विभाजन करते जायें, तो इतनी शक्ति प्राप्त हो जायगी, जिससे स्किटजरलैंड देश के हिमाच्छादित आलपस पर्वत का समस्त बर्फ प्रानी रूप परिनित कराया जा सकता है।” जब ऐसी पुढ़ल की अहुत शक्तियों का उपयोग सीमित शक्ति तथा साधन सम्पन्न मानव कर सकता है, तब वैकिञ्चिक शरीरधारी अवधिज्ञानी देव व्या-व्या चमत्कार नहीं दिखा सकते? अतएव आत्महितैषियों का कर्तव्य है कि जिनवाणी के कथन पर श्रद्धा करने में संकोच न करें।

सुन्दर कल्पना

सोलह स्वर्ग पर्वत के समस्त देव-देवांगना तथा भवनत्रिक के देवताओं का समुदाय महान् पुरुषात्मा सौधर्मेन्द्र के नेतृत्व में आकाशभारी से श्रेष्ठ वैभव, आनन्द, प्रसन्नता तथा अमर्यादित उष्णास के साथ अयोध्या की ओर बढ़ रहा था। जिनसेन स्वामी ने लिखा है—

तेषामाप्ततां यानविमनैराततं नभः ।

त्रिष्टुप्टिलोभ्योऽन्यत् स्वर्णन्तरमिवासूजत् ॥१३—२२॥

बन आते हुए देवों के विमान और बाहनों से व्याप्त हुआ आकाश ऐसा प्रतीत होता था मात्रो वेसठ-पटल बाले स्वर्ग को छोड़ यहाँ अन्य स्वर्ग का ही निर्माण हुआ हो।

महाराजनाभिराजके राजभवन का प्रांगण सुरेन्द्रों के समुदाय से भर गया था। देवों की सेनाएँ अयोध्यापुरी को प्रेरकर अवस्थित ही रहीं। इन्द्र ने शची की आदेश दिया कि तुम प्रसव-मन्दिर में प्रवेश करो। माता को सुखमयी निद्रा में निमग्न करके उनकी गोद में मायामयी शिशु को रखकर जिनेन्द्र देव को मेह पर्वत पर अभिषेक के लिए लाओ।

शची द्वारा जिनेन्द्र-चंद्र का दर्शन

शची ने सुरराज की आळा का पालन करते हुए उस नरेन्द्र-भवन के अन्तर्मुख में प्रवेश किया और माता मरुवेदी के अंचल के

तीर्थोक्ति

भीतर विद्यमान वालस्वरूप जिनेन्द्र चन्द्र का दर्शन किया । उस समय इन्द्रियी के हृदय में ऐसा आनन्द आया कि उसका वर्णन साक्षात् भारती के द्वारा भी शायद ही सम्भव हो । त्रिलोकीनाथ की मुख-चन्द्रिका का दर्शन कर शची के नयन-चकोर पुलकित हो रहे थे । हृदय कल्पनातीत आनन्द-सिन्धु में निष्ठन हो रहा था । शची ने वाल-जिनेन्द्र सहित माता को बड़े प्रेम, ममता, अद्वा तथा भक्तिपूर्वक देखा । अनेक बार भगवान और जिनमाता की प्रदक्षिणा के पश्चात् त्रिमुखन के नाथ भगवान को बड़ी मस्ति से प्रणाम किया तथा जिनमाता की स्तुति करते हुए कहा—

त्वमस्व भुक्तनाम्यासि कल्याणी त्वं सुमंगला ।

महादेवी त्वमेवाद्य त्वं समुण्डा वशस्त्वनी ॥१३—३० महापुराण॥

हे माता ! तुम तो तीनों लोकों का कल्याण करने वाली विरवजननी हो, कल्याणकारिणी हो, सुमंगला हो, महादेवी हो, वशस्त्वनी और पुण्यवती हो ।

वाल जिनेन्द्र के स्पर्शन का सुख

इस प्रकार जिनेन्द्र जननी के प्रति अपना उच्चल प्रेम प्रदर्शित करते हुए माता को निद्रा निमन्त्र कर तथा उनकी गोद में माया-शिशु को रखकर शची ने जगद्गुरु की अपने हाथ में उठाया और परस आनन्द को प्राप्त किया । जिनसेन स्वामी कहते हैं—

तद्गात्र-स्पर्शशाद्य सुदुर्लभस्तौतदा ।

भेने त्रिमुत्रैश्वर्यं स्वसात्कुर्त्तिवात्किलम् ॥१३—३३॥

उस समय अत्यन्त दुर्लभ वाल-जिनेन्द्र के शरीर का स्पर्श कर शची को ऐसा प्रतीत हुआ, मानो तीन लोक का ऐश्वर्य ही उसने अपने अधीन कर लिया हो । इन्द्रियी ने प्रभु को बड़े आदर पूर्वक लेकर इन्द्र को देने के लिए व्रस्त्र-मन्दिर के बाहर पैर रखे । उस समय भगवान के आगे अष्टमङ्गल द्रव्य अर्थात् छत्र, छवजा, कलश, चामर, सुप्रतिष्ठिक (ठोना), स्तारी, दर्पण तथा पंखा धारण करने वाली दिक्कुमास्त्री देवियाँ भगवान की उत्तम ऋद्धियों के समान गमन

तीर्थकर

करती सूर्य प्रतीत होती थी। इसके अनन्तर इन्द्राणी ने देवाधिदेव को सुरराज के करतल में सौंपा। कहा भी है—

ततः करतले देवी देवराजस्य तं न्यथात् ।

बालाक्षमौदये सनौ प्राचीव प्रस्फुरमस्यौ ॥१३—३६॥

जिस प्रकार पूर्व दिशा प्रकाशमान मणियों से शोभायमान उद्याचल के शिखर पर बाल-सूर्य को विराजमान करती है, उसी प्रकार इन्द्राणीने बाल-जिनेन्द्र की इन्द्रके करतलमें विराजमान कर दिया।

सुरराज द्वारा सहस्र नेत्र धारण

प्रभु की अनुपम सौन्दर्यपूर्ण मनोज्ञ शशि का दर्शन कर सुरराज ने सहस्रनेत्र बनाकर अपने आश्चर्यचकित अंतःकरण को उप करने का प्रयत्न किया, किन्तु फिर भी वह आश्चर्य एवं आनन्द के सिन्धु में आकंठ निमग्न रहा आया। जिस समय सुरराज ने जिनराज की अपनी गोद में लिया, उस समय जय-जयकार के उच्च स्वर से दर्शों दिशाएँ पूर्ण हो रही थीं। इन्द्र ने प्रभु की स्तुति करते हुए कहा—

त्वं देव जगतां ज्योतिः त्वं देव जगतां सुरः ।

त्वं देव जगतां धारा त्वं देव जगतां पतिः ॥४१॥

हे भगवन् ! आप विश्वव्योति स्वरूप हो, जगत के गुरु हों, त्रिसुधन को मोक्षमार्ग का प्रदर्शन कराने वाले विधाता हों। हे देव ! आप समस्त जगत् के नाथ हों।

ऐरावत पर स्थित प्रभु की शोभा

भगवान् को अपनी गोद में लेकर सुरराज ऐरावत हाथी पर विराजमान हुए। उस समय ऐसा दिखता था मानो तिष्ठ पर्वत के अंक में बालसूर्य शोभायमान हो रहा हो। उस परम पावन हश्य की ऊण भर अपने मन में कल्पना करते से भी हृदय में एक मधुर रस की धारा प्रवाहित हुए विना न रहेगी। सौधमेन्द्र की गोद में त्रिलोकी-

तीर्थकर

नाथ हैं। ईशान द्वयों का सुरेन्द्र अवल वर्ण का ब्रह्म लगाए हैं। सनलकुमार तथा महेन्द्र नामक इन्द्रियगल देवाधिदेव के ऊपर चामरे तुरते रहे हैं। इस शोकोन्नत इश्य की कल्पना ही जब हृदय में पीयूष धारा प्रवाहित करती है, तब उसके साक्षात् दर्शन से जीवों की क्या मनःस्थिति हुई होगी? जिनसेनाचार्य कहते हैं—

दृष्टा तदात्मी भूति कुदृष्टिमस्तो परे।

सन्मर्गहच्छातेनुः इन्द्र-प्रामाण्यमस्थिताः ॥५३॥

उस समवं की विभूति का दर्शन करके अनेक मिथ्यादृष्टि देवों ने इन्द्र को प्रमाणरूप मानकर सम्यक्त्वभाव को प्राप्त किया था।

सुमेरु की ओर ग्रस्थान

महापुराण में लिखा है, “मेरु पर्वत पर्यन्त नीलमणियों से निर्मित सोपान-पक्कि ऐसी शोभायमान हो रही थी, मानो नील दिंखने वाले नेमोमंडल ने भक्तिवश सीढ़ियों रूप परिषमन कर लिया हो।

समस्त सुर-समाज ज्योतिष पटल को उल्लंघन कर जब ऊपर यढ़ा, तब वे ताराओं से समलैंकृत गगनमंडल की ऐसा सोचते थे, मानो यह कुमुदिनियों से शोभायमान सरोबर ही हो। ज्योतिष-पटल में ७६० योजन पर ताराओं का सञ्चाल है। उसके आगे दश योजन ऊँचाई पर सूर्य का विमान है, पश्चात् ८० योजन ऊपर जाने पर चन्द्र का विमान है। तीन योजन पर नक्षत्र हैं। तीन योजन ऊपर बुध है। तीन योजन ऊपर शुक्र है। तीन योजन ऊपर बृहस्पति है। चार योजन ऊपर शनैश्चर का विमान है। इस प्रकार ७६० योजन से ऊपर ११० योजन में ज्योतिषी देवों का आवास है। ये ज्योतिषी देव मेरु पर्वत से ११२१ योजन दूर रहकर मेरु की परिक्रमा करते हैं।

^१ जैनागम के अनुसार ८०० महायोजन अर्थात् ८०० × २००० कोश = १,६००,००० कोश पर सूर्य विमान है। शनैश्चर का विगान ६०० महायोजन अर्थात् १८००००० कोश पर स्थित है। नेत्र पर्वत एक लाख योजन प्रमाण-ऊँचा है। एक हजार योजन तो उसकी गहराई है। चालीस योजन की चूलिका है। अतः भूतल से ६६,०४० योजन पर नेत्र शिखर है।

(शेष आगे है)

मधुर उत्प्रेक्षा

जब जिननाथ को लेकर देवेन्द्र समुदाच व्योतिलोक के समौप से जा रहा था, उस समय के हृश्य को ध्यान में रखकर कवि अहंदास एक मधुर उत्प्रेक्षा करते हैं—

मुग्धाप्सरः कापि चकार सर्वानुफूलवक्त्रान् किल धूपचूर्णम् ।

स्थाग्रवसिन्धरणे निःपत्ति हर्सति कांगरचयस्य नुध्या ॥५—३१॥

किसी भीली अप्सरा ने सूर्य सारथि को अंगीड़ी की अभिन समर्कर उस पर धूपचूर्ण डालकर सबको हास्ययुक्त कर दिया था।

सुमेह की ओर जिनेन्द्रदेव को लेकर जाता हुआ समस्त सुर-समाज ऐसी आशंका उत्पन्न करता था, भानो जिनेन्द्र के सम्बरणों के समान अंब स्वर्ग भी भगवान के साथ-साथ शिहार कर रहा है।

मेरु पर पहुँचना

अब सौधमेन्द्र मेरु पर्वत के शिखर पर जिनेन्द्र भगवान के साथ पहुँच गए। महापुराण में कहा है:— सुरेन्द्र ने बड़े प्रेम से गिरिराज सुमेह की प्रदक्षिणा की और पांडुकवन में ऐशान दिशा में स्थित पांडुकशिला पर भगवान की विराजमान किया। वह शिला सौ योजन लम्बी, आठ योजन चौड़ी और अर्धचंद्रमा के समान आकारवाली है। उस पांडुक वन में आग्नेय दिशा में पांडु कंवला, नीऋत्य दिशा में रक्तशिला और वायव्य दिशा में रक्तकंवला शिला है। सुवर्ण वर्ण वाली पांडुक शिला पर भरतद्वेत्रोत्पन्न तीर्थंकर का अभिषेक होता है। रूप अर्थात् रजत वर्णवाली पांडुकशिला पर पश्चिम विदेह के तीर्थंकर का; सुवर्ण वर्णवाली रक्तशिला पर ऐरावत क्षेत्र के तीर्थंकर का तथा रक्त वर्णवाली पांडुकवला शिला पर पूर्व विदेह के तीर्थंकर का अभिषेक होता है। यह कथन त्रिलोकसार (गाथा ६३३, ६३४) में आया है। तत्वार्थेराजवार्तिक में पांडुकशिला को पूर्व दिशा में बताया है—“तस्यां प्राच्यां दिशि पांडुकशिला” (पृ० १२७)। वहाँ यह भी लिखा है—

वह $66040 \times 2000 = 132040000$ कोश पर है। उत्तमी ऊँचाई तक देवों के सिकाय ऋबिधारी मुनि तथा विदावर भी जाते हैं। अतः व्योतिलोक तक मनुष्यों के पहुँचने की बात तनिक भी अचरजकरी नहीं है।

तीर्थकर

“अपाच्यां पांडुकंबलशिला” अर्थात् दक्षिण दिशा में पांडुकंबल-शिला है। “प्रतीच्यां रक्तकंबलशिला” अर्थात् पश्चिम में रक्तकंबला-शिला है। “उदीच्यां अतिरक्तकंबलशिला” अर्थात् उत्तर में अतिरक्तकंबल-शिला है।

अकलंक स्वामी ने यह भी लिखा है कि—पूर्व दिशा के सिंहासन पर पूर्व विदेह शास्त्रे तीर्थकर का, दक्षिण में अग्न द्वारों का, पश्चिम में पश्चिम विदेहोत्पन्नों का तथा उत्तर के सिंहासन पर ऐरावत नेत्रोत्पन्न तीर्थकरों का चारों निकाय के देवेन्द्र सपरिवार तथा महाविभूतिपूर्वक छीरोदधि के १००८ कलाशों से अभिषेक करते हैं। कहा भी है—पौरस्त्वे सिंहासने पूर्वविदेहजान् अपाच्ये भरतजान्, प्रतीच्ये अपरविदेहजान्, उदीच्ये ऐरावतजास्तीर्थकरांशुनिकाय-देवाधिपः सपरिवाराः महत्या विभूत्या छीरोदधारिपरिपूर्णष्टसहस्र-कलकलशैरभिपिञ्चति (पृ० २२७) ।

तिलोयपण्ठति में लिखा है कि पांडुकशिला पर सूर्य के समान प्रकाशमान उन्नत सिंहासन है। सिंहासन के दोनों पाशबों में दिव्यरत्नों से रचे गए भडासन विद्यमान हैं। जिनेन्द्र भगवान को भव्य सिंहासन पर विराजमान करते हैं। सोधर्मेन्द्र दक्षिण पीठ पर और ईशान हन्द्र उत्तर पीठ पर अवस्थित होते हैं। (गाथा १५२२—२३—२८—२९, अध्याय ४)

उक्त विषय पर त्रिलोकसार की ये गाथाएँ प्रकाश ढालती हैं—

पांडुक-पांडुकंबल-रत्ना तथा रक्तकंबलाख्यः शिलाः ।

ईशानात् कांचन-रूप्य-तपनीय-रुद्धिरनिमाः ॥६३३॥

भरतापरविदेहैरावतपूर्वविदेह-जिननिवद्वाः ।

पूर्वापरदक्षिणोत्तर-दीर्घी अस्तिरस्थिरभूमिमुखाः ॥६३४॥

मध्ये सिंहासनं जिनत्य दक्षिणागतं तु सौधर्मे ।

उत्तरमीषानेदे भद्रसनमिह त्रयं वृत्तम् ॥६३५॥

मेरु वर्णन

भरतक्षेत्र के जिनेन्द्र का मेरु पर्वत की पांडुक शिला पर अभिषेक होता है। उस मेरु की नीचे एक हजार योजन प्रमाण है। जम्बूद्वीप सम्बन्धी मेरु का नाम सुदर्शन मेरु है। इस मेरु के अधीभाग में भद्रशाल वन है। पाँच सौ योजन ऊँचाई पर नन्दनवन है। पश्चात् साढ़े बासठ हजार योजन की ऊँचाई पर सौमनस वन है। वहाँ से छत्तीस हजार योजन ऊँचाई पर पांडुक वन है। इन चारों वनों में चारों दिशाओं में एक-एक अकृत्रिम चैत्यलय है। एक मेरु सम्बन्धी चारों वनों के सोलह चैत्यलय हैं। विजय, अचल, मंदर तथा विद्युन्माली नाम के चार मेरुओं के सोलह-सोलह जिनालय मिलकर पाँच मेरु सम्बन्धी अस्ती जिनालय आगम में कहे गए हैं। इन अकृत्रिम जिनालयों में अस्त्यन्त वैभवपूर्ण जीवित जैनधर्म समान भंगोद्ध १०८ जिनविम्ब शोभावसान होते हैं। राजवातिक में लिखा है—“ब्रह्मत्रप्रतिमा अनाद्यनिधना अप्टशतसंख्याः वर्णनातीतविभवाः मूर्ती इव जिनधर्मी विराजते” (पृ० १२६)

यह मेरु पर्वत नीचे से इक्सठ हजार योजन पर्वन्त नाना रूपयुक्त है। उसके ऊपर यह सुवर्ण वर्ण संयुक्त है। चिलोकसार में कहा है—

नानारूपविच्चित्रः ॥कषणछिसहस्रकेषु प्रथमतः ।

तत उपरि मेरुः सुवर्णवर्णान्वितः भवति ॥६५८॥

मेरु सम्बन्धी जिनालयों की बंदना करके देव, बिद्याधर तथा चारण ऋषिधारी सुनीश्वर आत्म-निर्वलता प्राप्त करते हैं। इस सुदर्शन मेरु की चालीस योजन ऊँची चूलिका कही गई है। उस चूलिका से बालाघ्र भाग प्रवाण दूरी पर स्वर्ण का ऋजु विमान आ जाता है। इस एक लक्ष योजन ऊँचे मेरु के नीचे से अधोलोक आरम्भ होता है। मेरु प्रमाण मध्यलोक माना गया है। यही बात राजवातिक में इस प्रकार वर्णित है—“मेरुर्य व्रयाणां लोकानां मानदंडः । तस्याधस्ताद्-धोलोकः । चूलिकामूलादूर्ध्वंमूर्ध्वलोकः । राघवप्रवाणुस्तिर्थिवस्तीर्थ-स्तिर्थग्लोकः । एवं च कृत्वा उम्बर्धीनिर्वचनं क्रियते । लोकत्रयं मिनातीति मेरुरिति” (पृ० १२७)

मेरु के बर्ण के विषय में अकलंक स्वामी ने लिखा है—
 “अबोभूमिभाग सम्बन्धी एक हजार योजन प्रभाग प्रदेश के ऊपर
 वैद्यर्थ मणिरूप मेरु का प्रथम कोड है। द्वितीय कोड सर्व रत्नमय है,
 तृतीयकाण्ड सुवर्णमय है। ‘वूलिका वैद्यर्थमणि-
 मयी है।’” (पृ० १२७)

पांडुक शिला

पांडुक शिला के विषय में जिनसेन स्वामी का यह पत्ता
 छान देने योग्य है—

याऽमला शीलमालेव मुनीनामनितास्तः ।

जैनी तनुरिवात्यन्तभास्त्रा सुरभिरशुचिः ॥१३—६२॥

वह निर्मल पांडुकशिला शील-माला समान मुनियों को
 अत्यन्त इस्ट है। वह जिनेन्द्र भगवान के शरीर के समान अत्यन्त
 दैदीयमान, मनोज्ञ तथा पर्वत है।

स्वर्य धौताग्नि या धौता शुतशः सुरनायकैः ।

चीरार्प्पिवास्तुभिः पुरायैः पुरायस्येवाकरचित्तिः ॥१३—६३॥

वह शिला स्वर्य धौत अथौत् उज्ज्वल है, फिर भी सुरेन्द्रों ने
 सैकड़ों बार उसका प्रक्षालन किया है। वास्तव में वह पांडुकशिला
 पुरायोत्पत्ति के लिए खानि की भूमि लुल्य है।

भगवान का जन्माभिपेक

सभी देवगण जन्मोत्सव द्वारा जन्म सफल करने के लिए
 पांडुकशिला को घेरकर बैठ गए। देवों की सेना आकाशरूपी औंगल
 को व्याप कर ठहर गई। भगवान पूर्व मुख विराजमान किए गए। देव
 दुँदुभि बज रही थी। अप्सराएँ नृत्यगान में निमन्त्रित थीं। अत्यन्त
 प्रशान्त, भवय तथा प्रमोद परिपूर्ण वातावरण था। सौधमेन्द्र ने
 अभिपेक के लिए प्रथम कलश उठाया। ईशानेन्द्र ने सघन चन्दन से
 चूचित दूसरा पूर्ण कलश उठाया। बहुत से देव श्रेणीबद्ध होकर
 सुवर्णमय कलशों से तीरसागर का जल लेने निकले।

तीर्थेकर

भगवान का रक्त धबल वर्ण का था । क्षीरसागर के जल भी उसी वर्ण का है । अतएव उस जल द्वारा जिनेन्द्रदेव का अभिषेक बड़ा सुन्दर प्रतीत होता था । महापुराणकार कहते हैं—

पूर्ण स्वायंभुवं गात्रं स्प्रष्टुं क्षीरच्छशोम्यितम् ।

नान्यदस्ति जलं योग्यं क्षीरविवसिलाहृते ॥१३—१२१॥

जो स्वयं पवित्र है, और जिसमें दुध सटश स्वच्छ रुधिर है, ऐसे भगवान के शरीर का स्वर्ण करने के लिए क्षीरसागर के जल के सिवाय अन्य जल योग्य नहीं है, ऐसा विचारकर ही देवों ने पंचम क्षीरसागर के जल से पंचम गति को प्राप्त होने वाले जिनेन्द्र के अभिषेक करने का निश्चय किया था ।

क्षीरसागर की विशेषता

क्षीर सागर के विषय में त्रिलोकसार का यह कथन ध्यान देने योग्य है—

जलायरजीवा लवणे कालेयंतिमसर्यंभूरमणे य ।

कम्ममहीपडिकद्वे य हि सेसे जलायरा जीवा ॥३२०॥

लवण समुद्र, कालोदधि समुद्र, अन्तिम स्वर्वंभूरमण समुद्र ये कर्मभूमि से सम्बद्ध हैं । इनमें जलचर जीव पाए जाते हैं । शेष समुद्रों में जलचर जीव नहीं हैं ।

इससे यह विशेष बात दृष्टि में आती है कि क्षीरसागर का जल जलचर जीवों से रहित होने के कारण विशेषता धारण करता है । अभिषेक जल लाने के कलश सुवर्णनिर्मित थे । वे आठ योजन गहरे, उदर में चार योजन तथा मुख पर एक योजन चौड़े थे । वे धिसे हुए चन्दन से चर्चित थे तथा उनके कंठभाग मुक्काओं से अलंकृत थे “मुक्का कलांचितभीदः चन्दनद्रवचर्चितः ।” (पृ० ११५)

सौधमेन्द्र की लोकोत्तर भक्ति

जिनेन्द्र भगवान के अभिषेक की भक्ति में लीन सौधमेन्द्र की विचित्र अवस्था ही रही थी । देवों द्वारा लाए गए सभी १००८

कलशों को एक साथ धारण करने की लालसा से सुरेन्द्र ने विक्रिया द्वारा अनेक सुजाएँ बना लीं। अनेक आमूषणों से अलंकृत उन सुजाओं से वह इन्द्र भूषणंग जाति के कल्पवृक्ष सहश प्रतीत होता था; अथवा एक हजार सुजाओं द्वारा उठाए हुए तथा मोतियों से अलंकृत सुवर्ण कलशों को धारण करते हुए वह सुरराज भाजनंग कल्पवृक्ष की शोभा को धारण करता था।

प्रथम जलधारा का हृष

सौधर्मेन्द्र ने अथ-जय शब्द कहते हुए प्रभु के मस्तक पर प्रथम ही जलधारा छोड़ी, उस समय करोड़ों देवों ने भी जयजयकार के शब्दों द्वारा महान् कोलाहल किया था। आचार्य कहते हैं—

जयेति प्रथमा धारा सौधर्मेन्द्रो न्यपातयत् ।
तथा कलकलो भूयान् प्रचक्षे सुरक्षोटिभिः ॥१३६॥

भगवान् के मस्तक पर पड़ती हुई उस पुरुषधारा ने समस्ते भूमण्डल को पवित्र कर दिया था। महापुरुषकार कहते हैं—

पवित्रोभगवान् पूर्तैः अग्नैस्तदपुनाज्जलम् ।

तस्मुनर्जग्नेदेवेदम् अपावीद् व्यापदिल्मुखम् ॥१३०॥

भगवान् तो स्वयं पवित्र थे। उनने अपने पवित्र अङ्गों से उस जल को पवित्र कर दिया था। उस पवित्र जल ने समस्त दिशाओं में फैलकर सम्पूर्ण जगत् को पवित्र कर दिया था।

प्रभु के अतुल बल से विस्मय

भगवान् में बाल्यकाल में भी अतुल बल था। विशाल कलशों से गिरी हुई जलधारा से बाल-जितेन्द्र को रंचसात्र भी बाधा नहीं होती थी। वह देख अनेक देवगण विस्मय में निमग्न हो गए थे।

महावीर भगवान् का जब मेरु पर इन्द्रकृत अभियेक संपन्न होने को था, उस समय सुरेन्द्र के चिन में वह रांका उत्पन्न हुई थी, कि भगवान् का शरीर छोटा है। कहीं बड़े-बड़े कलशों के द्वारा सम्पन्न

तीर्थकर

किया जाने वाला यह सहभागी अभिषेक प्रभु के अत्यन्त सुकुमार शरीर को सन्ताप तोड़ने न करे ? भगवान् ने अवधिज्ञान से इस बात को जानकर इन्द्र के सन्देह को दूर करने के लिए, अपने पैर के अंगूठे के द्वारा उस महान् गिरिराज को कम्पित कर दिया था । इससे प्रभावित हो इन्द्र ने वर्धमान तीर्थकर का नाम 'बीर' रखा था । आचार्य प्रभाचन्द्र ने ब्रह्मतिकमणि की टीका में उपरोक्त कथन इन शब्दों में स्पष्ट किया है—“जन्माभिषेके च लघुशरीर-इर्णनादाशांकितवृत्तेरिद्रस्य स्वसामर्थ्येवापनार्थं पादांगुष्ठेन मेरुसंचालनदिद्रेण ‘बीर’ इति नामं कृतम्” (पृ० ६६—प्रतिकमणि प्रन्थनयी) ।

वर्धमान चरित्र में उक्त प्रसङ्ग का इस प्रकार निरूपण किया गया है—

तस्मिन् तदा त्तुवति कृपित-शैलराजे योणाप्रयिष्टसत्तिलात्पृथुकेष्यजस्म् ।
इन्द्राद्यस्तु रुणमिवैकाद्ये लिपेतु वीर्यं निर्गाजमनंतमहो जिनानां ॥१७-८२॥

जिस समय इन्द्र ने बाल-जिनेन्द्र का अभिषेक किया, उस समय नासिका में जल के प्रवेश होने से उन बाल-जिनेन्द्र की छोटी आ गई । उससे भेरु पर्वत कम्पित हो गया और इन्द्र आदिक तृण के समान सहसा गिर घड़े । जिनेश्वर के स्वाभाविक अपरिमित बल है ।

यह प्रभाव देखकर इन्द्र ने प्रभु का नाम 'बीर' रखा था । पद्मपुराण का यह कथन भी ध्यान देने योग्य है—

पादांगुष्ठेन यो मेरुमन्तायासेन कंपयत् ।

लेभे नामं महाबीर इति नामालयाविपात् ॥२—७५॥

भगवान् वर्धमान प्रसु ने विना परिश्रम के पैर के अंगुष्ठ के द्वारा भेरु को कम्पित कर दिया था, इसलिए देवेन्द्र ने उनका नाम 'महाबीर' रखा था । यथार्थ में तीन लोक में जिन भगवान् की सामर्थ्य के समान दूसरे की शक्ति नहीं होती है । भेरु शिखर पर किया गया उनका महाभिषेक भगवान् जिनेन्द्र की बाल्य अवस्था में भी अपार सामर्थ्य की स्पष्ट करता है ।

सुभेरु की धबलरूपता

बीर सागर की विपुल जलराशि से व्याप्त सुभेरु पर्वत रुनापिंजर के स्थान में धबलशिरि की तरह दिखाई घड़ता था । हरिकंश-

तीर्थकर

महापुराण में कहा है—

दृष्टः सुसप्तयैर्यः प्राग् मंदो रत्नपिंजरः ।

स एव क्षंरपूर्वैर्धवलीकृतविग्रहः ॥८—१६॥

अभिषेक की लोकोत्तरता

जिनेन्द्रदेव के लोकोत्तर अभिषेक के विषय में आचार्य लिखते हैं—

स्नानासनसभूमेहुः स्नानवारि-घ्योम्युच्चेः ।

स्नानसंप्रादका देवाः स्नानवीद्ग् जिनस्य तत् ॥८—१७॥

उनके स्नान का स्थल सुमोह पर्वत था। तीर सागर का जल स्नान का पानी था। स्नान कराने वाले देवगण थे। जिन भगवान का स्नान इस प्रकार लोकोत्तर था। महापुराण में कहा है कि शुद्ध जलान्मिषेक के पश्चात् विधि-विधान के ज्ञाता इन्हें द्वारा उत्तम भगवान का अभिषेक किया था। इसके पश्चात् क्या हुआ इस पर प्रकाश डालते हुए महापुराणकार कहते हैं—

कृत्वा गंधोदकैरित्थं अभिषेकं सुरोत्तमाः ।

जगतां शात्र्ये शाति घोष्यामासमुच्चकैः ॥१३—१८॥

इस प्रकार गंधोदक से भगवान का अभिषेक करने के उपरान्त इन्द्रों ने जगत् की शान्ति के लिए उच्च स्वर से रात्नितमन्त्र का पाठ किया।

गंधोदक की पूज्यता

भगवान के अभिषेक के गंधोदक को मुनिजन भी आदर की दृष्टि से देखते हैं। कहा भी है—

माननीया मुनीन्द्रारणं जगतामेकपावनी ।

सत्याद् गंधाम्बुधारासमान् या सम व्योमापाप्यते ॥१३—१९॥

जो ऐष्टु मुनियों द्वारा आदरणीय है, जो जगत् को पवित्र करने वाले पदार्थों में अद्वितीय है और जो आकाशगङ्गा के समान

तीर्थकर

शोभायमान है, ऐसी वह सुगन्धित जल की धारा हम सबकी रक्षा करे ।

इस प्रसङ्ग में कन्दड भाषा के महाकवि रत्नाकर का यह कथन स्मरण योग्य है—“हे रत्नाकरश्चीश्वर ! देवेन्द्र आपकी सेवा में अपना ऐरावत अपूर्ण कर गौरव को प्राप्त करता है । वह अपनी इन्द्राणी से आपका शुशंगान करता है । आपके अभिषेक के लिए देवताओं की सेवा के साथ भक्तिपूर्वक सेवा करता है । अद्वायुर्वंक छन्द धारण करता है, मृत्यु करता है, पालकी उठाता है । जब इन्द्र की ऐसी बल्लंग भावपूर्ण खलति है, तब युद्ध मानव का अहंकार धारण करना कहाँ तक उचित है ? (रत्नाकरशतक पद्य द१)

बालरूप भगवान के अलंकार

ओषु रीति से त्रिलोकचूड़ामणि जिनेन्द्र का जन्माभिषेक होने के पश्चात् इन्द्राणी ने बाल जिनेन्द्र को विविध आभूषणों तथा बस्त्रादि से समलैंकृत किया । भरत तथा ऐरावत केऽन्न के तीर्थकरों के उपभोग में आने वाले रत्नमय आभूषण सौधर्म तथा ईशान स्वर्ग में विद्यमान रत्नमय सीकों में लटकते हुए उत्तम रत्नमय करण्डकों अर्थात् पिटारों में रहते हैं । त्रिलोकपरमाणन्ति में इन पिटारों के विषय में लिखा है—“सक्रकादि-पूजाणिज्ञा” अर्थात् ये इन्द्रादि के द्वारा पूजनीय हैं । ‘अणादिणिहणा’ अर्थात् अमादि निधन है तथा ‘महारम्भा’ महान् रमणीय है । (अध्याय द, गाथा ४०३, पृ७ द२६, भाग दूसरा)

ये रत्नमय पिटारे बल्लमय द्वादशधारा युक्त मानस्तम्भों में पाए जाते हैं । त्रिलोकसार में भी कहा है—“सौधर्मद्विके तौ मानस्तम्भौ भरतैरावततीर्थकरप्रतिवद्वौ स्याताम् ।” सानकुमार माहेन्द्र स्वर्ग के मानस्तम्भों में पूर्वापर विदेह के तीर्थकरों के भूषण रहते हैं (त्रिलोक-सार गाथा ५२१, ५२२)

प्रभु का जन्मपुरी में आगमन

सुन्दर बस्त्राभूषणों से प्रभु को समलैंकृत कर सुरराज ने अपने अंतःकरण के उज्ज्वल भावों को ओष्ठ स्तुति के रूप में व्यक्त

तीर्थकर

किया। पश्चात् वैभव सहित वे देव-देवेन्द्र ऐरावत गज पर प्रभु को विराजमानकर अचोध्यापुरी आए। इन्द्र ने महाराज नाभिराज के सर्वतोभद्र महाप्रापासाद में प्रवेशकर श्रीगृह के अंगन में भगवान को सिंहासन पर विराजमान किया। उस समय क्या हुआ यह महा-पुराणकार के शब्दों में ध्यान देने योग्य है—

नाभिराजः समुद्रिन्नसुलकं गत्रमुद्दहन्।

प्रतिविष्टारिताक्षस्तं ददर्शि प्रियदर्शनम् ॥७३॥

मायानिद्राभपाकृत्य देवी शच्या प्रबोधित।

देवीमिः समैच्छिष्ट प्रहृष्टा जगतो पतिम् ॥१४—७५॥

महाराज नाभिराज उन प्रियदर्शन भगवान को प्रेस से विस्तृत नेत्र करके रोमाञ्चयुक्त शरीर होकर देखने लगे।

माया निद्रा को दूरकर इन्द्राणी के द्वारा प्रबोध को प्राप्त लिन जननी ने अत्यन्त आनन्दित हो देवियों के साथ भगवान का दर्शन किया।

माता-पिता का वर्णनातीत आनन्द

गर्भ में प्रभु के आगमन के छह माह पूर्व से ही रक्तों की चर्षी द्वारा भगवान के जन्म की सूचना पाए हुए माता-पिता को इस समय प्रभु का दर्शन कर जो कल्पनातीत सुख प्राप्त हुआ, वह कौन बता सकता है? तीर्थकर के जन्म से जब जगत् भर के जीवों को अपार आनन्द प्राप्त हुआ, तब उनके ही माता-पिता के आनन्द की सीमा बताने की कौन धृष्टता करेगा?

धर्मशास्त्रिदय में लिखा है—

उत्संभास्तोप्य तमग्नं नृपः परिव्यजन्मलितलोचनो वसौ।

अंतर्विनिच्छिप्य सुखं वपुर्गृहे कण्ठयोः संघटयन्त्रित द्वयम् ॥६—११॥

पिता ने अपने अङ्ग से उत्पन्न अङ्गज अर्थात् पुत्र को गोद में लिया तथा आर्लङ्गन किया। उस समय उनके दोनों नेत्र बन्द हो गए थे।

शंका

इन्द्र ने जब प्रसु का प्रथम बार दर्शन किया था, तब वह तो सहस्र नेत्रधारी बना था, किन्तु वहाँ चिलोकीनाथ के पिता ने मनुष्य को सहज प्राप्त चक्रवर्गल का उपयोग न ले उनको भी क्यों बन्द कर लिया था ?

इस शंका के समाधान हेतु महाकवि के उक्त पद्म का उत्तरार्थ ध्यान देने चाहिये है। कवि का कथन है कि—“पिता ने भगवान के दर्शन न जित सुख को शरीर रूपी भवत के भीतर रखकर नेत्ररूपी कपाट-चुगल को बन्द कर लिया, जिससे वह हर्ष बाहर न चला जाय।” कितनी मधुर तथा आनन्ददायी उत्तेजा है ?

एक नरभव धारण करने के पश्चात् शीघ्र ही सिद्ध भगवान बनकर भगवान के साथ मैं सिद्धालय मैं निवास करते के सौभाग्य वाले इन्द्र की भक्ति, विवेक तथा प्रबीणता परम प्रशंसनीय थी। सुविश्व सुरराज ने जिनराज के माता-पिता का भी समुचित समादर किया। महापुराणकार लिखते हैं—

माता-पिता की पूजा का भाव

ततस्तौ जगतां पूज्यौ पूज्यामास वासदः ।

त्रिचित्रैभूषणैः स्त्रिम अंशुकैश्च महार्घकैः ॥५४—७८॥

इसके अनन्तर सुरराज ने महाभूल्य तथा आश्चर्यकारी आभूषणों, मालाओं तथा वरत्रों से जगन्-पूछ्य जिनेन्द्र के माता-पिता की पूजा की।

वहाँ भगवान के माता-पिता के समान कार्य के लिए श्लोक में ‘पूजा’ का बाचक ‘पूज्यमास’ शब्द आया है। इसके प्रकाश में पूजा के प्रकरण में उत्पन्न अनेक विवाद सहज ही शांत हो जाते हैं। पूजा का अर्थ है सन्मान करना। पूज्य की पात्रता आदि को ध्यान में रखकर थायोग्य पूजा करता पूजक की चिवेकमयी दृष्टि पर आश्रित है। बीतराग भगवान की पूजा तथा अन्य की पूजा मैं पूजा शब्द के

प्रयोग की अपेक्षा समानता होते हुए भी उसके स्वरूप तथा लक्ष्य में अन्तर है। प्रस्तुत प्रसङ्ग में जिनेन्द्र देव की पूजा, आराधना का लक्ष्य संसार-संताप का लक्ष्य करना है। जिनेन्द्र जनक-जननी की पूजा शिष्टाचार तथा भद्रतापूर्ण व्यवहार है। पुत्र की पूजा करके पिता-माता की उपेक्षा करना इन्द्र जैसी विवेकी आत्मा के लिए अक्षम्य अशोभन बात होगी। पूजा शब्द को सुनने सात्र से घबड़ना नहीं चाहिये। अर्थ पर दृष्टि रखना विवेकी का कर्तव्य है।

इन्द्र द्वारा स्तुति

महापुराण के शब्दों में इन्द्र ने महाराज नाभिराज की स्तुति में कहा—

भो नाभिराज सत्यं स्त्रं उदयादिर्महोदयः ।

देवी प्रत्येव यज्ज्योतिः युष्मतः परमुद्गभौ ॥८१॥

हे नाभिराज ! बास्तव में आप ऐश्वर्यशाली उदयाचल हैं और रात्रि सरुदेवी पूर्व दिशा है, क्योंकि जिनेन्द्र सुत-स्वरूप-ज्योति आपसे ही उत्पन्न हुई है।

देवधिष्ठयमित्रागरम् इदमाराध्यमद्य जाम् ।

पूज्यौ युत्रां च नः शशकृत् पितृरौ जगतां पितुः ॥८२, पर्व १४॥

आज आपका भवन हमारे लिए जिनेन्द्र-मन्दिर सहश पूज्य है (साक्षात् बाल-जिनेन्द्र उस भवन में प्रत्यक्ष नयनमोत्तर हो रहे हैं)। आप जगत् के पिता भगवान के भी माता-पिता हैं, अतएव हमारे लिए सदा पूज्य हैं।

इन्द्र ने भगवान के जन्म महोत्सव का जो सजीव वर्णन किया, उसे सुनकर माता-पिता को अत्यन्त हर्ष हुआ।

पिता मेरु पर क्यों नहीं गए ?

इस प्रसङ्ग में यह प्रश्न सद्भज ही उत्पन्न होता है, कि बुद्धि-भान इन्द्र ने मेरु पर्वत पर प्रभु को वैभवपूर्वक ले जाते समय भगवान को पिता को ले जाने के कार्य में क्यों प्रभाद किया ? उस महोत्सव को प्रत्यक्ष देखकर पिता को कितना आवन्द होता ? माता ने पुत्र को

तीर्थेकर

इत्यन् किया है। भगवान के अतुल व्रत था, इससे उनको मेरु पर ले जाना ठीक था, किन्तु माता की शरीर स्थिति ऐसी नहीं होगी, जो उनको मेरु की यात्रा कराई जाय। यह कठिनता पिता के विषय में डल्पन्न नहीं होती? भगवान के पिता का संहनन भी श्रेष्ठ था। कर्मभूमि सम्बन्धी रुपी होने से माला के बज्रावृषभ नाराच, बज्र नाराच तथा नाराच संहनन व्रत का अभाव था। “अन्तिमतियसंहडणस्तुदओ पुणः कर्मभूमिमहिलाणः। आदिमतियसंहडणस्तुदओ एतित्ति जिगेहि-णिद्विद्व” (कर्मकांड गोम्भटसार)। अतएव जन्मोत्सव में भगवान के पिता को नहीं ले जाने का क्या रहस्य है?

समाधान

इस समस्या का समाधान विचारते समय यह प्रति-प्रश्न उठता है कि यदि भगवान के पिता को मेरुगिरि पर ले गए होते तो क्या परिणाम निकलता? भगवान के पिता भगवान की अपार सामर्थ्य को भोहवश पूर्ण रीति से नहीं संच सकते थे। उत्काल उत्पन्न बालक को लाख योजन उच्चत पर्वत के शिखर पर विराजमान करके एक इजार आठ विशाल मुवर्ण कलशों से उभका अभिषेक होना कौन पिता पसन्द करेगा? मयतामय पिता का हृदय अनिष्ट की आशंका-बश या तो अभिषेक करने में विप्रहृष्ट बनता अथवा उनकी ऐसी शोचनीय अवस्था सम्भव थी, जो इस आनन्द सिद्धि में निमग्न समस्त विश्व के मध्य अद्भुत होती। सारा संसार तो जन्मोत्सव से सुखी हो रहा है और उसी समय भगवान के पिता की मानसिक दशा भयंकर चिन्ता, भनोव्यथा से परिपूर्ण हो यह स्थिति अद्भुत होती। प्रभु के जन्मोत्सव में निमग्न सभी थे। कौन उस आनन्द की बेला में पिता को बैठकर उनको समझते रहता तथा उनकी योग्य रीति से रक्षा करता? ऐसी अनेक विकल परिस्थितियों की कल्पना का भी उदय न हो, इसीलिए प्रतीत होता है विवेकमूर्ति इन्द्र ने सुमेरु के शीश पर पिता को ले जाने की आपत्ति स्वीकार नहीं की। यह भी संभव है कि भगवान के पिता के विषय में उक्त आशंका असमूलक ही हो, फिर भी इन्द्र इस विषय में खतरा मोल लेने को तैयार नहीं था। जैसे जिन-जननी को पुत्र वियोग की व्यथा का अनुभव न हो, इसलिए माता को मायामयी बालक सौंपकर सुरराज ने सामनिक कुशलता का कार्य किया-

था, ऐसी ही विचारकता इन्द्र ने पिता के विषय में प्रयुक्त की थी। ऐसी स्थिति में पूर्वोक्त प्रश्न महत्वशून्य बन जाता है।

जन्मपुरी में उत्सव

सुमेहगिरि पर तो असंख्य देवी देवताओं ने जन्मोत्सव मनाया यह तो वहा सुन्दर कार्य हुआ, किन्तु प्रभु की जन्मपुरी में भी कोई उत्सव मनाया गया क्या? इसके समाधान में आचार्य जिनसेन स्वामी लिखते हैं “इन्द्र के द्वारा जन्माभिषेक की सब कथा मालूम कर भाता-पिता दोनों ही आनंद और आश्रय की अंतिम सीमा पर आरुद्ध हुए। उनने इन्द्र से परामर्शकर बड़ी विभूति पूर्वक पुरवासियों के साथ जन्मोत्सव किया था। सारे संसार को आनन्दित करने वाला यह महोत्सव जैसा मेरु पर्वत पर हुआ था, वैसा ही अन्तःपुर सहित इस अद्वितीयापुरी में हुआ। उन नगर वासियों का आनन्द देखकर अपने आनंद को प्रकाशित करते हुए इन्द्रने आनन्द नामक नाटक करने में अपना मन लगाया।” उस समय इन्द्र ने जो नृत्य किया था, वह अपूर्व था। आचार्य कहते हैं, “उस समय अनेक ग्रकार के बाजे बज रहे थे। तीनों लोकों में फैली हुई कुलाचलों सहित पृथ्वी ही उसकी रंगभूमि थी। उसबंद इन्द्र प्रधान नृत्य करने वाला था। महाराज नाभिराज आदि उसमें पुरुष उस नृत्य के दृश्यक थे। जगद् शुरु भगवान् वृषभदेव उसके आराध्य थे। धर्म, अर्थ तथा काम इन तीन पुरुषार्थों की सिद्धि तथा परम आनंदमय भीत ही उसका फल था। कहा भी है—

प्रेत्का नाभिराजाद्यः समारथ्यो जगद्गुरुः ।

फलं त्रिवर्गसंभूतिः परमानंद एव च ॥ १४—१०२ ॥

इन्द्र ही नटराज है

भक्ति के रस में निमग्न होकर जब इन्द्र ने तांडव नृत्य किया, उस समय की शोभा तथा आनंद अवर्णनीय थे। जिस समय वह इन्द्र विक्रिया से हजार भुजाएँ बनाकर नृत्य कर रहा था, उस समय पृथ्वी उसके पैरों के रखने से कंपित होने लगी थी, कुलाचल चंचल हो उठे थे, समुद्र भी मानो आनंद से शब्द करता हुआ

लगा था। नृत्य करते समय वह इन्द्र जग्नभर में एक तथा जग्नभर में अनेक हो जाता था। जग्नभर में सब जगह व्याप हो जाता था, एमात्र में छोटासा रह जाता था इत्यादि रूपसे ब्रिक्षिया की श्येरे उसने ऐसा नृत्य किया मानो इन्द्र ने इन्द्रजाल का ही प्रयोग किया हो।

“इन्द्रजालमिक्नेण प्रयुक्तमभक्तु तदा” ॥१४—१३२॥

भारतीय शिल्पकला में नृत्य के विषय में नटराज की श्रेष्ठ कलामय मूर्तियाँ उपलब्ध होती हैं। सर्व श्रेष्ठ मूर्ति तंजौर के बृहदीश्वर नामके हिन्दूमंदिर में हैं। प्रतीत होता है कि भगवान के जन्म महोत्सव^१ अलौकिक नृत्य करने वाला इन्द्र ही नटराज के रूप में पूज्यता का प्राप्त हो गया है।

भगवान की अनुष्म मत्किं कर इन्द्र ने भगवान की सेवा के लिए उनके अनुरूप देवों तथा देवियों को नियुक्त कर स्वर्ग की ओर प्रस्थान किया।

भगवान के जीवन की लोकोत्तरता

जिस प्रकार चन्द्रमा क्रमशः विकास को प्राप्त होता है, उसी भगवान शिशु-सुलभ मधुरताओं के द्वारा सशक्ति सुख पहुँचाते हुए धीरे धीरे बृद्धि को प्राप्त हो रहे थे। उनका विकास लोकोत्तर होते हुए भी पूर्णतया स्वाभाविक था। उनमें जन्म सम्बन्धी इस बातें थीं, जिनको जन्मातिशय कहते हैं। नन्दीश्वर भक्ति में पूज्यपाद आचार्य उनकी इस प्रकार परिगणना करते हैं—

नित्यं निःस्वेदत्तं निर्मलता लीर-गौर-रुधिरत्वं ।

स्वादाङ्कुरि-संहनते सौरप्यं सौरभं च सौलद्यम् ॥३८॥

आप्रमितवीप्रता च प्रियहितवादित्य-मन्त्रदभित्तुरुणस्य ।

प्रथिता दशसंख्यातः स्वतिशृणवर्मः स्वयंसुवो देहस्य ॥३९॥

स्वर्यम् भगवान के शरीर में नित्यं निःस्वेदता अर्थात् पसीना रहितपना था, मल-मूत्र का अभाव था। लीर के समान गौरवर्ण युक्त

^१ भारतीय मूर्तिकला नृष्ट १४३, नागरी प्रचारिणी सभा काशी

तीर्थकर

रुधिर था। उनका संहनन वज्रवृपभ नामाच था। समचतुरस्त्र संस्थान अर्धांत् सुन्दर और सुव्यवस्थित अङ्गोंपाङ्गों की रचना थी। अत्यन्त सुन्दर रूप था। शरीर सुगन्ध सम्पन्न था। उसमें एक हजार आठ शुभ लक्षण थे, अतुल बल था। वे प्रिय तथा दितकारी वाणी बोलते थे।

तिलोयपरणानि मैं लिखा है—“एदं तित्थवराणं जम्मगाह-एषादि उपरणं” (भाग १, गाथा ८६—८७, अध्याय ४)। वे दश स्वाभाविक अतिराय तीर्थकर के जन्मग्रहण से ही उत्पन्न होते हैं।

खोकोत्तरता का रहस्य

यह शंका की जा सकती है, कि तीर्थकर को अलौकिक महामुरुप मानकर उनमें असाधारण बातों को स्वीकार करने के स्थान में विविध मत-प्रबर्तकों के समाज उनकी समग्र बातों की मान्यता तीर्थकरके जीवन को पूर्ण स्वाभाविक रूपता प्रदान करती। चमलकारों का स्वाभाविकता के साथ सार्वजनिक नहीं बैठता।

इस आशंका के समाधान हेतु हमारो दृष्टि कार्य-कारण भाव के विश्वमान्य तर्कसङ्गत सिद्धान्त की ओर जाना चाहिये। सुविकासपूर्ण इतिहास में तीर्थकर रूप मनोज्ञ वृद्ध को देखकर जिनको आश्चर्य होता है, वे गम्भीरता पूर्वक यह भी विचार करें, कि इस वृद्ध के बीज-वपन के पूर्व से कितनी बुद्धिमत्ता, परित्रम, विवेक और उद्योग का उपयोग किया गया है, किसनकिस प्रकार की श्रेष्ठ सामग्री जुटाई गई; तब वह आश्चर्य आश्चर्यस्वरूप रहते हुए भी स्वाभाविकता समलंकृत प्रतीत होने लगता है। सीर्थकर बनानेवाली अनेक भवों की अद्भुत तपः साधना, ज्ञानारावना तथा स्वावलम्बनपूर्ण समस्त जीवनी पर गम्भीर दृष्टि डालने से अनेक प्रकार की शंकाओं का जाल उसी प्रकार दूर हो जाता है, जिस प्रकार सूर्य की किरणपालिका के द्वारा अन्धकार का विनाश हो जाता है। जन-साधारण सदृश दुर्बलताओं तथा असमर्थताओं का केन्द्र तीर्थकर को भी होना चाहिये, यह कामना उसी प्रकार विनोद तथा परिदास प्रबर्त्तक है, जैसे नद्वत्र मालिकाओं में अल्प दीप्ति तथा प्रकाश को देख यह इच्छा करना कि इसी प्रकार सूर्य की दीप्ति तथा प्रकाश होना चाहिये। श्रेष्ठ साधना के द्वारा जिस

तीर्थकर

मग्नार के लेह इन्होंने उन्नतियाँ दी हैं, उसका प्रत्यक्षादशीन तीर्थकर भगवान के जीवन में सभी जीवों को हुआ करता है। इस विषय की यथार्थता को हृदयङ्गम करने के लिए समीक्षक का ध्यान तीर्थकरत्व के लिए बीज स्वरूप घोड़श भावनाओं की ओर जाना चाहित है। कारण रूप भावनाओं की एक रूपता रहने से कार्यरूप में विकसित तीर्थकरत्वरूप विशाल वृक्ष भी समानता समलैंकृत होता है।

तीर्थकरों में समानता का कारण

इस प्रकाश में यह आशंका भी दूर हो जाती है कि सभी तीर्थकर समान रूप के क्यों होते हैं? एक आदमी का रूप-रङ्ग, ढङ्ग दूसरे से नहीं मिलता, किन्तु एक तीर्थकर दूसरे से असमान नहीं दिखते, क्योंकि उत्कृष्ट साधना के द्वारा जिनशेष परमाणुओं द्वारा एक तीर्थकर का शरीर-निर्माण होता है, वे ही साधन अन्य तीर्थकर को भी समुपलब्ध होते हैं। तीर्थकर भगवान के जीवन के अन्तः बाह्य सौन्दर्य का चमकार यथार्थ में भगवती अहिंसा तथा सत्य की समाराधना का ही अद्भुत परिणाम है।

जिन सन्तों या धर्म संस्थापकों का वर्तमान तथा अतीत जीवन हिंसामयी भावनाओं तथा प्रबृत्तियों पर अवस्थित रहता है, उनका रूप-रङ्ग, ढङ्ग आदि उनकी अंतरिक स्थिति के अनुरूप होता है। जीववध करते हुए भी जिनके मुख से संकोच रहित विश्वप्रेम की वायो जगत् को सुनाई जाती है, उनके सर्वाप अहिंसा का सौन्दर्य कैसे आनन्द और अभ्युदयों की वर्षी करेगा? खोजा वर्ग के धर्मगुह रघु आगामान कहते थे—शराब का मेरे मुख से सम्पर्क होते ही मेरे प्रमाववश जल रूप में परिवर्त्तन हो जाता है। एक जापानी प्राक्केसर ने हमसे जापान में कहा था, शराब और पानी में कोई अंतर नहीं है। मुखद्वार से भीतर जाकर पानी भी उसी तत्त्वरूप में परिवर्तित होता है, जिस रूप में शराब रहती है। पश्चिम का विद्याल दार्शनिक सुकरात सद्गुरु विचारक व्यक्ति भी अहिंसा के अंतर्लक्ष्य को हृदयंशमन कर विपरान द्वारा प्राण परित्याग के पूर्व अपने स्नेही क्रिटो (Crito) से कहता है, कि मेरी एक अंतिम इच्छा तुम्हें पूर्ण करना है, “I owe

तीर्थकर

"a Cock to Asclepius" मुझे एस्कलिपियस देवता के यहाँ एक सुर्गी भेट करना था, अतः यह बलिदान का काम तुम पूरा कर देना। इस प्रकार दुनिया में प्रसिद्धि प्राप्त बड़े-बड़े धर्म तथा सांख्यिक प्रमुख लोगों की कथा है। उन लोगों के जीवन पर उनके धार्मिक साहित्य का प्रभाव है, जिसमें जीवदैव करते हुए भी उज्ज्वल जीवन निर्माण में बाधा नहीं आती।

कोयले के घिसने से जैसे धब्बता की बृद्धि नहीं होती, उसी प्रकार हिंसा को विविध कल्पतामयी आभूषणों से अलंकृत करने पर भी दुःख, दरिद्रता, सन्ताप आदि की धाढ़ को नहीं रोका जा सकता। भगवान जिनेन्द्र का अहिंसामय जीवन ऐसी विशेषताओं का केन्द्र बनता है, जिसका अन्यत्र दर्शन होना असम्भव है। इन रूपों के प्रकाश में तीर्थकर के जन्म सम्बन्धी पूर्वोक्त अतिशय कवि कल्पना प्रमूल अतिशयालंकार न होकर बाह्यविक विशेषताएँ प्रतीत होंगी। अहिंसा की सच्ची स्वर्ण भुद्रा समर्पण करने पर प्रकृति देवी लोकोन्तर सामग्री दान द्वारा जीवन को समलंकृत करती है। इसमें क्या आश्चर्य की बात है?

अतिशय काल्पनिक नहीं हैं

कुछ लोग लोक रुचि को परित्यज करने के देतु तीर्थकर भगवान के जीवन की अपूर्वताओं को पौराणिक कल्पना कहकर उनकी दूसरों के समान सामान्य रूपता प्रदान करते हैं। अपूर्वताओं को बदूल-कर अपूर्णताओं को स्थानापन्न बनाना ऐसा ही अनुचित कार्य है, जैसे कर अपूर्णताओं को स्वर्ण सुन्दर व्यक्ति के हाथ, पांव तोड़कर तथा आंख फोड़कर उसे सर्वांग सुन्दर व्यक्ति के हाथ, पांव तोड़कर तथा आंख फोड़कर उसे विकृत बनाना है। जिन्हें आत्मकल्याण इष्ट है, वे मुमुक्षुजन वीतराग बाणी पर पूर्ण तथा अविचलित शब्दा धारण करते हैं।

परीक्षा-प्रधानियों के परमाराध्य देवागमस्तोत्र के रचयिता महान तार्किक आचार्य समंतभद्र भी भगवान के अतिशयों को परमार्थ-सत्त्व स्वीकार करते हुए तथा अपने ब्रह्मत्वव्यंग्यस्तोत्र में उनका उल्लेख करते हुए प्रभु का स्तवन करते हैं। मुनिसुब्रतनाथ तीर्थकर के स्तवन में वे भगवान के रूपिर को शुक्ल वर्ण का स्वीकार करते हुए उनके

शरीर को मल रहित कहते हैं। भगवान् अरनाथ के स्तब्धन में वे ईद के हजार नेत्र बनाने की पौराणिक कथनी को प्रमाण मानकर उसका उल्लेख करते हैं; किन्तु आज के अल्प अभ्यासी कोई-कोई व्यक्ति इन बातों पर अविश्वास व्यक्ति करने में स्वयं को ऐसा कृतार्थ अनुभव करते हैं; जैसे कूपमंडक समुद्र के सद्भाव को मिथ्या बताता हुआ छोटे से जलाशय को ही समुद्र मानता है तथा अपने को ही सत्त्वज्ञानी अनुभव करता है। कूपमंडक की दृष्टि से सर्वज्ञ प्रणीत जिनवाणी का रसपान संभव नहीं है। इसके लिए व्यापक तथा गंभीर दृष्टि आवश्यक है। समीक्षक पुरुषार्थी परिश्रम के द्वारा आगम के रहस्य को भली प्रकार जान सकता है। सर्वज्ञ वाणी में असत्यका लेश भी नहीं है। परीक्षा की योग्यता के बिना जो परीक्षक बनने का अभिनय करते हैं, उनकी दुर्गति होती है। सत्य की उपलब्धि नहीं होती। “भगवान् का शरीर पसीना रहित है। मलमूत्र रहित है। आहार होते हुए भी नीहार नहीं है,” इस आगम वाक्य के पीछे यह वैज्ञानिक सत्य निहित है, कि तीर्थकर आदि विशिष्ट आत्माओं की जठराग्नि इस जाति की होती है कि उसमें डाली गई वस्तु रस, रधिर आदि रूप परिणत हो जाती है। ऐसा तत्व उसमें नहीं बचता है, जो व्यर्थ होने के कारण मल मूत्र आदि रूप से निकाल दिया जाय।

यह बात भी ध्यान देने योग्य है कि जब जठराग्नि मन्द होती है तब मनुष्य के द्वारा शृंहीत वस्तु से सार तत्व शरीर को नहीं प्राप्त होता है और प्रायः खाई गई सामग्री बाहर निकाल दी जाती है। इससे खूब खाते हुए भी व्यक्ति क्षीण होता जाता है। इसके ठीक विपरीत स्थिति उक्त महान् पुरुषों की होती है। शरीर में प्राप्त समस्त सामग्री का रधिरादि रूप में परिणमन हो जाता है।

श्वेत रक्त का रहस्य

भगवान् के शरीर में श्वेत आकार धारण करने वाला रधिर होता है। इस विषय में यह बात गंभीरता पूर्वक विचारणीय है कि अपने मूत्र के लिए स्नेह से ज्ञाए भर में माता के स्तन में दुर्घट आ जाता है। माता रुक्मणी ने प्रबुमन को देखा ही था

तीर्थकर

कि उसके हृदय में नैसर्गिक स्वेच्छा भाव उत्पन्न होने से स्तनों में दुर्घट आ गया था। इस धारणिक नक्ष एवं नैतीक व्यवहार की ध्यान में रखने से यह बात अनुमान करना सम्भव प्रतीत होता है कि जिनेन्द्र भगवान् के रोम-रोम में समस्त जीवों के प्रति सभी करुणा, दया तथा ग्रेम के बीज परिपूर्ण हैं। तीर्थकर प्रकृति का बंध करते समय दर्शन-विशुद्धि भावना मार्द गई थी। दूसरे शब्दों में उसका यह रहस्य है कि भगवान् ने विश्वप्रेम के वृक्ष का बीज बोया था, जो दुष्टि को प्राप्त हुआ है और केवल ज्ञान काल में अपने फल द्वारा समस्त जगत् को सुख दद्धा शानि प्रदान करेगा। एकेन्द्रिय वनस्पति तक प्रभु के विश्वप्रेम की भावना रूप जल से लाभ प्राप्त करेगी। इसी से केवल ज्ञान की उल्लेखनीय महत्वपूर्ण बातों में सौ योजन की पृथक्की धान्यादि से हरी भरी हो जाती है। भगवान् का हृदय संपूर्ण जीवों को सुख देने के लिए जननी के तुल्य है। समंतभद्र स्वामी ने भगवान् सुशाश्वनाथ के स्वतन्त्र में उन्हें 'मातेव बालस्य हितानु-शास्ता' बालक के लिए कूलवाणीकारी अनुशासनदात्री माता के समान होने कारण माता-तुल्य कहा है। प्राणी मात्र के दुख दूर करने की भावना तथा उसके योग्य सामग्री और साधन सामग्री समन्वित मातृचेतस्क जिनेन्द्र के शरीर में रुधिर का श्वेतचर्ण सुक्त होना तीर्थकर की उक्ति कारणिक ब्रृत्ति तथा महत्ता का परिचायक प्रतीत होता है।

शरीर सम्बन्धी विद्या में ग्रन्ति लोगों का कहना है, कि महान् बुद्धिमान्, सदाचारी, कुलीनतादि संपन्न व्यक्तियों के रक्त में रक्तबणीय परमाणु पुंज के स्थान में धबलधर्णीय परमाणु पुंज (White blood Corpuscles) वर्णोप पाए जाते हैं। आज के असदाचार प्रचुर बुग का शरीर शास्त्रीय वर्तमान युग के हीनाचरण मानवों के रक्त को शोधकर उपरोक्त विचारपूर्ण सामग्री प्रस्तुत करता है। यदि यह कथन सत्य है, तो तीर्थकर भगवान् के शरीर के रुधिर की धबलता को स्थूल रूप से समझने में सहायता प्राप्त होती है।

रक्त में विरक्तता

एक बात और है; भगवान् आरम्भ से ही सभी भोगों के

प्रति आसक्ति रहित हैं अतएव विरक्त आत्मा का रक्त यदि विरक्त अर्थात् विगत रक्तपना, लातिमा शुन्धता संयुक्त हुआ, तो इसमें आश्चर्य की कोई बात नहीं है। विरक्तों के आराध्य देव का देह सचमुच में विरक्त परमाणुओं से ही निर्मित मानना पूर्ण संगत है। सरागी जगत् के लोगों का शरीर विषयों में अनुरक्त रहने से क्यों न रक्त दूर का होगा ?

भगवान का रोम २ विषयों से विरक्त था। इतना ही नहीं उनकी वाणी विरक्तता अर्थात् वीतरागता का सदा सिंहनाद करती थी। मौन स्थिति में उनके शरीर से ऐसे परमाणु बाहर जाते थे, जिससे उद्घब्ल ज्योनि जागती थी, इसी अलौकिकता के कारण सौधमेन्द्र सदा प्रभु के चरणों का शरण प्रहण करता था। भगवान के हृदय में विचार में, जीवन में जैसी विरक्तता थी, वैसी ही उनके रूपिर में विरक्तता थी। इन्द्र भी जाहता था कि प्रभु की अंतःबाह्य विद्यमान विरक्तता सुके भी प्राप्त हो जाय। वैसे देवों के शरीर में भी विरक्त पना है, किन्तु आंतरिक विरक्तपना के बिना बाह्य विरक्तपना शब्द का शृंगार मात्र है। आंदोरिक शरीर धारी द्वोकर अंतःबाह्य विरक्तपना के धारक तीर्थकर ही होते हैं। सरागी शासन में इस विरक्तता की कल्पना नहीं हो सकती; यह बात तो वीतरागी शासन में ही बताई जा सकती है। वैभव-शुन्ध्य व्यक्ति वैभव शिखर पर स्थित ब्रेष्ठात्माओं की कल्पना भी नहीं कर सकता है।

भगवान में प्रारम्भ से ही विरक्तता है, इसका आधार यह है, कि वे जब माता के गर्भ में आने के समय से लेकर आठ वर्ष की अवस्था के होते हैं, तब वे सत्युरुषों के योग्य देशसंयम को प्रहण करते हैं। उत्तरपुराण में लिखा है—

स्वायुराच्छुवर्षेभ्यः सर्वेषां परतो भवेत् ।

उदिताष्टकथायाण्य तीर्थेषां देशसंयमः ॥६—३५॥

सब तीर्थकरों के अपनी आयु के आरंभ से आठ वर्ष के आगे से देशसंयम होता है, कारण उनके प्रत्याख्यानावरण तथा संघबलन क्षायें उद्याचस्था को प्राप्त हैं। यदि प्रत्याख्यानावरण क्षाय का उद्य न हो, तो वे महाब्रती बन जाते ।

तीर्थकर

सतोस्य भोगवस्तूनां साकल्येषि जितात्मनः ।
ब्रूहिर्नियमितेकामदसंख्येयगुणनिर्जरा ॥ ६—३६ ॥

यद्यपि इन जिनेन्द्र देव के भोग्य वस्तुओं को परिपूर्णता थी, फिर भी वे जितेन्द्रिय थे । उनकी प्रवृत्ति नियमित रूप से ही होती थी, इससे उनके असंख्यात् गुणी निर्जरा होती थीं ।

शुभ लक्षण

लोकोत्तर त्याग, तपस्या तथा परिव्रत मनोवृत्ति के फल स्वरूप भगवान् का शरीर सर्व सुलक्षण संपन्न था । सामुद्रिक शास्त्र में एक हजार आठ लक्षणों का सज्जाव श्रेष्ठ आत्मा को सूचित करता है । भगवान् के शरीर में वे सभी चिह्न थे । महापुराणकार कहते हैं—

अभिरामं वपुर्भृतुः लक्षणैरभिर्जितैः ।

ज्योतिर्भिरिव संछन्तं गणनप्राप्ताणं वभौ ॥ १५—४५ ॥

मनोहर तथा श्रेष्ठ लक्षणों से अलंकृत भगवान् का शरीर ज्योतिषी देवों से व्याप्त आकाश रूपी प्रांगण के समान प्रतीत होता था ।

उनके शरीर में शंख, चक्र गदादि १०८ चिह्न (लक्षण) तथा तिल मस्तुरिकादि नौसौ व्यंजन थे । आज के भोगप्रचुर युग में लोकातिशयी पुण्यशाली नर रत्नों की उत्पत्ति न होने से श्रेष्ठ चिह्नों के दर्शन भी नहीं होते हैं । यदा कदा किन्हीं विशेष पुण्यशाली व्यक्तियों के कुछ थोड़े चिह्न पाए जाते हैं । तुलनात्मक दृष्टि से विविध महापुरुषों का जीवन चरित्र पढ़ा जाय तो यह झात होगा, कि एक हजार आठ लक्षणों से शोभायमान शरीर वाले तीर्थकर जिनेन्द्रदेव के सिवाय अन्य व्यक्ति नहीं हैं ।

तत्त्वार्थराजवार्तिक में आचार्य अकलेकदेव ने लिखा है कि जिनवाणी के अंतर्भृद विद्यानुवाद नामक दशम पूर्व में शरीर के शुभ अशुभ चिह्नों का चर्णन किया गया है । अष्टांगनियमित ज्ञान में अंतरिक्ष, भौम, अंग, स्वर, स्वप्न, छिन्न, व्यंजन तथा लक्षण सम्बन्धी विद्या का समावेश है । धवला दीका से विदित है कि इस निमित्त-विद्या में आचार्य धरसेन स्वामी प्रवीण थे । उनको 'अट्टांग-महाशियमित्त-पारदण्ड' अष्टांग-नियमित विद्या का पारगामी कहा है । आजकल कुछ लोग

तीर्थकर

प्रमाद एवं अहंकार वश व्यवस्थित रीति से जिनागम का अभ्यास न कर स्वयं एकाध अध्यात्मशास्त्र को कुछ देखकर अपने में लघु सर्वज्ञ की कल्पना करते हुए अन्य शास्त्रों के अभ्यास को निस्सार समझते हैं। अविवेक तथा अविच्छार पर स्थित ऐसी धारणा उस समय स्वयं धराशायी हो जाती है, जब मुझुङ्ग यह देखता है कि महान आध्यात्मिक योगीजन भी लौकिक जीवन तथा बाड़ा संखार से सम्बन्ध रखनेवाले शास्त्रों में भी धरसेनाचार्य सहश्र श्रेष्ठ आत्मा अवबोध प्राप्त करते रहे हैं। ज्ञान की विविध शाखाओं के सम्यक अवबोध द्वारा मन में असत् विकल्प नहीं उठते हैं। एक ही वस्तु से मन थककर अन्यत्र उछलकूद मचाया करता है। राग, द्वेष, रोह के विकारी भावों को अपनाता है। आगमोक्त विविध ज्ञानराशि के परिचय द्वारा आत्मा के विकार नष्ट होते हैं, अद्वेष कार दूर होता है, तथा शारीर का रस प्राप्त होता है।

आन्त कल्पना

कोई व्यक्ति यह सोचते हैं कि अध्यात्मशास्त्र पढ़ने से ही कर्मों का ज्ञय होता है, अन्य ग्रंथों के अभ्यास से वंध होता है।

यह कल्पना असत्यकृ है। तिलोयपण्पत्ति में लिखा है कि जिनागम के स्वाध्याय से “असंख्य-गुणसेदिकमणिज्जरण” असंख्यात गुणशैली रूप कर्मों की निर्जरा होती है। आत्म तत्त्व का निरूपण करने वाला आत्मप्रबाद द्वादशांग वाणी के पुण्य भवन का अत्यन्त भनोड़, पावन तथा प्रमुख स्तंभ है किन्तु उसके सिवाय अन्य सामग्री भी महत्वपूर्ण तथा हितकारी है। उस समस्त आगम-सिद्धि का नाम द्वादशांगवाणी है। मानव शरीर में नेत्र का महत्वपूर्ण स्थान है, किन्तु नेत्र ही समस्त शरीर नहीं है। अन्य अंगों के सम्बाव द्वारा जैसे नेत्र की गौरव प्राप्त होता है, उसी प्रकार जिनागम के विविध अंगों का सम्बाव भी गौरव संबर्धक है। कर्म तो अनात्म पदार्थ है। वह मोक्ष मार्ग में कंटक रूप है। अतएव कर्म सम्बन्धी साहित्य मुझुङ्ग के जीवन में कोई महत्व नहीं रखता।

पूर्वोक्त धारणा भ्रममूलक है। भेदविज्ञानज्योति को प्राप्त करने के लिए जैसे स्व का ज्ञान आवश्यक है, उसी प्रकार स्व से भिन्न पर का भी बोध उपयोगी है। कर्म सम्बन्धी द्वादशांगवाणी का अंश जब षट्खण्डागम सूत्र रूप में

निवद्ध हुआ, तब विशाल जैन संघ ने महोत्सव मनाकर श्रुतपंचमी पंख की नींव ढाली।

इस चर्चा द्वारा यह बात स्थिर होती है कि समस्त द्वादशांग चाणी की महत्वपूर्ण स्वीकार करना कल्याणकारी है, चाहे वह समयसार हो, जाहे वह गोम्मटसार हो, अथवा शरीर के लक्षणों और व्यंजनों का प्रतिपादक शास्त्र हो। वीतराग चाणी सर्वदा दितकारी है। स्त्राण जथा अन्त व्यक्तियों का कष्ट भ्रमाद् कौटि को नहीं प्राप्त होता है। उससे संसार परिभ्रमण नहीं छूट सकता। अंध व्यक्ति दूसरे को किस प्रकार पथ प्रदर्शन करने में समर्थ हो सकता है?

भगवान् की बात

भगवान् तीर्थकर परमदेव के शरीर में एक हजार आठ लक्षण पाए जाते हैं। उनमें ही पाए जाते हैं, दूसरों में नहीं पाये जाते, अतएव ये लक्षण भगवान् की विशेषता रूप हैं। इसी कारण प्रतीत होता है कि भगवान् के नामों के पूर्व में १००८ लिखने की प्रणाली प्रचलित है, जैसे सर्वंभ, समारंभ, आरंभ, भन, वचन, काय, कृत, कारित, अनुमोदना पूर्वक क्रोध, मान, माया तथा लोभ क्षयाय का त्याग करने से ($3 \times 3 \times 3 \times 4 = 108$) निर्यत दिगम्बर जैन मुनियों के नाम के पूर्व १०८ लिखने की पद्धति प्रचार में है।

अपूर्व आध्यात्मिक प्रभाव

तीर्थकर भगवान् का बाल्य अवस्था में भी अद्भुत आध्यात्मिक प्रभाव देखा जाता है। वर्धमानवरित्र में लिखा है, कि चारण ऋद्धिभारी विजय तथा संजय नामक मुनोन्द्रों को किसी सूक्ष्म तत्त्व के विषय में शंका उत्पन्न हो गई थी। उनको महावीर भगवान् का दर्शन हो गया। तत्काल ही दर्शन मात्र से उनका संदेह दूर हो गया। उन मुनीन्द्रों को भगवान् की छवि का दर्शन महान् शास्त्र के स्वाध्याय का प्रतीक बन गया। यह घटना तीर्थकरत्व की विशेषता को लक्ष्य में रखने पर आश्चर्यप्रद तो नहीं है, किन्तु इससे यह तत्त्व स्पष्ट होता है कि भगवान् के शरीर से सम्बन्ध रखने वाले पुढ़ल स्फुन्डों में असाधारण विशेषता पाई जाती है। जिस शरीर के भीतर ऐसी आत्मा विद्यमान है, जिसके चरणों पर देव-देवेन्द्र मस्तक परखकर

तीर्थकर

बारंबार प्रणाम करते हैं, जो शीघ्र ही दिव्यधनि द्वारा धर्म तीर्थ का प्रवर्तन करेंगे, उनके आत्मलेज से प्रभावित पुद्ल भी ऐसी विशेषता दिखाता है, जैसी अत्यन्त दृष्टिगोचर नहीं होती। चारण मुनियों का सदैह-निवारण एक महान् प्रेतिहार्सिक बस्तु बन गई, क्योंकि उक्त बटना के कारण उनने भगवान् का नाम 'सन्मति' रखा था। अशग-कवि के ये शब्द ध्यान देने योग्य हैं:—

तस्यापेद्युरथचारणलक्ष्मिन्दुन्मौ ।
भर्तुर्यती विजय-संजयनामधेयौ ॥
तद्रोद्धरणातपदि निःसूतसंशयायौ ।
आतेनतुर्जगति सन्मतित्यभिल्लां ॥ १६-६२ ॥ वर्धमान चरित्र

तदनंतर चारण ऋद्धिधारी विजय तथा संजय नामक मुनीन्द्रों ने भगवान् का दर्शन होते ही शीघ्र संशय बिसूक्त होने पर, जगत् में प्रसिद्ध 'सन्मति' नामकरण किया।

तीर्थकरके चिन्ह का हेतु

चौबीस तीर्थकरों की मूर्तियों में समान रूप से दियम्बरपना तथा वीक्षण वृत्ति पाई जाती है। श्रेष्ठ सौन्दर्य पूर्ण होने से उनकी समानता दृष्टिगोचर होती है, ऐसी स्थिति में उनकी परस्पर में भिन्नता का नियामक उनकी मूर्ति में विशेष चिन्ह अंकित किया जाता है, जैसे आदिनाथ भगवान् की मूर्ति में वृवभ का चिन्ह पाया जाता है। इस सम्बन्ध में तिलोयपरणति का यह कथन ब्रातव्य है कि भगवान् के शरीर सम्बन्धी सुलक्षणों में से प्रसु के दाहिने पैर के अंगुष्ठ में जो चिन्ह पाया जाता है, वही लक्षण उन तीर्थकर का चिन्ह बना दिया जाता है। कहा भी है:—

जम्मण्काले जस्त दु दाहिण-पायमिम होइ जो चिरहं ।
तं लक्षणपाउतो आगमसुत्ते मुजिणदेह ॥

प्रसु की कुमारावस्था

महापुराणकार का कथन है कि बाल्यकाल में भगवान् बाल चंद्रमा के समान प्रजा को आनंद प्रदान करते थे। इसके पश्चात्

तीर्थकर

किशोरावस्था ने उनके शरीर को समलंकुत किया ।

बालावस्थामतीतस्य तु स्याभूद् रुचिरं वपुः ।

कौमारं देवनाथानां अर्चितस्य महौजसः ॥१४-१७४॥

बाल्यकाल व्यतीत हीने पर सुरेन्द्र-पूज्य तथा महा प्रतापी भगवान का कुमार कालीन शरीर बड़ा सुन्दर लगता था ।

उस समय उनका मनोहर शरीर, प्यारी बोली, मधुर निरीक्षण तथा मुस्कुराते हुए लोकना सभी संसार के प्रेम को प्राप्त कर रहे थे ।

वपुः कान्तं प्रिया वाणीं मधुरं तस्य दीक्षितम् ।

जगतः प्रीतिमातेनुः समितं च प्रजल्पितम् ॥१४—१७५॥

पूर्व जन्म का तपः साधना और युध्य के तीव्र उदयवशा प्रभु में अगलित गुणों का मानो परस्पर स्थधोवश अद्भुत विकास हो रहा था । जिस प्रकार उनका शरीर अप्रतिम सौन्दर्य का केन्द्र था और जिसके समक्ष देव देवेन्द्र आदि की दीपि फीकी लगती थी, उन भगवान का हृदय भी उसी प्रकार सुन्दरता तथा पवित्रता-परिपूर्ण था । अंतः वास्त्र सौन्दर्य से शोभावभान भगवान की समरूप बाहें विश्व को अवर्णनीय आमन्द तथा आश्चर्य को उत्पन्न करती थीं ।

विश्व-विद्या का ईश्वरत्व

उनके मतिज्ञान और श्रुतज्ञान के साथ मव-प्रत्यय नामक अवधिज्ञान भी जन्म से था । इस कारण उनने समस्त विद्याओं को अपने आप प्राप्त कर लिया था । आचार्य जिनसेनस्वामी कहते हैं—

विश्वविद्ये इवरस्यास्य विद्याः परिणुताः स्वयम् ।

ननु जन्मन्तरास्यादः स्मृतिं पुष्ट्याति पुष्ट्यलताम् ॥१४—१७६॥

भगवान समस्त विद्याओं के ईश्वर थे । इस कारण उनको सम्पूर्ण विद्याएँ स्वयमेव प्राप्त हो गई थीं । पूर्व जन्म का अभ्यास स्मरणशक्ति को अत्यन्त पोषण प्रदान करता है ।

तीर्थकर विश्व के गुरु हैं

जिन बात जिनेन्द्र के दर्शन मात्र से महाज्ञानी चारण कृद्धि

तीर्थकर

धारी मुनीन्द्रों को गम्भीर ज्ञानलाभ हो, जो जन्म से मति, श्रुति, अवधिज्ञान समलंकृत हों, उन अलौकिक सामर्थ्य-सम्पत्ति प्रभु को किसी गुरु के पास जाकर विद्याभ्यास करने की आवश्यकता नहीं पड़ी। मयूर को सुन्दर नृत्य करने की शिक्षा कौन देता है ? हंस को सुन्दरता पूर्वक गमन करने में कौन शिक्षक बनता है ? पश्चियों को रगत गमन करने में तथा मत्स्यादि को विपुल जलराशि में विचरण करने की कला कौन सिखाता है ? निसर्ग से ही उनमें वे विशेषताएँ उद्भूत होती हैं। १इसलिए धर्मशार्माभ्युदय में महाकवि हरिचंद्र पूछते हैं, कि नैसर्गिक ज्ञान के भण्डार उन जगत्गुरु को शिखित करने में कौन गुरु हुआ ? कोई-कोई तीर्थकर को साधारण श्रेणी का व्यक्ति समझ उनके पाठशाला में अभ्यास की बात लिखते हैं। यह धारणा अयोग्य है। ऐसी विचारधारा वीतराग ऋषिन्परम्परा के प्रातेकूल है। महापुराण के ये शब्द मनन योग्य हैं—

वाङ्मयं सकलं तस्य प्रत्यक्षं वाक्प्रभोरभूत् ।

येन विश्वस्य लोकस्य वाचस्पत्यानभूत् गुरुः ॥५४—५८॥

वे भगवान सरस्वती के एकमात्र स्वामी थे इसलिए उन्हें समस्त वाङ्मय (शास्त्र) प्रत्यक्ष हो गए थे। इस कारण वे सम्पूर्ण विश्व के गुरु हो गए थे।

श्रुतं निसर्गतोस्यासीत् प्रसूतः प्रशमः श्रुतात् ।

ततो जपद्वितास्यासीत् चेष्टा सापालयत् प्रजाः ॥५८॥

उन प्रभु के शास्त्र का ज्ञान स्वयमेव उत्पन्न हो गया था। शास्त्र ज्ञान के फलस्वरूप प्रशम भाव उत्पन्न हुआ था। इससे उनकी चेष्टाएँ जगत् का हित करने वाली होती थी। उन चेष्टाओं द्वारा वे प्रजाजन का पालन करते थे।

प्रभु की विशेषता

उन ऋषभनाथ तीर्थकर के विषय में महाकवि की यह सूक्ति है—
वदयहारिणी है—

^१ कः पश्चिमो नाम शिखरडमराडने मराललिलार्तिर्दीश्विकोऽथवा ।

नैसर्गिकज्ञाननिषेद्धेऽग्न्दशुरोगुरुश्च शिक्षासु वनूष तस्य कः ॥६—१३॥

तीर्थकर

दीर्घदर्शीं सुदोर्वायुः दीर्घवाहुश्च दीर्घटक् ।

स दीर्घसूत्रो लोकानां अभजत् सूत्रधास्ताम् ॥१८८॥

वे दीर्घदर्शीं थे अथोन दूर तक की बातें सोचते थे । उनकी आयु दीर्घी थी । उनकी भुजाएँ दीर्घी थीं । उनके नेत्र दीर्घे थे । वे स्थिरतापूर्वक विचार के उपरान्त कार्य करते थे, इससे दीर्घसूत्र थे । अतः वे तीनों लोकों की सूत्रधारता अर्थात् गुरुता को प्राप्त हुए थे । इस कथन से यह बात चिह्नित होती है कि सुरेन्द्र समुदाय भी भगवान से मार्गदर्शन प्राप्त करता था । सौरभ समन्वित सुन्दर सुमन के समीप सभी सत्पुरुष रूप महावह स्वरगोद आया करते थे । प्रभु मैं गम्भीरता थी, साथ मैं अवस्था के अनुरूप परिहासप्रियता तथा विनोदशीलता भी उनमें थी । समस्त कलाओं और विद्याओं के आचार्य प्रभु के समीप आया करते थे । वे वैयाकरणों के साथ व्याकरण सम्बन्धी चर्चा करते थे, कभी कवियों के साथ काल्य विषय की चार्ता करते थे और कभी वादियों के साथ वादगोष्ठी करते थे ।

उनका विनोद

विनोदब्रश कभी मद्यों का रूप धारण करने वाले नृत्य करते हुए देव-निंकिकरों को वे भगवान लय के अनुसार ताल देकर नृत्य करते थे । यह वर्णन कितना मधुर हैः—

काञ्छिच्च शुक्ररूपेण समासदितविक्रियान् ।

संपाठं पाठ्यं छूलोकान् अस्तिष्टमधुराक्षरम् ॥१८९॥

कभी विक्रिया शक्ति से तोते का रूप धारण करने वाले देवकुमारों को वे प्रभु स्पष्ट तथा मधुर अक्षरों से श्लोक पढ़ाते थे ।

हंसविक्रिया काञ्छित् कूजतो मन्द्रगदगदम् ।

विसर्जनैः स्वहस्तेन दत्तैः संमाययन्मुहुः ॥१९०॥

वे कभी-कभी हंस रूप विक्रिया कर धीरे-धीरे गदगद शब्द करने वाले देवों को अपने हाथ से मृणालखण्ड देकर सन्तुष्ट करते थे ।

इन्द्र महाराज सदा भगवान को आनन्दप्रद सामग्री पहुँचाने में हर्ष का अनुभव करते थे । ‘श्रयोजनमनुदिश्य न मन्दोपि

प्रवर्त्ते'—विना प्रयोजन के सन्दर्भ में भी प्रवृत्ति नहीं होती है, तब इन्द्र की जिनेन्द्रसेवा का भी कुछ रद्दस्य होना चाहिये? समृद्धि के इरवर सुरेन्द्र के समीप अमर्यादित सुख की सामग्री रहती है। वह स्वाधीन है। किसी का सेवक नहीं है, किर भी वह जिनेन्द्रदेव का किंकर बना हुआ प्रभु की सेवा में स्वयं स्वेच्छा से प्रवृत्त होता है तथा दूसरों को प्रवृत्त करता है। इस सेवा का क्या लक्ष्य है?

इन्द्र का मनोगत

महान् ज्ञानी इन्द्र इस तत्व की समझता है, कि पुण्यकर्म के क्षय होने पर वह एक क्षण भी स्वर्ग में न रह सकेगा। सारा ऐरवर्य तथा वैभव स्वप्न-साम्राज्य सहश शून्यता को प्राप्त होगा। इन्द्र के पास सब कुछ है, किन्तु अविनाशी आनन्द नहीं है। उस आत्मानन्द की उपलब्धि के लिए ही वह जिननाथ की निरन्तर आराधना करता है, ताकि जिनमत्कि रूपी नौका के द्वारा वह संसार सदुद के पार पहुँच जाय। भगवान के समीप इन्द्र यह अनुभव ही नहीं करता है, कि वह असंख्य देवों का स्वामी है, अपरिमित वैभव तथा समृद्धि का अधीश्वर है। यह तो सोचता है कि “मैं जिनेन्द्र भगवान का सेवक नहीं, उनके दास का भी सेवक हूँ। मैं जिनेन्द्र का दासानुदास हूँ।” भगवान के लिए भोगोपभोग की सामग्री सदा स्वर्ग से आती रहती थी। इन्द्र को तो ऐसा लगता था, मानो स्वर्ग में कुछ नहीं है, सबसे बड़ा स्वर्ग भगवान के चरणों के नीचे है। उन चरणों के समक्ष विनीत-वृत्ति द्वारा यह जीव इतना उच्च होता है कि उसके समान दूसरा नहीं होता।

महापुराणकार कहते हैं:—

प्रतिदिनमरेन्द्रोपाहतात् भोगसासन् ।

सुरभि-कुसुममला-चित्रभूपाम्बरादीन् ॥

लोहेतसुकुमरैरिगिरजैर्वेष्यस्यैः ।

समसुप्तितरागः सोन्यमूरु पुण्यपाक्षात् ॥२१.१॥

वे भगवान पुण्यकर्म के उदय से प्रतिदिन इन्द्र के द्वारा भेजे हुए मुगम्बित पुरुषों की माला, अनेक प्रकार के वस्त्र तथा आमू-

तीर्थकर

षण आदि अेषु भोगों का अपना अभिप्राय जानने वाले सुन्दर देव-
कुमारों के साथ प्रसन्न होकर अनुभव करते थे ।

अेषु का तार्हय

धीरेन्धीरे भगवान् ने यौवन अवस्था को प्राप्त किया ।
आचार्य कहते हैं—

अथास्य यौवने पूर्णे वपुसरीन्मनोहरम् ।

प्रकृत्यैव शशी काल्तः किं पुनरशरददण्डे ॥१५—२१॥

यौवन अवस्था पूर्ण होने पर भगवान् का शरीर बहुत ही
मनोहर हो गया था । सो ठीक ही है, क्योंकि चन्द्रमा स्वभाव से ही
सुन्दर होता है; यदि शरदऋतु का आगमन हो जावे तो फिर कहना
ही क्या है ?

लदस्य रुच्ये गात्रं परमौदारिकाहृदयम् ।

महाभ्युदय-निःश्रेयसार्थानां भूलकारणम् ॥१५—२२॥

अतएव भगवान् परम औदारिक नाम का शरीर शोभायमान
होता था । उनका वह शरीर महान् अभ्युदययुक्त मोह पुरुषार्थ का
भूल कारण था ।

भगवान् की अनुपम सौन्दर्यपूर्ण छवि को अपनी पुरुष-
कल्पना द्वारा निहारते हुए भूधरदास जी लिखते हैं—

रहो दूर अंतर की महिमा वाहिज गुल कर्णत बल काँपै ।

एक हजार आठ लाढ़न तन तेज कोटि रवि किरण न तापै ।

सुरपति सहस आंख अंजलि सों रूपामृत पीयत नहिं धापै ।

तुम दिन कौन समर्थ वीर जिन जगसों काढ मोक्ष में थापै ।

पंच बालयति तीर्थकर

चौबीस तीर्थकरों में बासुपूज्य, मलिनाथ, नेमिनाथ,
पारसनाथ तथा महावीर भगवान् ये पंच बालयति रूप से विल्यात हैं,
क्योंकि ये बालब्रह्मचारी रहे हैं; शेष उन्नीस तीर्थकरों ने पहले गृहस्था-
शम स्वीकार किया था, परचात् काललिंगि प्राप्त होने पर उन्होंने साधु
पदबी अंगीकार की थी ।

महाराज नाभिराजका निवेदन

महाराज नाभिराज ने भगवान् कृष्णदेव को विवाह योग्य देखकर कहा:—

हिरण्यगर्भस्त्वं धाता जगतां त्वं स्वभूसि ।

निभमात्रं त्वदुत्पत्तौ गिरुमन्या यतो वयम् ॥१५—५॥

हे देव ! आप कर्मभूमिल्लभी जगन् की सृष्टि करने वाले ब्रह्म हैं । आप स्वभू हैं । आप स्वयमेव उत्पन्न हुए हैं । आपकी उत्पत्ति में हम लोग माता, पिता हैं, यह कथन निमित्त मात्र है ।

अथाक्ष्य समुद्भूतौ निमित्तमुदयाच्छः ।

स्वतस्तु भास्त्रानुद्याति तथैवास्मद्भवतन्नपि ॥५६॥

जैसे सूर्य के उदय में उदयाचल निमित्तमात्र है । सूर्य तो स्वयं ही उदित होता है, इसी प्रकार आपकी उत्पत्ति में इस निमित्तमात्र है । आप स्वयं ही उत्पन्न हुए हैं ।

पाणिग्रहण

इसके पश्चात् पिता ने प्रभु के पाणिग्रहण संस्कार का विचार उपस्थित किया । उनसे पिता की बात स्वीकार की । पिता ने वशस्वती तथा सुनन्दा नामकी राजकन्याओं के साथ इनका विवाहोत्सव किया ।

भरत-जन्म

योग्यकाल व्यतीत होने पर वशस्वती महादेवी ने चैत्रकृष्णा नवमी के दिन मीन लग्न, व्रद्धयोग, धन राशि का चन्द्रमा तथा उत्तरापाद नक्षत्र था, उस समय ज्येष्ठ पुत्र भरत को उत्पन्न किया ।

तदास्ना भारतं वर्षमितिहासीच्छासमदम् ।

हिमाद्रेरासमुद्राच्य लेत्रं चक्रमृतमिदम् ॥१५—१५६॥

इतिहास वेत्ताओं का कथन है कि हिमवान् पर्वत से लेकर समुद्र पर्यन्त चक्रवर्तियों का लेत्र भरत के कारण भारतवर्ष नाम से विस्थात हुआ ।

तीर्थकर

भगवान् द्वारा संस्कार कार्य

भगवान् ने अपती संतति को योग्य बनाने में पूर्ण सावधानी रखी थी। भरत के यज्ञोपवीत आदि संस्कार स्वयं भगवान् ने किए थे। जिनसेन स्वामी लिखते हैं—

अद्वितीय-चौलाप्रश्नादीनुक्रमात् ।

क्रियाविदीन् विधानज्ञः स्वल्पैश्चास्य निसृष्टवान् ॥ १६४ ॥

क्रियाकांड के ज्ञाता (विधानज्ञ) भगवान् ने भरत के अन्न प्राशन अर्थात् पहली बार अन्नाहार कराना, चौला (मुँडन), उपनयन (यज्ञोपवीत) आदि संस्कार-क्रिया रूप विधि स्वयं की थी।

प्रथम-शोधन

इस परमागम के कथन को ध्यान में रखकर उन लोगोंको अपनी ओंत धारणा मुवारना चाहिए, जो यह एकान्त मत वना लुके हैं, कि यज्ञोपवीत आदि का जैन संस्कृति में कोई स्वान नहीं है। महापुराण कल्पित उपन्यास नहीं है, जिसमें लेखक ने अपने स्वतन्त्र विचारों के पोंछणार्थ यथेन्द्र मिशण कर दिया हो।

प्रथमानुयोग क्या है?

आज के स्वतन्त्र लेखक अपने विचारों को निर्भय ही आर्थ घन्थों में मिला दिया करते हैं क्योंकि उन्हें जिनेन्द्र चाणी में परिवर्तन करने के सहा पाप का पता नहीं है; ऐसी भूल सत्य महात्रती महामुनि जिनसेन स्वामी सदृश वीतराग साधुराज कभी भी नहीं कर सकते क्योंकि उन्हें कुगति में जाने का ढर था। उनका महापुराण प्रथमानुयोग नामसे शख्यात परमागम में अन्तर्भूत होता है। प्रथमानुयोग में स्वकल्पित गणें नहीं रहतीं। वह सत्य प्रतिपादन से समर्लकृत रहता है। स्वामी समंतभद्र ने प्रथमानुयोग के विषय में लिखा है—

प्रथमानुयोगमर्याद्यत्वं चरितं पुराणमपि पुण्यम् ।

बोधिन्द्रमठि-सिग्रानं, बोधिति बोधः समीचीनः ॥ ४३ ॥

उत्तम द्वान-नीर्धि, समाधि के भण्डार रूप अर्थों का अर्थात्

पुरुषार्थी चतुष्प्रय का प्रतिपादन करने वाले, एक पुरुष को जीवन कथा रूप चरित्र तथा त्रेसठ शलाका पुरुषों की कथा रूप पुराण को, पुण्यदावी प्रथमानुयोग कहता है।

आचार्य प्रभाद्यन्द्र ने 'अर्थात्यान' विशेषण पर प्रकाश डालते हुए लिखा है कि परमार्थी विषय का प्रतिपादन अर्थात्यान है। उसका उल्लेख करने से कलिपत्र प्रतिपादन का निषेध हो जाता है। आचार्य की टीका के बीच शब्द ध्यान देने मीमण्य हैं। "तस्य (प्रथमानुयोगस्य) श्रकलितत्व-ट्यवच्छेदार्थमध्यस्थानमिति विशेषणं, अर्थस्य परमार्थस्य विषयस्याख्यानं प्रतिपादनं यत्र येन वा तं ॥" जिनेन्द्र भगवान् कथित आगम के अर्थ में स्वेच्छानुसार परिवर्तन करने वाले व्यक्ति को तथा उसके कार्य में अर्थादि के द्वारा सदृश्यक बनने वालों को अपने अंधकार मय भविष्य को नहीं सुलाना चाहिए। कम से कम मुमुक्षु वर्ग को विषय लोलुपी बुद्धिमानों के जाल से अपने को बचाना चाहिए। स्वतन्त्र चित्तन के शेत्र में प्रत्येक विज्ञ व्यक्ति को विचार व्यक्त करने के विषय में अधिकार है, किन्तु यत्र वह अन्य रचनाकार के मन्तव्य को बिकृत कर स्वार्थ पोषण करता है तब वह अज्ञान्य अपराध करता है। इसलिये सत्यरूप का कर्तव्य है कि आगम के साथ खिलचाढ़न करे। यत्र भगवान् ऋषभदेव ने सद्य अपने पुत्रों के अङ्गोपवीत आदि संस्कार किए थे तब उनको जैन संस्कृति की वस्तु न मानना अनुचित है।

भरत वन्धु

भरत के पश्चात् उनके निन्यानवे भाई और हुए। वे सभी चरम-शरीरों और बड़े प्रतापी थे। भरत को वहिन का नाम त्राह्णी था। सुनंदा महादेवी से प्रतापी पुत्र वाहुवली तथा सुन्दरी नाम की पुत्री का जन्म हुआ था।

वाहुवली

वाहुवली के नाम की अन्यर्थता पर महापुराणकार इस प्रकार लिखते हैं—

वाहू तस्य मद्वाहोः अशालो वलमूँगतम् ।

यतो वाहूवलीत्यासोत् नमास्य महसो निषेः ॥ ५६—५७ ॥

उन तेजपुंज विशाल बाहू की दोनों मुजाएं उल्काष्ट बल से परिपूर्ण थीं; इसलिए उनका बाहुबली नाम सार्थक था।

भगवान के सभी पुत्र पुण्यवशाली थे। उनकी मुजायें शुटनों तक लम्बी थीं और वे व्यायाम के कारण कठोर थीं। “व्यायाम कर्कशौ बाहू पीनावाजानुलंबिनौ” (धृष्टि) सब राजकुमारों में भरत सुर्य तुल्य, बाहुबली चन्द्र समान, अन्य राजकुमार नक्त्र मंडल सदृश शोभायमान होते थे। ब्राह्मी दीप्ति के समान और सुन्दरी चांदनी के समान प्रतीत होती थी। उनके मध्य भगवान किस प्रकार शोभायमान होते थे इसे महाकवि इस प्रकार व्यक्त करते हैं—

स तैः परिवृतः पुत्रैः भगवान् कृष्णोद्यमौ ।

ज्योतिर्गणैः परित्तिष्ठो यथा मेर्महेदयः ॥ १६—७१ ॥

जिस प्रकार महान उन्नत मेरु पर्वत ज्योतिषी देवों से विरा हुआ शोभायमान होता है, उसी प्रकार वृषभदेव भगवान अपने पुत्रादि से विरे हुए सुशोभित होते थे।

आदिनाथ प्रमुका शिक्षा प्रेम

भगवान ने ब्राह्मी और सुन्दरी को विद्या प्राप्ति के योग्य देखकर कहा :—

इदं वपुर्यश्चे दं इदं शील मनीष्णम् ।

विद्या चेद्विभूते सफलं जन्मवामिदम् ॥ ६७ ॥

पुत्रियो ! तुम दोनों का यह शरीर, यह अवस्था तथा तुम्हारा अपूर्व शील यदि विद्या द्वारा अलंकृत किया जाय, तो तुम दोनों का जन्म सफल हो जायगा।

विद्यावान्पुरुषो लोके सम्मति याति कोविदैः ।

नारी च तद्दती धर्ते स्त्रीसृष्टेशिरिम् पदम् ॥ ६८ ॥

इस लोक में विद्यावान् उरुष विद्वानों द्वारा सम्मान को प्राप्त करता है तथा विद्वावती नारी महिला समाज में प्रमुखता को प्राप्त करती है।

तीर्थकर

तद विद्याग्रहणे यज्ञं पुत्रिके कुस्ते सुवाम् ।

तत्संग्रहणे कादोयं युक्त्योर्बैतेषुजा ॥ १०२ ॥

अतएव हे पुत्रियो, तुम दोनों विद्या प्राप्ति के लिए प्रयत्न करो। तुम दोनों के विद्या ग्रहण करने के योग्य वह काल है।

इयुक्त्या मुहुराशास्य विस्तीर्णे हेषपट्टूके ।

अधिवास्य स्वचित्तस्था श्रुतदेवीं सपर्यया ॥ १०३ ॥

विमुः करद्यथेनाम्यां लिखलक्ष्मरमालिकां ।

उपादिशहिपि संख्यास्थानं चाङ्गैरनुक्रमात् ॥ १०४ ॥

यह कहकर भगवान् ने उन दोनों को अनेक बार आशीर्वाद दिया। उनने अपने अंतःकरण में विद्यमान् श्रुतदेवता की पूजाकर स्थापना की। भगवान् ने अपने एक हाथ से अक्षर मालिका और दूसरे से संख्या रूप अंकों को लिखकर ज्ञान कराया।

भगवान् ने पुत्रियों के समान भरतादि पुत्रों को भी शिक्षा दी। उनने अपने पुत्रों की रुचि तथा योग्यता आदि को लक्ष्य में रख कर भिन्न-भिन्न विषयों की शिक्षा दी थी। उनने भरत को अर्थशास्त्र में निपुण बनाया था (भरतायार्थशास्त्रं च), वृषभसेन को (जो आगे जाकर भगवान् के समक्षरण में मुख्य गणधर पदबी के धारक हुए) गीत वाद्यादि की शिक्षा दी थी। बाहुबली कुमार को आनुवेद, धनुवेद, अश्व गजादि के तंत्र, रक्षपरीक्षा, सामुद्रिक शास्त्र आदि में निपुण बनाया था।

सार की बात

किमत्र बहुनोक्ते न शास्त्रं लोकोपकारि यत् ।

तत्सर्वमादिकर्त्तासौ स्वाः समन्वशुष्ठत ग्रजाः ॥ १२५ ॥

इस सम्बन्ध में अधिक कहने से क्या प्रयोजन है; भगवान् आदिनाथ ने जो-जो लैंक-कल्याणकारी शास्त्र थे, वे सब अपने पुत्रों को सिखाए थे।

भगवान् ने जिस शैली का आश्रय ले अपनी संतति को स्वर्यं शिक्षा दी उसके अनुसार शिक्षा की व्यवस्था कल्याणप्रद

होगी। शिक्षार्थी के नैसर्गिक भुकाव एवं सामर्थ्य का विचार किए बिना सबको एक ही हँग पर शिक्षित करने का प्रयास इष्ट फलप्रद नहीं हो सकता। भगवान् ने लोकोपकारी शास्त्रों की शिक्षा दी थी। जो शास्त्र पाप व वृत्तियों को प्रोत्साहन देने वाले पथ में पुरुषों को पहुँचाते हैं, वे लोकोपकारी न होकर लोकापकारी हो जाती हैं। वर्तमान युग में जीव वध सथा पापाचार के पोषण हेतु जो शिक्षा को व्यवस्था है, वह जिनेन्द्र की विचार पढ़ति के प्रतिकूल है।

भगवान् ने ब्राह्मी और सुन्दरी नामकी कन्याओं की शिक्षा को प्राथमिकता देकर यह भाव दर्शाया है कि पुरुष वर्ग का कर्तव्य है कि वह कन्याओं को ज्ञानवती बनाने में विशेष उत्साह धारण करें।

प्रजाकी प्रार्थना

भगवान् ऋषभदेव के समय में भोग-भूमि की समाति एवं कर्म-भूमि की नवीन व्यवस्था प्रचलित हुई थी। एक दिन प्रजाजन भगवान् के शरण में आकर इस प्रकार निवेदन करने लगे “भगवान् ! अब कल्पयुक्त तो नष्ट हो गए इसलिए हम किस प्रकार दुधादि की वेदना को दूर करें ?” उनसे कहा था :—

यांकृन्त्यो जीविकां देव त्वां दद्य शरणं श्रितः ।
तत्त्वं ल्लायस्य लोकेश तदुपायप्रदर्शनात् ॥ १३६ ॥

हे देव ! हम लोग जीविका प्राप्ति की इच्छा से आपके शरण में आए हैं; अतः हे लोकेश ! जीविका का उपाय बताकर हम लोगों की रक्षा कीजिए।

प्रजापतिने क्या किया ?

इस समय भगवान् के हृदय में दया का भाव उत्पन्न हुआ। वे अपने मन में इस प्रकार विचार करने लगे :—

पूर्णपर-विदेहेषु या स्थितिः समश्रितता ।
सद्य प्रवर्तनीयात्र ततो औकन्त्यम् प्रजः ॥ १३३ ॥